युद्ध या शान्ति

राजनीति के अनेक रंग

युद्ध या शान्ति

राजनीति के अनेक रंग

टी० एन० कौल

भूमिका

भारत की हाल की घटनाओ पर पिछले वर्षो मे कई किताबें लिखी जा चुकी हैं। इस पुस्तक में स्वतंत्रता के बाद के भारत को एक पूर्ण इकाई के रूप मे देखने का प्रयास किया गया है, विशेष कर उसके निकटतम पड़ोसियो और महाशक्तियों के संदर्भ में तथा पीछे नजर डालने की अपेक्षा आगे देखने की ही चेष्टा की गई है। यह पुस्तक कुछ महत्व-पूर्ण घटनाओं को संक्षेप मे दोहराती है। उनकी याद ताजा करती है और उन पर कुछ चिंता प्रकट करती है, इस पुस्तक का उद्देश्य पूर्व आपातकालीन या आपातकाल की अंदरूनी घटनाओं पर राय देना नही है बल्कि ऐसा केवल उसी हद तक किया गया है जहा तक वे भारत की विदेश नीति से संबंध रखती हैं।

स्वतन्त्रता के बाद भारत की विदेश नीति के जो मूल सिद्धात और पड़ाव रहे—गुट निरपेक्षता, 1954 का पचशील समझौता, 1966 की ताशकंद घोषणा, 1971 की भारत-रूस संधि, 1972 का शिमला समझौता और भारत-बंगलादेश संधि तथा 1974 का भारत-अमेरिका समझौता—इन सभी पर विशेष प्रकाश डाला गया है।

यहां दिए गए विचार और तथ्य पूरी तरह मेरे अपने हैं और वे भूतपूर्व या वर्तमान सरकार के विचारों का प्रतिनिधित्व नही करते। मैंने जिन मित्रो और सहकर्मियो से बात-चीत करके बहुत कुछ हासिल किया है उनकी संख्या इतनी बड़ी है कि उनको धन्यवाद देना या उनके नाम उद्धृत करना संभव नही। मैं उन सबका आभारी हू।

मैं अपने बेटे प्रदीप कौल और बेटी प्रीति सहगल तथा मेरे मित्र रशपाल मल्होत्रा का भी आभार स्वीकार करता हूं जिन्होंने मेरी पाडुलिपि को जांच कर उपयोगी सुझाव दिये, हालांकि मैं सब पर अमल न कर सका।

मैंने जानबूझ कर अपनी पांडुलिपि विदेश मन्त्रालय को नही भेजी और न ही उन से कोई सलाह मशवरा किया, क्योंकि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से उनकी स्वीकृति मांग-कर मैं उनके लिए उलझन पैदा नही करना चाहता था। मैं विश्वास करता हू कि राष्ट्रीय हित के लिए अधिक से अधिक खुले विचार विमर्श होने चाहिए, विशेषकर विदेशी मामलों के बारे मे, जो अक्सर रहस्य से ढके जान पडते हैं। अधिक-से-अधिक गोपनीयता और जनसाधारण को कम से कम जानकारी देने का नतीजा एक लोकतत्र मे, नीति की विकृति होता है जिससे शासकवर्ग मे तानाशाही और प्रचार माध्यमों मे उल्टी-सीधी अटकलें लगाने की संभावना पनपती है।

यह पुस्तक मुख्य रूप से मुझ पर पडे प्रभावो और अनुभवो का एक दस्तावेज है जिसकी विभिन्न व्याख्याएं की जा सकती हैं। इसके लिए कोई गोपनीय अधिकारिक दस्तावेज या कागजात जाचे नही गये हैं। यह सर्वेक्षण मेरे निजी संस्मरणो पर आधारित है। मैं अपने को संपूर्ण अथवा हर बात मे सही होने का दावा नही करता, पर मैं विश्वास करता हू कि एक आखो देखा वर्णन, चाहे वह कितना भी आत्मपरक क्यो न हो, सत्य की खोज करने मे किसी हद तक सहायक हो सकता है, क्योकि सत्य बहुमुखी होता है और उसके कई आयाम होते हैं—आत्मपरक और बाह्यपरक, वर्तमान और भविष्य की ओर अभिमुख। सत्य किसी व्यक्ति विशेष या सरकार की विरासत नही है।

मुझे आशा है मेरे मूल्यांकन और निष्कर्ष गंभीर अध्येताओ और जनसाधारण को

प्रेरित तथा उत्साहित करेंगे कि वे इन वर्षों—1947 से 1979 के अभिलेखों और दस्तावेज़ों को गहराई से अध्ययन करेंगे। आज की दुनिया में तेजी से बदलती हुई धाराओं और आधुनिक दुनिया में विकास की गतिशीलता के संदर्भ में हमारी वाह्य और घरेलू नीतियों के घनिष्ठ संबंध और उनकी परस्पर को प्रभावित करने की प्रक्रिया को उजागर करेंगे।

आखिरकार राष्ट्रों का बना रहना केवल उनके आकार या सैनिक शक्ति पर नहीं बल्कि मूलत: उनकी आध्यात्मिक शक्ति और राष्ट्रीय चरित्र पर निर्भर करता है। इतिहास की गहराई को देखते हुए भारत, चीन, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस, और जापान जैसे देश ही विदेशी संस्कृतियों को अपने में समाहित कर सके हैं और अंदरूनी क्रांतियों का मुकाबला करते हुए क्षेत्रीय, सांस्कृतिक और राजनैतिक अस्तित्व बनाये रखने में सफल हुए हैं और भी राष्ट्र हैं, जैसे अमेरिका, लेकिन वे अपेक्षाकृत नये हैं और अभी तक इतिहास की कसौटी पर पूरे नहीं उतरे हैं। एशिया, अफ्रीका, लातीनी, अमेरिका के भी कुछ देश हैं जो कि विकास की सीढ़ियां पार करते हुए जीवित, स्थिर और सहनशील राष्ट्रों के रूप मे उभर रहे हैं और इनमें से कुछेक का भविष्य तो निश्चित ही बहुत उज्ज्वल है।

इतिहास के इन तथ्यों पर सकीर्ण राष्ट्रीयता या किसी वाद विशेष की दृष्टि से नही बल्कि इस बात की ओर संकेत करने के लिए बल दिया जाना चाहिए। कुछ राष्ट्र जन्मगत स्थिर और बलशाली होते हैं और उनमें सहनशीलता का ऐसा गुण होता है कि वे इतिहास के उतार-चढ़ाव का मुकाबला करने में कामयाब होते हैं। कुछ सैनिक और आर्थिक बल अर्जित करते हैं लेकिन उसे खो देते हैं क्योंकि वह दूसरों पर औपनिवेशिक या साम्राज्यवादी शासन स्थापित करने पर आधारित हैं। कुछ और भी हैं विशेषकर; विकासशील दुनिया में, जिनमे बल और स्थिरता प्राप्त करने की क्षमता है और जिनका अस्तित्व उनकी वर्तमान कमजोरियों के बावजूद बना रह सकता है।

यह दुनिया 'एक विश्व' की कल्पना को साकार करने की बजाय आर्थिक, सामरिक और विभिन्न वादों, दृष्टिकोणों, कई टुकड़ों में बंटती जा रही है। ऐसी स्थिति विभिन्न देशों और क्षेत्रों में या उनके बीच टिक नहीं सकती। गांधी और नेहरू ने 'एक विश्व' की ओर संकेत किया था। भारत और अन्य देशों की पुरानी पीढ़ी इस उद्देश्य की ओर बढ़ने में असफल रही। फिर भी आशा है कि विभिन्न देशों—साम्यवादी, पूंजीवादी, गुट निरपेक्ष, विकसित, विकासशील और निर्धन—की युवा पीढ़ी इस दुनिया को बेहतर जीवन जीने के काबिल बना सकेगी।

इसलिए मैं इस प्रयास को गांधी, नेहरू, रवि ठाकुर की याद में अर्पित करता हूं। उन्होंने हमें भारत के स्वतंत्रता संग्राम को विश्व संग्राम के एक हिस्से के रूप में देखने की प्रेरणा दी। इस पुस्तक को मैं भारत तथा अन्य देशों की युवा पीढ़ी को भी समर्पित करना चाहूंगा, जिससे मैं आशा करता हूं कि हम जो कुछ प्राप्त करने में असफल रहे उसे वह हासिल कर दिखायेगी—नेहरू ने ऐसे 'एक विश्व' का रूप हमारे सामने रखा जहां राष्ट्रों और उनके नागरिकों को समान अवसर, समान अधिकार और समान दायित्व प्राप्त होंगे। 'एक विश्व' का मतलब सभी के लिए एक ही सा जीवन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक विविधता से संपन्न जीवन है। जहां एक देश या मानव द्वारा दूसरे देश या मानव का शोषण नहीं होगा; जहां हरेक व्यक्ति सब की भलाई के लिए यथा संभव योगदान करेगा।

—टी० एन० कौल

क्रम

1
गांधी की परम्परा

गांधी ईसा मसीह या अपने किसी बुजुर्ग की याद दिलाते हैं और जैसा कि जान ग्रयर ने कहा था, अधिकांश लोगों के लिए वह शांति और अहिंसा के मसीहा थे—पर उस शांति के नहीं जो कब्रिस्तान की हो और उस अहिंसा के नहीं जो कमजोरों की हो।

गांधी के दर्शन ने भारत की विदेश नीति और विश्व से उसके संबंधों को कहां तक प्रभावित किया ? आज के संदर्भ में गांधी कहां तक प्रासंगिक हैं ?

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिकांश प्रस्तावों की रूपरेखा तैयार करने का दायित्व गांधी ने नेहरू को दिया था, लेकिन उन्होंने नेहरू के मानस को बहुत बारीकी से और गहरे तौर पर प्रभावित किया था। इस बात का सबूत चौरीचौरा की वह घटना है जहां कुछ गांव वालों ने बारह पुलिस वालों को जलाकर मार दिया था और उसके बाद गांधी द्वारा सविनय अवज्ञा आंदोलन को उसके सबसे महत्वपूर्ण दौर में रद्द करने के फैसले को नेहरू ने स्वीकृति दी थी। कभी-कभी नेहरू अपने गुरू के फैसलों पर हैरान रह गये थे, लेकिन बावजूद इसके वह उनकी आज्ञाओं का पालन करते थे, क्योंकि वह भारतीय इतिहास के विस्तृत संदर्भ में गांधी की 'अंतरात्मा की आवाज' को कबूल करते थे। विचारशील नेहरू और संत तथा आध्यात्मिक गांधी के बीच यह एक विचित्र संबंध था जो कि एकतरफा नहीं बल्कि दोतरफा था। जब गांधी को पता चला कि नेहरू और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उनके अन्य सहकर्मी उपमहाद्वीप की अखंडता का बलिदान करके भी स्वतंत्रता चाहते हैं तो उन्होंने उनकी मर्जी के आगे सिर झुका दिया, हालांकि वह उनसे सहमत नहीं थे।

गांधी ने शायद भविष्य की घटनाओं का अंदाजा लगा लिया था और उन्होंने उन सभी को छोड़कर नेहरू को ही अपना 'राजनैतिक उत्तराधिकारी' चुना जो शायद नेहरू की तुलना में अधिक 'गांधीवादी' थे। गांधी ने स्वतंत्र भारत के नेता नेहरू पर अपना नरम और सौम्य प्रभाव डाला। यद्यपि कुछेक विषयों पर दोनों के गंभीर मतभेद रहे, विशेष कर आर्थिक सिद्धांतों में, लेकिन विदेश नीति के प्रति दोनों के नजरिये में बहुत फर्क था। वे शांति की मूल नीति, मानव और राष्ट्रों में समानता; हर उपनिवेश और उनके निवासियों का स्वतंत्रता का अधिकार; जाति, वर्ण, धर्म, लिंग या धन के आधार पर किसी देश या व्यक्ति का अन्य द्वारा शोषण या किसी भी प्रकार के भेदभाव का विरोध इन सभी पर दोनों एकमत थे।

नेहरू ने भारत की विदेश नीति का निर्माण इन्हीं मूल सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए किया। नेहरू के समय भारतीय विदेश नीति के स्तंभ—गुटनिरपेक्षता और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व, अफ्रीका और अन्य जगहों पर रंगभेद नीति, उपनिवेशवाद का विरोध—आदि थे। यही गांधी के विचार थे, जिन्हें भारत और विश्व की स्थिति के अनुसार मूर्त रूप दिया गया। सामान्य और पूर्ण, निरस्त्रीकरण, अंतर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिए बल प्रयोग की धमकी का विरोध—द्वारा गांधीवादी अहिंसा सिद्धांत का विस्तार था।

जब भारत स्वतंत्र हुआ तो विश्व मंच पर उसकी अकेली आवाज सुनाई दी। पर जैसे-जैसे एशिया और अफ्रीका के अन्य देशों को स्वाधीनता मिलती गयी, विदेश नीति और अंतर्राष्ट्रीय आचरण के ये सिद्धांत जोर पकड़ते गये। यहीं से एक विश्वव्यापी गुट-निरपेक्ष आंदोलन की शुरुआत हुई, जो कि क्षेत्रीय, जातीय, भौगोलिक और विश्व राजनीति की सीमाओं को लांघ गया। यह आंदोलन दुनियाभर के विकासशील और नव-स्वाधीन देशों को, उनके अलग अलग सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रणालियों के बावजूद करीब लाया। उससे उन पर शीतयुद्ध का प्रभाव हल्का पड़ा और विश्व में तनाव भी कम हुए।

गांधी का भारत आर्थिक और सामरिक दृष्टि से कमजोर तो था, लेकिन दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जो युद्ध जैसी स्थितियां पैदा हो रही थीं उनको शांत और संयत करने में उसने स्वस्थ भूमिका अदा की। इसका कारण यह था कि नेहरू ने गांधी की ही तरह सही लक्ष्यों को हासिल करने के लिए सही तरीकों के इस्तेमाल पर जोर दिया। सही लक्ष्यों तक पहुंचने के लिए गलत तरीकों का इस्तेमाल न्यायोचित नहीं हो सकता। युद्ध और प्रभुत्व के रहते शांति कायम नहीं हो सकती। शांति और राष्ट्रों में शासन की दृष्टि से बराबरी को भी चुनौती दी गयी। नेहरू ने उसके विरुद्ध आवाज उठायी, जो कि गांधी-वादी दर्शन के अनुरूप था।

किसी भी देश की विदेशनीति को उसके राष्ट्रीय हितों और घरेलू नीतियों से अलग नहीं किया जा सकता और न ही अन्य देशों के जायज हितों और आकांक्षाओं को ही नजरअंदाज किया जा सकता है! राजनय की सफलता इसी में है कि आदर्शों और आत्महितों मे तालमेल बैठाया जाये—तथा अन्य देशों और लोगों के जायज अधिकारों तथा हितों का अपने अधिकारों और हितों के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाये। विदेशी मामलों के क्षेत्र में ऐसे देशों के संपर्क में आना पड़ता है जिनकी नीतियां और स्वार्थ हमसे भिन्न हैं! कोई भी देश चाहे वह आर्थिक या सैनिक दृष्टि से कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, अधिक समय तक अपनी इच्छाओं और नीतियों को दूसरों पर थोप नहीं सकता। लेकिन इन खिचावों और तनावों का सामना करने के लिए अन्य पर निर्भर करना ठीक नहीं। यह गांधी जी का घरेलू मामलों में आत्मनिर्भरता के सिद्धांत का विदेशनीति में विस्तृत रूप है।

आज की दुनिया में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की जरूरत है और कोई भी देश अकेला नहीं जी सकता। लेकिन सहयोग प्रभुत्व पर नहीं बल्कि राष्ट्रों के बीच प्रभुसत्तासंपन्न बराबरी और साझेदारी की भावना पर आधारित होना चाहिए। जितना जल्दी भारत आत्मनिर्भर हो जायेगा, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अपनी भूमिका निभाने में वह उतना ही सक्षम हो जायेगा। जब तक भारत झोली फैलाये अपने से अधिक विकसित देशों से 'सहायता' की मांग करता रहेगा, तब तक अंतर्राष्ट्रीय मामलों में उसकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज के समान होगी।

आज के भारत और आज की दुनिया में गांधी के विचार कितने प्रासंगिक हैं? मानवता को नष्ट करने की धमकी देने वाले ध्वंसात्मक परमाणु की संभावना के कारण आज गांधी के अहिंसा का दर्शन पहले की तुलना में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। लेकिन गांधी की अहिंसा अन्याय को या एक देश पर दूसरे देश के प्रभुत्व को कभी स्वीकार नहीं करेगी। 1929 में जब भगतसिंह और बी० के० दत्त ने केंद्रीय विधानसभा में बम गिराया था तो गांधी ने कहा था, "हिंसा बुरी होती है लेकिन दासता उससे भी बुरी होती है।" गीता के दर्शन का पालन करते हुए उन्होंने अक्तूबर, 1947 में कश्मीर के लोगों को

पाकिस्तानी आक्रमणकारियों से बचाने के लिए भेजी गयी सेना को आशीर्वाद दिया। गाधीवादी विशेषज्ञ चाहे कुछ भी कहते हों और उनके दर्शन की व्याख्या कैसे भी करते हों, गाधी एक व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनके आदर्श ठोस और पेचीदी परिस्थितियो मे भी इस्तेमाल किये जाने लायक थे, जैसा कि उन्होने देश मे ब्रितानी शासन के खिलाफ भारत के सफल अहिंसा आंदोलन के दौरान साबित किया।

गांधी आज जीवित नही है लेकिन वह भारतीय जनसाधारण के दिलोदिमाग पर छाये हुए हैं। उनके आदर्श सदा भारत को प्रेरणा देते रहेगे, लेकिन उनके विचारो को हर ठोस स्थिति मे भारत और विश्व की बदलती हुई परिस्थितियो के संदर्भ मे लागू करना पडेगा। गांधीवाद कोई मताग्रही या सैद्धातिक पथ नही है, जैसा कि कुछ लोगो ने दिखाना चाहा है, बल्कि एक गतिशील दर्शन है, जिसे जटिल और ठोस समस्याओ के लिए काम मे लाया जा सकता है. नेहरू ने वैसा ही उपयोग करने की कोशिश की।

गाधी भारत के लिए जो धरोहर छोड गये हैं उसके कई पहलू और आयाम हैं। इसके अतर्गत व्यक्ति और उसके अपने परिवार से, समाज से, देश से और विश्व से संबंध— सभी कुछ आ जाते हैं! समाज के विभिन्न तत्वों, विभिन्न देशो और आमतौर पर विश्व मे किस तरह के संबध होने और विकसित किये जाने चाहिए, ये सभी कुछ इसमे मिलता है। इसने परम्परा, सस्कृति और धर्म की हजारो वर्ष पुरानी परतो को भेदकर एक ऐसी जागृति को जन्म दिया है जो अभी तक भारत की अंदरूनी और विदेशी नीतियों की जड़ो को मजबूत कर रही है।

जब भारत के पास परमाणु क्षमता नही थी तो उसकी परमाणु तकनीक का इस्तेमाल सिर्फ शातिपूर्ण उद्देश्यो के लिए करने की एकतरफा घोषणा खोखली मालूम दी होगी, या अधिक से अधिक जरूरत से मजबूर होकर की गयी घोषणा जान पड़ी होगी। लेकिन जब भारत ने मई, 1974 मे अपनी परमाणु क्षमता का प्रदर्शन करने के साथ-साथ यह घोषणा की कि वह इस का इस्तेमाल केवल मात्र शातिपूर्ण उद्देश्यो के लिए करने का दृढ़ सकल्प रखता है, तो परमाणु शस्त्र सपन्न देशों मे यह कथन अधिक विश्वसनीय और वजनदार होना चाहिए था, जैसा कि पाकिस्तान को छोडकर लगभग अन्य सभी देशो मे हुआ।

लेकिन कुछ देश इस घोषणा की तारीफ करने और खुद भी इसी प्रकार की घोषणा करने के बजाय भारत पर दबाव डालने लगे कि वह भेदमूलक परमाणु प्रसार विरोध संधि पर हस्ताक्षर करे और ऐसे नियत्रणो को स्वीकृति दे जो वे स्वयं स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे। अगर परमाणु शस्त्र सपन्न देश स्वयं ऐसा करने के लिए तैयार नही हैं तो भारत शातिपूर्ण उद्देश्यों के लिए, भूमिगत विस्फोट सहित, परमाणु तकनीक प्रयोग करने का अपना परम अधिकार गवा कर नियंत्रण स्वीकार क्यो करे? किसी को यह अधिकार नही है कि वह अपने व्यक्तिगत मतों और अपने नये मित्रो को खुश करने की खातिर भारत के वर्तमान या भविष्य के हितो की नीलामी करे। यह गाधीवाद का गलत इस्तेमाल है।

गांधीवाद के विकृत रूप का एक और उदाहरण 'असली' गुटनिरपेक्षता की नयी धारणा है। गुट निरपेक्षता कोई चालू शब्द या केवल मात्र नारा नही है जिस के साथ खिलवाड़ किया जाये। इसका विकास औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी शासन के खिलाफ भारत तथा अन्य देशो के लबे सघर्ष मे से हुआ है, इस का उदय गाधी द्वारा शांति पर बल दिये जाने के कारण हुआ—वह भी ऐसी दुनिया मे जो कि द्वितीय विश्वयुद्ध के अत मे दो विरोधी सैनिक खडो मे बंटा हुआ था। शीत युद्ध, जिसने अब और भी सूक्ष्म और

भयावह तरीके से दुनिया को जकड़ रखा है, के दौरान यह नवस्वाधीन विकासशील देश के लिए और भी अधिक अर्थपूर्ण हो गया। जैसे-जैसे एशिया, अफ्रीका, कैरीबियाई और विश्व के अन्य भागों के देश औपनिवेशिक शासन से मुक्त होते गये। यह एकमात्र ऐसी नीति थी जो कि उन्हें सैनिक, राजनैतिक और सिद्धांतवादी महाशक्तियों के युद्ध के अखाड़े में गर्क होने से बचा सकती थी। नये विकासशील देश मुश्किल से अर्जित अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता को सुरक्षित रखना चाहते थे और उन्हें आर्थिक विकास के लिए शांति की जरूरत थी। इसके लिए सिवाय इसके कोई और चारा न था कि वे सैनिक और राजनैतिक महाशक्तियों के गुटों से स्वयं को अलग रखें।

आज, जबकि उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद, आर्थिक दमन, सैनिक और राजनैतिक हस्तक्षप जैसे नये और अधिक भयंकर रूपों में उभर रहे हैं, विकासशील देशों के लिए गुटनिरपेक्षता और भी अधिक अर्थपूर्ण और जरूरी हो गई है।

गुटनिरपेक्षता और तटस्थता एक नहीं है। तटस्थता एक अचल विचार है जो यह घोषित करता है कि संघर्ष के दौरान एक देश किसी दूसरे का पक्ष नहीं लेता, चाहे भूल किसी भी पक्ष की क्यों न हो। इसके विपरीत, गुटनिरपेक्षता एक देश का यह अधिकार सुरक्षित रखता है कि वह हर मामले को उसके गुणों, उसके निजी राष्ट्रीय हितों और विश्वशांति पर पड़ने वाले प्रभावों के आधार पर परखे। जैसा कि नेहरू ने 1949 में अमेरिकी कांग्रेस को संबोधित करते हुए कहा था—"जब स्वाधीनता को चुनौती दी जायेगी और न्याय को अस्वीकार किया जायेगा तो भारत तटस्थ नहीं रहेगा। गुट-निरपेक्षता का मतलब बीच में टंगा हुआ रहना नहीं। यह एक वास्तविक सचल विश्वास है जिसका इस्तेमाल हर स्थिति के गुणों के आधार पर किया जा सकता है। इस तेजी से बदलती हुई दुनिया में कोई भी मत या दर्शन, नीति या सिद्धांत जड़ या मताग्रही हो जाने पर जीवित नहीं रह सकता—चाहे वह पूंजीवाद हो, साम्यवाद हो या गुटनिरपेक्षता हो।

गुटनिरपेक्षता का सार, किसी भी ओर से दबाव या खिंचाव के बावजूद, हर मुद्दे को उसके गुणों के आधार पर जांचना परखना है। 'असली' शब्द उस में महाशक्तियों से 'बराबरी की दूरी' और 'तटस्थता' का पुट देती है। एक गुटनिरपेक्ष देश अपने हितों को नजर अंदाज करके दो महाशक्तियों से बराबर मित्रता क्यों रखे—जिनमें से एक का उसके प्रति मैत्रीपूर्ण रवैया है और दूसरे का शत्रुता पूर्ण? गुटनिरपेक्षता सबसे दोस्ती में विश्वास रखती है, लेकिन शासकीय बराबरी और आपसी सहयोग के आधार पर हमें किसी देश की ओर दोस्ती का हाथ उतना ही बढ़ाना चाहिए जितना उसे स्वीकार हो, लेकिन यदि वह वैर दिखाता है तो हमें उसके वैर को अप्रभावी बनाने की कोशिश करनी चाहिए और अन्य से अपनी मैत्री कम किये बिना उसकी मित्रता प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। किसी के आगे नाक रगड़ना और जिन्होंने हमारा सदा साथ दिया और अब भी दे रहे हैं उनसे मित्रता करने से घबराना भी हमारे लिए ठीक नहीं!

'असली' गुटनिरपेक्षता का सिद्धांत इस ओर संकेत करता जान पड़ता है कि भारत पहले अमेरिका की तुलना में रूस से अधिक मैत्रीपूर्ण भाव रखता था और नया मतवादी अब उस असंतुलन को सुधारना चाहेगा। वे या तो भोले-भाले हैं या गुटनिरपेक्षता में विश्वास नहीं रखते। जितनी जल्दी वे मोहरा छोड़ देंगे भारत और गुटनिरपेक्ष दुनिया का उतना ही भला होगा। गुटनिरपेक्षता के मापदंड 1961 में बेलग्रेड में तय किये गये थे, जिसकी दोबारा पुष्टि 1964 में काहिरा में और 1970 में लुसाका में की गयी। ये मापदंड क्षेत्रीय, राजनैतिक और भौगोलिक सीमाओं को पार करके विभिन्न राजनैतिक,

सामाजिक और आर्थिक सिद्धांतों वाले देशों को आपस में मिलाते हैं। साम्राज्यवादी गुटनिरपेक्षता मे विश्वास रखने वालों को विभक्त करने पर तुले हुए हैं। 'असली' गुट-निरपेक्षता पर अमल करने वालों को इनके जाल मे नहीं फंसना चाहिए।

भारत-रूस मैत्री समय की कसौटी पर सफल रही है। 1971 की भारत-रूस संधि की चौथी धारा मे भारत की गुटनिरपेक्ष नीति के प्रति सम्मान दिखाया गया है। अन्य जो भी ऐसा करने के इच्छुक हैं उन्हें हमारे साथ इसी प्रकार के समझौते करने चाहिए। वे ऐसा करने मे कतराते क्यों हैं? हम अपने मूल विश्वासों से दूर क्यों हो जायें और उन्हें खुश करने के लिए अपने हितों को संकट मे क्यो डालें? गांधी के अहिंसा के समान ही गुटनिरपेक्षता आदि विचार कमजोरी से उत्पन्न विचार नही हैं, पर जीवित रहने के लिए नैतिक बल, दृढ़ विश्वास और आवश्यकता मात्र हैं। हमें गाधी और नेहरू की धरोहर को ज्यों-का-त्यों बना रहने देना चाहिए तथा दूसरों को खुश करने या अपने को धोखा देने के लिए उसकी गलत ढंग से व्याख्या करके उसमे मिलावट नही आने देनी चाहिए। समय की कसौटी पर खरे उतरने वाले गुटनिरपेक्षता जैसे सिद्धांत को अस्थायी राजनीतिक लाभ उठाने के लिए कमजोर नही बना देना चाहिए। गाधी और नेहरू ऐसा कभी नही करते थे।

हमे देखना यह है कि गाधी का दर्शन और नेहरू की नीतिया आज की दुनिया के संदर्भ मे भारत के लिए कितना मायने रखती हैं, कैसे और कहा तक आज का भारत उन्हे लागू कर पाता है?

क्या भारत चीन के साथ अपना सीमा-विवाद शांतिपूर्ण तरीके से सुलझा सकता है? क्या भारत, पाकिस्तान और बंगला देश के लिए यह संभव होगा कि वे मैत्री और सहयोग की नीति अपनाएं और उसे संपूर्ण दक्षिण एशिया तक फैला दें, जिससे एक शांतिपूर्ण क्षेत्र स्थापित हो जाए और दक्षिण पूर्व तथा दक्षिण पश्चिम एशिया के बीच आपसी समझौते का एक सेतु तैयार हो जाये? क्या भारत के लिए रूस से उसकी मैत्री अमेरिका या चीन या दोनो के साथ सद्भावना बढाने मे आडे आ रही है? उस दुनिया मे गुटनिरपेक्षता का मतलब ही क्या रह जाता है जो राजनैतिक, सैद्धांतिक, आर्थिक, सामाजिक, क्षेत्रीय और सैनिक आधार पर वैरपूर्ण खंडों मे बटा हुआ है? शाति और निशस्त्रीकरण, तनाव से मुक्ति और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का भविष्य क्या है? क्या हम महाशक्तियो के प्रभाव मे 'एक विश्व' के सिद्धात से 'बहु विश्व' के सिद्धात मे पहुंच रहे हैं? आज की गतिशील और तेजी से बदलती हुई दुनिया मे भारत की क्या भूमिका हो सकती है? उपमहाद्वीपीय, उपक्षेत्रीय, क्षेत्रीय, अन्त र-क्षेत्रीय और सार्वभौमिक दृष्टियों से भारत की नीति के कौन से विभिन्न रूप हैं?

यही कुछ प्रश्न हैं जिन पर निकटतम पडोसियो और महाशक्तियों के साथ हमारे बढते संबंधो के संदर्भ मे तथा स्वतत्रता के बाद इस क्षेत्र मे हमारे अनुभवो को आधार मानकर, अगले अध्यायो मे सक्षेप मे विचार किया जायेगा।

2
स्तालिन का रूस

जुलाई, 1947 में दिल्ली जहां आशा और उत्साह की नगरी बनी हुई थी, वहीं आसन्न उथल-पुथल की आशंका भी बनी हुई थी। 14 अगस्त को देश विभाजन की वास्तविकता को उपमहाद्वीप के बंटवारे के रूप में, कानूनी मान्यता मिलने वाली थी। सांप्रदायिक खून खराबा और शरणार्थियों का आना-जाना शुरू हो गया था। भविष्य के बारे में अनिश्चितता बनी हुई थी। गांधी के प्रयत्नों से कुछ हद तक तनाव कम तो हुआ था लेकिन कुछ ही समय के लिए। इससे भी बुरे दिन तो अभी आने थे।

इस दौरान नेहरू ने अमेरिका, रूस और ब्रिटेन के साथ राजनयिक संबंध स्थापित करने का फैसला किया। कृष्ण मेनन ब्रिटेन के उच्चायुक्त बने। अमेरिका के राजदूत के रूप में आसफ अली की नियुक्ति हुई और विजयलक्ष्मी पंडित को मास्को के लिए चुना गया। इससे पता चलता है कि नेहरू उस समय इन तीनों देशों को कितना महत्त्व देते थे।

मैंने मास्को जाने के लिए अपनी सेवाएं पेश कीं। मुझे प्रथम सचिव चुना गया और मैं वहां भारतीय दूतावास स्थापित करने के लिए 15 जुलाई, 1947 को एक छोटे से दल के साथ मास्को के लिए रवाना हो गया।

लंदन में कृष्ण मेनन ने वहां के रूसी राजदूत से मेरी जान-पहचान करवायी और मुझे सावधान किया कि कहीं उन्हें मैं यह न बता दूं कि नेहरू से मेरी रिश्तेदारी है। मैंने आपत्ति की कि मेरी नेहरू से कोई रिश्तेदारी नहीं है (गैरकश्मीरी सोचते थे और हैरत की बात है कि बहुत से अब तक भी सोचते हैं···कि सारे कश्मीरी किसी-न-किसी रूप में नेहरू से संबंधित हैं)। हम हवाई जहाज द्वारा लंदन से बर्लिन गये और वहां भारतीय सैनिक मिशन में रात बितायी।

हम पश्चिम बर्लिन से मास्को रूसी डकोटा विमान में गये। वहां हवाई अड्डे पर रूसी आतिथ्य विभाग के प्रतिनिधि और ब्रितानी राजदूतावास के प्रथम सचिव ने हमारा स्वागत किया। नेहरू ने मुझे चेतावनी दी थी कि वहां जाकर कुछ ऐसा आभास न दूं जिससे ऐसा लगे कि हम अब भी ब्रिटेन के पिछलग्गू ही हैं। मैंने ब्रितानी प्रथम सचिव के प्रति शिष्टता दिखाते हुए उन्हें धन्यवाद दिया कि वह हमसे भेंट करने आये, लेकिन मैंने उनके रात के खाने का निमंत्रण अस्वीकार कर दिया।

युद्ध के दौरान अन्य देशों की तुलना में रूस ने बहुत ज्यादा नुकसान उठाया। उसके दो करोड़ लोग मारे गये थे। लगभग हर परिवार से एक व्यक्ति तो युद्ध का शिकार हुआ ही था। मास्को के आसपास युद्ध के अवशेष उस समय भी मौजूद थे। मैंने रूसियों के साहस और सहनशक्ति की सराहना की जो मौत और भुखमरी का सामना करते हुए भी युद्ध जीतने के अपने लक्ष्य के प्रति अडिग रहे। लेनिनग्राद की 900 दिन लंबी घेराबंदी प्रेरणादायक उदाहरण है।

मास्को में जिंदगी सीधी-सादी थी। ताजे फल और सब्जियां बहुत कम मिलते थे और कभी-कभी जब उन्हें विमान द्वारा जार्जिया से लाया जाता था तो उनकी कीमत बेहद

वढ़ जाती थी। मांस, मक्खन, चीनी, ऊनी कपड़े, चमड़े का सामान बहुत महंगे मिलते थे, जो कि एक औसत रूसी की पहुंच से बाहर थे। राजनयिक अपने लिए आवश्यक सामान हेलसिंकी या स्टाकहोम से मंगवाते थे लेकिन औसत रूसी के लिए खर्च चलाना कठिन हो गया था। उनके नियमित आहार में काली डबलरोटी, आलू, प्याज, और गाजर शामिल थे और हफ्ते में एकाध बार मांस के कुछ टुकड़े उन्हें मिल जाते थे। लेकिन इसके बावजूद वे, विशेषकर स्त्रियां, मजबूत और अच्छी बनावट के थे। वे कठिन से कठिन मेहनत का काम, जैसे रास्ते पर से बर्फ हटाने का काम आदि करते हुए दिखायी पड़ते थे।

वहां के बच्चे आनंदप्रद दृश्य प्रस्तुत करते थे, जिनकी सही ढंग से परवरिश होती थी। गरम कपड़ों में लिपटे, गद्दीदार लकड़ी के फट्टों से बंधे हुए माताओं द्वारा उठाकर ले जाए जाते हुए प्रसन्न और शांत नजर आते थे, जो कि रूसियों के संयमी स्वभाव का प्रतीक है। सब से बढ़िया दूध बच्चों को दिया जाता था और कामकाजी माताओं के छोटे बच्चों के लिए शिशुगृहों और नर्सरी की व्यवस्था थी।

यही वह रूस था जहां नेहरू की बहन विजयलक्ष्मी पंडित भारत की प्रथम राजदूत बनकर आयी। वह रूसी नेताओं को प्रभावित करने की उच्चाकांक्षा लेकर आयी लेकिन जल्दी ही उन्हें पता चल गया कि यह कोई सहज काम नहीं है। उस समय रूस पर स्तालिन का कड़ा शासन चल रहा था; विशेषकर राजनयिक और सामान्यतः विदेशियों को संदेह की नजर से देखा जाता था कि कहीं वे जासूसी करने तो नहीं आये। अधिकारियों और राष्ट्रीय दिवस समारोहों आदि में भाग लेने की अनुमति प्राप्त कुछ गिने-चुने व्यक्तियों को छोड़कर अन्य किसी भी रूसी नागरिक से संपर्क स्थापित करना लगभग असंभव ही था। राजनयिकों सहित हर विदेशी के लिए मास्को से 25 मील के बाहर जाने-आने की मनाही थी। वहरहाल, यास्नोपोलियाना में टालस्टाय की समाधि और लेनिनग्राद के दर्शन करने की इजाजत दे दी जाती थी।

जीवन सहज न था। गृहस्थी चलाने की छोटी-छोटी समस्याएं बहुत समय ले लेती थीं। परिचारिकाओं और मोटर-चालकों की नियुक्ति भी स्वयं नहीं की जा सकती थी। *यह काम 'बुरोबिन' नामक संस्था द्वारा किया जाता था, जिस पर विदेशियों के लिए* सेवक जुटाने की जिम्मेदारी थी। घर की मरम्मत, नलों और बिजली के काम तथा पेट्रोल आदि रोजमर्रा की उलझनें पैदा करते थे।

सबसे आश्चर्यजनक बात यह थी कि गांधी की हत्या के बाद रूसी सरकार ने शोक संदेश भी नहीं भेजा था। उन्होंने राजदूतावास में शोक पुस्तिका पर हस्ताक्षर करने के लिए किसी को भेजने की भी परवाह नहीं की। मैंने रूसी विदेश कार्यालय के दक्षिण एशिया विभाग में जाकर उनके प्रमुख को अनौपचारिक तौर पर बताया कि यह एक भयंकर भूल हो गयी है और इससे भारत पर बुरा असर पड़ेगा। लेकिन उन्होंने लापरवाही से जवाब दिया: "गांधी कहते थे कि रूस उनके लिए एक पहेली है। वह भी हमारे लिए एक पहेली हैं।" मुझे जैसे एक धक्का-सा लगा और मैं अपनी भावनाओं को स्पष्ट करके वहां से चला आया। अगले दिन मुझे पता चला कि दुर्घटना के तीन दिन बाद, दिल्ली के रूसी राजदूत शोक व्यक्त करने गये।

इस घटना ने स्तालिन की रूसी प्रणाली में कार्यकुशलता और बुद्धिमत्ता के प्रति मेरे विश्वास को झकझोर दिया। वे भारत की वास्तविकताओं से कटे हुए थे और अपनी मताग्र दृष्टि से भारत को देखते थे। उनके लिए भारत अब भी स्वाधीन नहीं था, ब्रिटेन का एक हिस्सा मात्र था।

रूसी प्रेस खुलेआम भारत की आलोचना करता था और उसके प्रति अपनी

नफरत का इज़हार करता था, वहां भारत को ब्रितानी साम्राज्यवाद का पिछलगू और उसके पीछे भागने वाला कुत्ता कहा जाता था। गांधी और नेहरू का वर्णन बुर्जुआ सुधारवादी के रूप में किया जाता था, जो कि साम्यवादी शब्दावली में घृणित शब्द माने जाते हैं। एक बार तो विशिस्की ने अपने हिंदी दुभाषिया की मार्फत विजयलक्ष्मी से यहां तक कह दिया था कि "पराधीनता का बोझ धीरे-धीरे ही उतरता है।"

श्रीमती पंडित को निराशा ने घेर लिया। वह भारत-रूस संबंध को मजबूत आधार प्रदान करने के लिए सद्भावनाओं के साथ यहां आयी थीं लेकिन रूसी पक्ष में उन्हें इस दिशा में कोई उत्साह देखने को नहीं मिला। उन्होंने अपनी भावनाओं को छिपाने की कोशिश नहीं की और इस कटु अनुभव के बारे में उन्होंने उन पश्चिमी संवाददाताओं को खुलेआम बताया जो पखवाड़े में एक दिन उनसे मिला करते थे। उनके लिए यह स्थिति बहुत कष्टदायक थी। हर सुबह उनका मिजाज़ ठीक नहीं रहता था। एक दिन उन्हें मुस्कराते देख मैंने हिम्मत बटोर कर उनसे पूछा—"आज आपकी तबियत तो ठीक है?" उन्होंने जवाब दिया, "हां, लेकिन आप ऐसा क्यों पूछ रहे हैं?" मैंने जवाब दिया, "क्योंकि आज सुबह से आपने किसी को डांटा फटकारा नहीं है।" उन्हें मजाक की अच्छी समझ थी और अपने ऊपर हंसना भी जानती थीं।

हम पीटर की नगरी और अक्तूबर की समाजवादी महाक्रांति के पोषक लेनिनग्राद के दर्शन करने में सफल हुए, मास्को की तुलना में वह बहुत सुंदर लगा। वहां लोग अधिक खुलकर बातचीत करते थे। वहां का दृश्य मास्को की तरह उबाने वाला नहीं था। वास्तुशिल्प अति सुंदर था। 'हर्मिटेज' अपने आपमें कला की एक दुनिया थी। मोंकवा से विपरीत नेवा नदी जल विस्तार का दृश्य प्रस्तुत करती थी और सूर्योदय और सूर्यास्त के दौरान उसका दर्शन अतुलनीय था। ग्रीष्म महल, शीत महल, नौअधिकरण दर्शनीय खजाने थे।

मास्को का भी अपना आकर्षण है, लेनिनग्राद पूरी तरह से यूरोपीय था, मास्को पूरी तरह रूसी था, जहां कला और वास्तुशिल्प यूरोपीय, बाइजंतीन, तातारी, इस्लामी तथा तुर्की प्रभावों के मिश्रण थे। वह रूसी समाज के एक हिस्से का प्रतिनिधित्व करता था और यहां उजबेकिस्तान, तादजिक, अज़रबैजान, बायलोरूस, उक्रेन, जार्जिया, आर्मिनिया तथा अन्य स्थानों के निवासी दिखायी पड़ते थे। मास्को में बालशोई और मास्को आर्ट थियेटर, पेपट (कठपुतली) थियेटर तथा जिप्सी (बनजारा) थिएटर यहां तक कि एक यहूदी थियेटर जैसे नाट्यदल थे। वहां अनगिनत कला-दीर्घाएं और संग्रहालय भी थे। हमने अधिक-से-अधिक देखने की कोशिश की लेकिन कुछ समय बाद वे नीरस लगने लगे।

कुछ ही समय बाद 1948 में ज़्हदानोव के आदेशों का बड़ी सख्ती से पालन किया जाने लगा। यहूदियों को संदेह की नजर से देखा जाने लगा और उन्हें 'बेजरोदनी कोस्मोपोलित' (आधारहीन सर्वदेशीय) की संज्ञा दी जाने लगी। सभी विदेशियों को, यहां तक कि साम्यवादी देशों के निवासियों तक को जासूस समझा जाने लगा। अब तक रूसी नागरिकों के साथ जितना भी थोड़ा बहुत संपर्क था उसे एक झटके में खत्म कर दिया गया। यहां तक कि कट्टर साम्यवादी और रूस की मित्र समझी जाने वाली अमेरिका की एना लुइस स्ट्रांग को भी जासूसी करने के संदेह में जेल में डाल दिया गया।

एक दिन एक औपचारिक प्रीतिभोज के दौरान मैंने एक वरिष्ठ रूसी अधिकारी से पूछा कि वे हर विदेशी को—चाहे वह मित्र हो या शत्रु—एक जैसी संदेह की दृष्टि से क्यों देखते हैं? उन्होंने बिना किसी संकोच के, सच्चाई और गंभीरता के साथ मुझे यह

बताया, "दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान, बहुतों ने स्वयं को मित्र बताकर हमें धोखे में रखा और बाद में वे हमारे शत्रु निकले। हम किसी तरह का जोखिम उठाना नही चाहते। हमें सौ मित्र गंवाना मंजूर है लेकिन उनमें एक भी शत्रु निकल आये, यह मंजूर नहीं।"

सब जगह हमारा पीछा किया जाता था। दूरभाष पर हमारी बातचीत सुनी जाती थी। रूसी कर्मचारियों से पूछताछ की जाती थी और हमारी अनुपस्थिति में हमारी चीजों की तलाशी ली जाती थी। एकातता की कोई गुंजाइश नही थी। लोग गंभीर मुद्रा में, चुपचाप सिर झुकाकर अपने काम में लगे रहते थे। यदि कभी कोई शराबी सड़क या बगीचे में पड़ा मिलता तो लोग तब तक उसकी सहायता करने से घबराते थे, जब तक सैनिक आकर उसे जेल में बन्द न कर देते, अन्यथा वह वहीं बर्फ में जमकर मर जाता।

1947 का मास्को एक डरावना नगर था, जहां आतंक और अविश्वास का वातावरण था और जहां मानव के अधिकार और मान मर्यादा उपेक्षित थे। भाषायी और सांस्कृतिक समस्याओं को सुलझाने तथा फासीवाद और नात्सीवाद के खिलाफ जेहाद छेड़ने के लिए रूसी लोगों को एकजुट करने में यद्यपि स्तालिन की भूमिका सराहनीय मानी जानी चाहिए लेकिन उन्होंने व्यक्ति के मौलिक अधिकारों की ओर न तो कभी ध्यान ही दिया और न ही उनके प्रति कोई सम्मान दिखाया। अमूमन लेखकों, कलाकारों, शिक्षकों तथा बुद्धिजीवियों के साथ मशीन के दंतीले पहिये का सा बर्ताव किया जाता था, जो सबको निर्दयता से कुचल देती है। साधारण लोगों की हालत तो और भी खराब थी क्योंकि उनकी बुनियादी जरूरतें तक पूरी नहीं होती थीं। साधारण व्यक्तियों के लिए सस्ते मकानों की बजाय बड़ी-बड़ी ऊंची इमारतें बनाने पर जोर दिया जाता था जो कि स्तालिन की महत्वाकांक्षी योजनाओं के अंश थे। जो भी खुलेआम सरकार की आलोचना करने या उससे अपना मतभेद प्रकट करने की हिम्मत करता था, उसे या तो चुपचाप मौत के घाट उतार दिया जाता था, या उचित मुकदमा चलाये बगैर उसे सजा दी जाती थी, या आजीवन साईबेरिया में निर्वासित करके उसका अस्तित्व ही मिटा दिया जाता था। जो जीवित रह जाते थे वे मानसिक या शारीरिक रोगों के शिकार हो जाते थे।

विदेशी मामलों में भारत जैसे नवस्वतंत्र देशों के लिए कोई लिहाज नहीं किया जाता था। हमें ब्रिटेन के साथ जोड़कर देखा जाता था जैसे हमें आजादी मिली ही न थी। उनके इस दावे के बावजूद कि वे एशिया का अंग हैं रूसी नेता एशिया को समझते न थे। संदेह का वातावरण, घुटन, वैरपूर्ण रवैया और अलगाव ये कुछ बातें असह्य जान पड़ती थीं। राजनयिकों को एक दूसरे पर निर्भर रहना पड़ता था और जनता के साथ उनका कोई संपर्क ही नहीं था। लोग विदेशियों से मिलने और आपस में खुलकर बातचीत करने में घबराते थे। चारों तरफ आतंक का वातावरण था। स्तालिन को अपनी गोली तक से अप्रभावित खिड़कियों वाली काली गाड़ी में गुजरते देख सैनिक तक सहम जाते थे।

1947 से 1949 के बीच भारत-रूस संबंध बहुत सहज नहीं थे। इसका कारण हमारी ओर से इच्छा या पहल का अभाव नहीं था, बल्कि इसके लिए अन्य कारण—विशेष कर रूसी नेताओं द्वारा भारत की सही पहचान न होना, उनका यूरोप और अमेरिका के साथ उलझे रहना, भारत को कोई अहमियत न देना और दूसरे विश्वयुद्ध के बाद उनकी निजी समस्याओं के अंबार, जिम्मेदार थे। वे शायद आशा कर रहे थे कि चीन उनके घेरे में आ जायेगा और भारत भी उसका अनुसरण करेगा। "मास्को से कलकत्ते का रास्ता पीकिंग से होकर गुजरता है"—उस समय की कहावत थी, रूस के युद्धोपरांत के इतिहास में यह कट्टर स्तालिनवाद का जमाना था। शीतयुद्ध अपने चरम पर था। हम 1949 में स्वदेश लौटकर खुश हुए, जहां हमने गुटनिरपेक्ष भारत की मुक्त हवा में सांस ली।

3
ट्रूमैन का अमेरिका

राष्ट्रपति ट्रूमैन एक सीधे-साधे व्यक्ति थे, जिनकी सामान्य बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी और वह अपने से पहले या बाद के किसी भी अमेरिकी राष्ट्रपति की तुलना में एक औसत अमेरिकी से अधिक मेल खाते थे। फोर्ड शायद उनके सबसे करीब थे, जिन्होंने व्हाइट हाउस (अमेरिकी राष्ट्रपति का निवास स्थान) में लिंकन की तस्वीर के साथ ट्रूमैन की तस्वीर भी टांग रखी थी। ट्रूमैन दिमाग के तेज और महत्त्वाकांक्षी नहीं थे और जनसाधारण से खुलकर मेल-जोल रखते थे। वह मानवीय और पितृवत् थे। उनमें राष्ट्रपति होने का दंभ नहीं था। राष्ट्रपति होते हुए भी कभी-कभी वे सुरक्षा व्यवस्था की तामझाम के बिना ही व्हाइट हाउस के आस-पास घूमा करते थे। मुझे याद है कि नेहरू ने उनके सम्मान में जब दावत का आयोजन किया तो वह हमारे दूतावास के स्वागत कक्ष में एक कोने में खड़े हुए थे। नेहरू का ध्यान उन पर गया और उन्होंने मुझे जाकर उनसे बातचीत करने का आदेश दिया, क्योंकि वह और श्रीमती पंडित मेहमानों का स्वागत करने में व्यस्त थे।

ट्रूमैन फौलादी संकल्प रखते थे और आवश्यकता पड़ने पर वह सख्ती भी दिखा सकते थे। जनरल डगलस मैकआर्थर की बर्खास्तगी इसका एक उदाहरण है। उन जैसे लोकप्रिय युद्ध नायक को हटाने के लिए साहस की जरूरत थी। लेकिन ट्रूमैन राष्ट्रपति के आदेशों की अवहेलना बर्दाश्त नहीं कर सके।

विजयलक्ष्मी पंडित को 1949 में अमेरिका में भारतीय राजदूत नियुक्त किया गया। वहां उनका व्यक्तित्व अपने पूरे निखार पर था—मेहमाननवाजी में उनका जवाब न था। दयामयी, लोकप्रिय, कर्णप्रिय वक्तृत्व शक्ति वाली इस स्त्री की अतिथि वक्ता के रूप में बड़ी मांग थी। जरूरत पड़ने पर वह कड़ी बात कहने से भी न चूकती थीं। जैसे शिकागो गोलमेज सम्मेलन के दौरान जब उनसे पूछा गया, "राष्ट्रपति ट्रूमैन के चार सूत्रीय कार्यक्रम के बारे में आप के क्या विचार हैं?", तो उन्होंने जवाब दिया, "वह निहायत ही बेतुका है।" अगले दिन गृहविभाग ने जब मुझसे पूछा कि उनका मतलब क्या था, तो मैंने जवाब दिया कि वह कांग्रेस से अमेरिकी प्रशासन की सिफारिश मात्र कर रही थीं, ताकि विकासशील देशों को प्रभावित करने के लिए उसको अधिक धन दिया जाये। आखिर 40 लाख डालर राशि एक दर्जन से भी अधिक देशों में बांटने से क्या होता है?" वे कुछ विश्वास और कुछ संदेह के अंदाज में मुस्करा कर चुप हो गये। जब मैंने श्रीमती पंडित को यह बात बतायी तो उन्होंने कहा, "शाबाश, आप बहुत जल्द राजदूत बन जाएंगे।" वह मजाकिया तबियत की थीं और अपने कनिष्ठ सहयोगियों पर निर्भर करती थीं, यहां तक कि वह उनसे यह उम्मीद करती थीं कि अगर वह कोई उलझन पैदा करें तो वे उसे सुलझा लेंगे।

एक दिन न्यूयार्क में मैंने उनसे पूछा, "क्या आप सार्वजनिक तौर पर जो कुछ कहती हैं उसमें विश्वास भी करती हैं?" मेरी ओर सीधे देखते हुए उन्होंने कहा, "यदि आप मेरे साथ बनाकर रखना चाहते हैं तो मैं दूसरों से जो कुछ कहती हूं उसका 90 प्रतिशत नजरअंदाज करना होगा।"

कभी-कभी श्रीमती पंडित दो-चार लोगों को दोपहर के भोजन पर बुला लेती थी। 1950 के आरंभ मे ऐसे ही एक मौके पर मैं भी मौजूद था, जहां जान फास्टर डलेस अकेले मेहमान थे। मुझे अभी तक याद है कि किस तरह वह कुछ अजीब-सा महसूस कर रहे थे और खाने के दौरान अपने नैपकिन को दो छोरों से खींचते रहे थे। वह श्रीमती पंडित को यह विश्वास न दिला सके कि गुटनिरपेक्षता एक गलत नीति है। वह साम्यवादी चीन और रूस के खिलाफ विषवमन करते रहे और अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद के खतरों की ओर संकेत करते रहे। वह चाहते थे कि कोरिया के मुद्दे पर तथा चीन और रूस के साथ उसके सैद्धांतिक मतभेदों मे भारत अमेरिका का पक्ष ले। श्रीमती पंडित मधुर मुस्कान बिखेरती रही। उन्होंने धैर्य के साथ उन्हें सुना, लेकिन अपनी ओर से कोई आश्वासन नही दिया और कहा कि वह प्रधानमंत्री तक यह बात पहुचा देंगी। उस दिन की बातचीत लगभग एकतरफा ही थी और डलेस उस संचालित व्यक्ति की तरह बोलते गये जिनका अपने शब्दो मे अटूट विश्वास है और जो दूसरो को गलत मानते है। इस भोज के बाद दोबारा ऐसा मौका कभी नही आया।

डीन एचेसन, कुछ मायनो मे डलेस से बिल्कुल विपरीत थे। वह अपनी वेशभूषा, बर्ताव और हाव-भाव से अमेरिकी कम और ब्रितानी ज्यादा लगते थे। अति सावधानी से तराशी हुई मूछें, सिर पर काली टोपी और हाथ मे छतरी—इन सब के साथ वह ब्रितानी विदेश सचिव जैसे दीखते थे। वह सौम्य, परिमार्जित और शिष्ट थे। गृहविभाग मे एक बार श्रीमती पंडित के उकसाने पर भी उन्होंने अपने मिजाज पर काबू रखा और सिर्फ इतना कहा, "राजदूत महोदया, मैं ऐसा नही समझता, शायद वक्त ही बतायेगा।" एचेसन ही एक सेतु के समान थे जो अमेरिकी सुरक्षा की दृष्टि से पूरे दक्षिण-पूर्व एशिया, जापान, और ताइवान को अपनी परिधि मे रखे हुए थे। चीन, रूस और अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रति उनका दृष्टिकोण उतना ही कठोर था, जितना डलेस का था।

सितंबर, 1949 की बात है। एक दिन, अचानक ही रूस द्वारा सफल परमाणु विस्फोट की खबर आयी। यह सारे विश्व को झकझोरने वाली घटना थी, क्योंकि उससे परमाणु शक्ति पर अमेरिका का एकछत्र अधिकार खंडित हो गया। परमाणु युद्ध से बचने के लिए अमेरिका रूस से समझौता कर लेता। अमेरिका मे निराशा दिखायी पड़ती थी और लोगो के मन मे परमाणु युद्ध का भय समाया हुआ था। शहरो से गावो मे जाकर बसने की चर्चाएं बड़े पैमाने पर हो रही थी और शहरी संपत्ति के भाव तेजी से गिरने लगे थे। दोनों महाशक्तियो (परमाणु विस्फोटो के बाद उनके लिए यह उचित विशेषण था) पर निशस्त्रीकरण के लिए दबाव पड़ने की बजाय इससे परमाणु शस्त्रों की होड और युद्धो की शुरुआत हुई, जहां महाशक्तियां तो गैरहाजिर थी लेकिन वे, अन्य राष्ट्रो के इलाकों में अपने पारंपरिक शस्त्रों का जोर आजमाते रहे।

यही समय था जब नेहरू ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय देते हुए ट्रूमैन, स्तालिन और एटली को एक साथ संदेश भेजा, जिसमे उन्होंने युद्ध की आशंका को दूर करने की प्रार्थना की। उस समय मै वाशिंगटन में प्रथम सचिव मात्र था। लेकिन श्रीमती पंडित को मुझ पर भरोसा था और उन्होंने मुझे प्रधानमंत्री के संदेश की सूचना दी। मैं उनके विश्वास को सम्मान देता था, लेकिन अमेरिका मे कोई बात गुप्त रखना आसान न था। अगले दिन वाशिंगटन डी० सी० स्थित न्यूयार्क टाइम्स ब्यूरो के अध्यक्ष जेम्स रेस्टन दूतावास मे मुझ से मिलने आये और सीधे मुझसे पूछ बैठे कि मैं इस बात की पुष्टि करता हूं या खंडन कि हमारे प्रधानमंत्री ने ट्रूमैन, स्तालिन और एटली को एक संदेश भेजा है। मैंने कहा कि उनका मुझ से यह पूछना उचित नही है—वह गृहविभाग मे क्यों

नहीं पूछते ? इस पर उन्होंने मुझे लिखित संदेश की एक प्रति दिखायी। पर वह उन्हें कहां से मिली यह बताने से उन्होंने इनकार कर दिया और पूछा, "अब आप पुष्टि करेंगे या खंडन ?" मैंने उनसे थोड़ी देर रुकने को कहा। मैं सीधा श्रीमती पंडित के कमरे में पहुंचा और उन्हें स्थिति से अवगत कराया। उन्होंने कहा, "अपनी समझ से काम लीजिये—यदि आप इस व्यक्ति को भरोसेमंद समझते हैं तो उन्हें चुपचाप बता दीजिये, अन्यथा कह दीजिये कि मैं इस बारे में कोई टिप्पणी नहीं करना चाहता।" मैंने अपने कमरे में वापस आकर रेस्टन से पूछा, "यदि मैं इस बात का जवाब दे दूं तो क्या आप इस खबर का स्रोत किसी को न बताने का वायदा करेंगे ?" वह राजी हो गये और मैंने संदेश के सही होने की पुष्टि की। इसका खंडन करने या 'मैं कोई टिप्पणी नहीं करता' कहने से कोई लाभ न होता, क्योंकि रेस्टन के हाथ उसकी प्रति आ ही गयी थी और जल्दी ही वह इसका पता कर सकते थे। उन्होंने मेरे विश्वास का आदर किया और भारतीय दूतावास को इस खबर की पुष्टि का स्रोत नहीं बताया। अन्य विशेष कर पत्रकारों पर किसी हद तक विश्वास और भरोसा रखना पड़ता है।

मुझे एक महान् लेखक और स्तंभकार वाल्टर लिपमैन की याद आ जाती है। मैं उनसे पहली बार दूतावास के एक छोटे से भोज पर मिला था। वह न केवल एक महान् लेखक और जाने-माने स्तंभकार ही थे बल्कि सिद्धांतों में विश्वास रखने वाले व्यक्ति थे, जिनका उन्होंने अपने स्तंभ लेखन में अक्षरशः पालन किया। वह अपने किस्म के अकेले थे और न तो मैं आज तक उनकी कोटि के किसी स्तंभ लेखक से मिला हूं और न ही वैसे लेख मैंने आज तक पढ़े हैं। वह घटनाओं का विश्लेपण अपने ढंग से करते थे, जिनमें से अधिकांश विकृति पर नहीं बल्कि तथ्यों पर आधारित, नीतिपरक, दार्शनिक, निष्पक्ष और नयापन लिए हुए होते थे। वह तथ्यों को शुद्ध और विचारों को मुक्त मानते थे, जबकि आज के बहुत से संवाददाता और टिप्पणीकार इससे विपरीत तथ्यों को मुक्त और अपने विचारों को शुद्ध मानते हैं।

एक अन्य जाने-माने लेकिन घोर विवादास्पद व्यक्ति हेनरी ल्यूस थे। मैं 1949 में न्यूयार्क में श्रीमती पंडित के साथ उनसे मिला था। वह जल्दी-जल्दी लेकिन रुक-रुककर बोलते थे और ऐसा लगता था जैसे उन्हें जो कुछ कहना है उसे झटपट कह डालना चाहते थे। वह पीकिंग विरोधी, साम्यवाद विरोधी और अमेरिका के घोर समर्थक थे। चाहे गलत हो या सही हो, वह अपनी पसंद के सिद्धांतों में विश्वास करते थे और उनके लिए साहस और विश्वास के साथ संघर्ष करते थे। उनकी 'टाइम' पत्रिका ने अमेरिकी जनमत को काफी हद तक प्रभावित किया था। और इस पत्रिका के तकनीकी विकास के लिए वह ही मुख्य रूप से जिम्मेदार थे। एक बढ़िया प्रकाशक हेनरी ल्यूस अपने विचारों में घोर दकियानूसी थे। उनकी पत्नी क्लेचर बूथ ल्यूस इससे बिलकुल ही विपरीत थीं—आकर्षक, उदार, सौम्य और सुंदर जो आसानी से मित्र बना लेती थीं और कभी भी किसी की कमजोरी को मजाक का विषय नहीं बनाती थीं। शायद यही वजह थी कि बाद में उन्हें राजदूत बनाया गया।

श्रीमती पंडित अपने भाई प्रधानमंत्री को अक्तूबर, 1949 में अमेरिका का दौरा करने के लिए राजी करने में सफल हो गयीं। अमेरिकी सरकार से प्रोत्साहन पाकर अमेरिका के बड़े व्यवसायियों द्वारा ऋण, अनुदान, और सहयोग के अशिष्ट और अभद्र प्रस्तावों से नेहरू को खास तौर से नफरत थी। मैं एक अदना सा व्यक्ति था। एक बार जब नेहरू के सामने मैंने यह प्रस्ताव रखा कि यदि हमारे यहां अनाज की कमी हो तो हम अमेरिका से सस्ते दामों पर गेहूं खरीद सकते हैं तो उन्होंने मुझे काफी भला-बुरा कहा।

नेहरू गुस्से में भरकर बोले, "आप क्या सोचते हैं कि भारत भिखारी है? हमें साल दो साल में अनाज के मामले में आत्मनिर्भर होना ही होगा।" उन्होंने आगे कहा, "मैं एक ज्वालामुखी के शिखर पर बैठा हुआ हूं। यदि हम समस्या के मूल तक नहीं पहुंचते हैं तो वह फटकर हम सब को ग्रस लेगा।"

वह सचमुच ही विश्वास करते थे कि 1952 तक भारत अनाज के मामले में आत्मनिर्भर हो जायेगा। दुर्भाग्य की बात थी कि दल और सरकार द्वारा भूमि सुधार के प्रवर्तन और संचालन में ढील देने के कारण ऐसा न हो सका। इसके बदले हमने पी० एल०-480 के अंतर्गत अमेरिका से एक करोड़ सत्तर लाख टन अनाज लिया और अपनी आत्मनिर्भरता की योजना को दो दशकों से अधिक पीछे कर दिया। मैं इसके लिए अमेरिकी सरकार को नहीं बल्कि स्वयं को ही दोषी मानता हूं। यद्यपि हम गत कुछ वर्षों से अनाज के मामले में कमोबेश आत्मनिर्भर रहे हैं लेकिन भारत की बढ़ती जनसंख्या और मौसम की अनिश्चितता को देखते हुए यह सुखद स्थिति अधिक समय तक टिक नहीं सकती, जब तक कि हम भूमि जोतने वाले को ही भूमि न दे दें।

यह सोचने की बात है कि 1949 में नेहरू की अमेरिका यात्रा क्यों असफल रही। क्या नेहरू में कोई कमी थी या गृहविभाग में कोई खोट था या परोक्ष रूप से अन्य गंभीर कारण थे? अमेरिका द्वारा विज्ञान और टेक्नालाजी के क्षेत्रों में की गयी प्रगति, उसकी गतिशीलता, यहां के लोगों का साहस और लोकतंत्र में उनकी आस्था तथा प्रगति के समान अवसर—नेहरू इन सभी बातों के प्रशंसक थे। वह अमेरिकी कवियों और लेखकों की रचनाएं बहुत रुचि के साथ पढ़ते थे। 'साउथ पैसिफिक' में मेरी मार्टिन और एंजोपिजा के अभिनय देखने के बाद उन्हें अमेरिकी संगीत भी पसंद आने लगा था। लेकिन वह इस अमेरिकी विश्वास से सख्त नफरत करते थे कि पैसे के जोर से सब कुछ और सब को खरीदा जा सकता है।

एक शाम को जब वह न्यूयार्क में अपने होटल के कमरे में बैठे रेडियो सुन रहे थे तो अचानक ही मुस्कराने लगे। मैंने साहस बटोर कर पूछा, "सर, आप किस बात पर हंसे?" वह हंसकर बोले, "आपने अंत्येष्टि करने वाली एक संस्था का यह रेडियो विज्ञापन नहीं सुना—अगर अच्छी तरह से अंतिम संस्कार करने के लिए सिर्फ 50 डालर ही खर्च होते हैं तो जी कर क्या करना है? ये अमेरिकी सिरफिरे होते हैं।"

गृह विभाग में समझने की क्षमता न थी और उनकी कल्पनाशक्ति भी शून्य थी, या वे जानबूझ कर या मजबूरी के कारण नेहरू की समझ बूझ को उचित मान नहीं देते थे। उदाहरण के तौर पर, संसद के दोनों सदनों—सिनेट और हाउस आफ रिप्रेजेंटेटिव—की संयुक्त बैठक बुलाने की बजाय उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि नेहरू दोनों सदनों को अलग-अलग संबोधित करें। मैं समझ न सका कि नेहरू इसके लिए राजी कैसे हो गये। यद्यपि वह पढ़कर भाषण देना पसंद नहीं करते थे लेकिन उन्होंने आत्मविश्वास और गरिमा के साथ सदन को संबोधित किया। लेकिन जब वह सीधे एक सदन से दूसरे सदन में पहुंचे तो उन्होंने अपना वही भाषण जल्दी-जल्दी आधे समय में ही पढ़ डाला। वह निश्चित ही उससे ऊब चुके थे!

अमेरिकी सरकार से उनकी बातचीत का कोई खास नतीजा नहीं निकला, क्योंकि दोनों पक्ष दो स्तरों पर बात कर रहे थे—नेहरू एक प्राचीन लेकिन प्रबुद्ध युवा भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, जो उत्साह और आदर्शवाद से सराबोर था। वह इतिहास के विस्तृत परिप्रेक्ष्य में बात कर रहे थे और मानव के भविष्य की ओर देख रहे थे। वह युद्ध और संघर्ष के बजाय शांति और सहयोग में अपनी आस्था तथा गुटनिरपेक्षता के

उपनिवेशवाद विरोधी अपनी नीतियों का प्रचार कर रहे थे। उन दिनों अमेरीकी पक्ष की भाषा ही दूसरी थी—रूस और चीन से खतरा, नाटो के जरिये स्वतंत्रता और शांति की रक्षा की जरूरत तथा अधिक सैनिक गठबंधन, अमेरिका की हां-में-हां मिलने के बदले सहायता का प्रलोभन, दूसरे देशों के व्यापार, उद्योग और अर्थव्यवस्था में उसके बड़े व्यावसायिकों की घुसपैठ। नेहरू भावुक और स्वाभिमानी लोगों के प्रतिनिधि थे, वह अमेरिका के इस फूहड़ और वाणिज्य नजरिये से नफरत करते थे और उससे प्रभावित होने के बजाय उससे तंग आ जाते थे।

किसी प्रकार का समझौता न हो पाने का असली कारण आपसी सम्मान तथा सहानुभूति का अभाव था और शायद दोनों पक्षों को एक दूसरे से बहुत ज्यादा उम्मीदें थी—ऐसी उम्मीदें जो गलत आधार पर टिकी हुई थीं। अमेरिका तब तक भारत को ब्रिटेन की नजरों से देखता था और एक कमजोर पिछड़ा हुआ, अविकसित देश मानता था जिसे आर्थिक साधनों की सख्त जरूरत थी, जब कि भारत अमेरिका को लोकतंत्र और स्वतंत्रता के हिमायती के रूप में देखता था, जो कि दबे हुए का समर्थन करता है तथा सभी राष्ट्रों और लोगों की स्वाधीनता में विश्वास रखता है। अमेरिका को उम्मीद थी कि भारत उसकी नीतियों का समर्थन करेगा, जब कि भारत को उम्मीद थी कि अमेरिका भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति से सहमत न होने पर भी उसे मान जरूर देगा। दोनों दृष्टिकोणों के बीच खाई इतनी गहरी थी कि एक दौरे से उसे पाटा न जा सका। दोनों ओर से लंबे अरसे तक धैर्य और अध्यवसाय बनाये रखने पर ही आपसी सहानुभूति और सम्मान का जन्म हो सकता है।

बहरहाल नेहरू के दौरे का एक सुनिश्चित पक्ष भी था। उन्हें आइंस्टाइन, आइजनहावर, जिन्होंने कोलंबिया विश्वविद्यालय को संबोधित करने के लिए उन्हें आमंत्रित किया था (वह उस समय वहां के अध्यक्ष थे) विभिन्न कलाकारों, लेखकों और और जनसाधारण से मिलना-जुलना बहुत प्रिय था। पहली बार मैंने न्यूयार्क के एक टैक्सी चालक से नेहरू के भ्रमण के दौरान उनके बारे में एक बहुत ही सुंदर प्रशंसोक्ति सुनी, "नेहरू एक सही पुरुष है" एक अन्य वर्ग जो नेहरू से विशेष रूप से प्रभावित था—अश्वेत अमेरिकियों का था, जिनमें कुछ बुद्धिजीवी भी थे। लेकिन अमेरिकी नीति को प्रभावित करने के लिए न तो उनके पास बल था और न ही धन और क्षमता।

श्रीमती पंडित के साथ मुझे कुछ दिलचस्प व्यक्तियों के संपर्क में आने का मौका मिला। हम न्यूयार्क में पाल राबसन से मिले। मैं उस लंबे, मुस्कराते हुए शक्तिशाली व्यक्ति को कभी भूल नहीं सकता, जिसकी मधुर आवाज की गूंज मुझे सदा याद रहेगी। वह एक गलत देश में, गलत समय पर पैदा हुए थे। उन्हें उचित तौर पर पुरस्कृत भी न किया गया। उनके राजनैतिक विचारों को कोई पसंद नहीं करता था। एक महान् अमेरिकी की उपेक्षा की गयी और उसे अकेले और गरीबी में मरने दिया गया। लेकिन मानव इतिहास में उसका नाम एक महान् गायक और महान व्यक्ति के तौर पर सदा अमर रहेगा।

सान फ्रांसिस्को उतना ही सुंदर नगर है जितना कि लास एंजिलस बदसूरत है। उस समय तक गगनचुंबी अट्टालिकाओं और ऊंची-ऊंची इमारतों ने उसके सौंदर्य पर धब्बा नहीं लगाया था। छोटी-छोटी ट्राम गाड़ियां मार्क हापकिंस होटल तक ऊपर-नीचे जाती दिखायी पड़ती थीं। वहां समुद्र और उपनगर अब उतने ही सुंदर हैं जितने पहले थे। गोल्डन ब्रिज का नजारा देखने के काबिल है। अभी तक बहुत से जिंदगी से ऊबे हुए लोग अपने उस भगवान तक पहुंचने के लिए यहां से छलांग लगाते हैं जिसे वे मानते हैं।

हर वर्ष यह सुंदर पुल भी मे अधिक आत्महत्याओं का साक्षी होता है। हम शिकागो, न्यूयार्क और फिलाडेल्फिया भी अक्सर जाया करते थे। उस समय वे आज के समान इतने विस्तृत और भीड़ भरे नहीं होते थे, लेकिन वे काफी बड़े थे। न्यूयार्क कई मायनों में, जैसे बैंक के कार्यों, व्यापार, फैशन में अगुआ होने और सब से बढ़कर संयुक्त राष्ट्र का मुख्यालय होने के कारण विश्व की अनधिकारिक राजधानी है। उस समय संयुक्त राष्ट्र लाग एंजल्स में फ्लशिंग मेडोज के एक छोटे से स्थान पर स्थित था! कुछ मायनों में यह जगह अब भी फर्स्ट एवेन्यू की 18 मंजली इमारत से बेहतर है। स्विट्जरलैंड, आस्ट्रिया, स्वीडन या भारत जैसे तटस्थ देशों में संयुक्त राष्ट्र का मुख्यालय स्थापित करना शायद बेहतर होता। न्यूयार्क के अपने गुण हैं लेकिन उसमें खामियां भी बहुत है।

अमेरिका बड़ा, महान्, आधुनिक और जीवंत देश था। उसकी कुछ खामियां थी लेकिन फिर भी कुल मिलाकर वह विज्ञान, टेक्नालाजी, व्यापार और बैंक के कार्यों [illegible] में बहुत कुछ जानना [illegible] नेहरू ने ईमानदारी [illegible], जिसमें वह असफल रहे। वह जहां असफल रहे, क्या कोई अन्य व्यक्ति वहां सफल हो सकता है? मैं तब भी ऐसा सोचता था और अब तक ऐसा ही सोचता हूं।

लगभग डेढ़ वर्ष के बाद ट्रूमैन के अमेरिका से मुझे निराशा होने लगी और उसके बारे में मेरा मोहभंग हुआ। समाचारपत्रों और पत्रिकाओं पर सरसरी नजर डालने में अत्यधिक समय लगता था। उन्हें पढ़ने के बाद ऐसा लगता था जैसे मद्यपान की दावत पर बहुत से बादाम और अन्य छोटी-मोटी चीजें खा ली है, जिनसे भूख तो मिटी है लेकिन तसल्ली नहीं हुई। लोग अच्छे, सरल और मैत्रीपूर्ण थे। लेकिन वहां स्पष्ट तौर पर अश्वेतों के प्रति जातिभेद की भावना थी, पैसे को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था और उसे शक्ति का प्रतीक माना जाता था, शहरी लोगों में रात के आमोद-प्रमोद के लिए सनक थी, लेकिन ग्रामीण और उपनगरीय क्षेत्रों में अपेक्षाकृत अधिक शांति थी। विज्ञान और टेक्नालाजी में अमेरिका बहुत आगे था लेकिन विशेषकर ब्रिटेन तथा पश्चिमी यूरोप के बारे में उसकी हीन भावना थी। इसकी तो उम्मीद थी, लेकिन उसकी राजनीति में क्रांतिकारी आदर्शों का अभाव साम्यवाद के विरुद्ध विभिन्न देशों को एकजुट करना, [illegible] दाजी [illegible] नि पर [illegible] यह [illegible] र और मुखर रूप में जातिवाद नहीं था; इसके विपरीत उन्होंने संयुक्त राष्ट्र में जाति भेद विरोधी सभी प्रस्तावों को अपना पूर्ण समर्थन दिया, पर ट्रूमैन के अमेरिका ने ऐसा नहीं किया।

जब मैंने पहली बार संयुक्त राष्ट्र में अमेरिका और रूस के बीच सौदा होते देखा तो मेरे युवा आदर्शवाद और संयुक्तराष्ट्र के प्रति विश्वास को जबर्दस्त धक्का पहुंचा। उदाहरण के तौर पर इस्राइल का निर्माण दोनों की साठगांठ थी जिसकी कीमत अन्य देशों को चुकानी पड़ी और जिसने इस क्षेत्र में अनिश्चितकाल के लिए तनाव और युद्ध के बीज बो दिए गए। अमेरिका, रूस तथा उनके मित्र देशों ने भारत, युगोस्लाविया और ईरान के इस गंभीर दूरदर्शी प्रस्ताव का विरोध क्यों किया, जिसमें कहा गया था कि इस्राइल तथा अरब राज्यों का एक संघ बना दिया जाये। बेशक इसके लिए इस्राइलियों

और अरबों की हठधर्मिता भी कुछ हद तक जिम्मेदार थी लेकिन अमेरिका और रूस यदि भारत, युगोस्लाविया और ईरान के प्रस्ताव का समर्थन करते तो वह निश्चित ही स्वीकृत हो जाता। अमेरिका और रूस ने शायद यह सोचा था कि इस्राइल उनके प्रभावक्षेत्र में रहेगा और अरब राज्यों पर नियंत्रण रखने के लिए एक कारगर औजार का काम देगा; या उस क्षेत्र में तनाव बनाये रखने के लिए जानबूझकर यह योजना बनायी गयी थी ताकि वे अपने शस्त्रों का प्रयोग एक दूसरे के खिलाफ कर सकें। इन दोनों उद्देश्यों को नजर-अंदाज करके यही सोचना ठीक था कि दोनों के इस ओर एक साथ कदम उठाने के पीछे उनकी हार्दिक इच्छा यही रही होगी कि एक उलझी हुई समस्या का अस्थायी समाधान हो जाये, यद्यपि उस समस्या से उनका कोई सीधा संबंध कभी नहीं रहा।

मैं डेढ़ साल तक अमेरिका में रहा जहां मुझे सुख साधनों की कोई कमी न रही, लेकिन फिर भी जैसे कोई न कोई बड़ा अभाव सदा बना ही रहा। अमेरिका की विज्ञान और टेक्नालाजी में उन्नति के बावजूद पुरानी अमेरिकी क्रांतिकारी भावना जैसे खत्म हो चुकी थी। शायद मुझे अमेरिका से जरूरत से ज्यादा उम्मीदें रही होंगी—उसे मैंने मुक्ति और लोकतंत्र का स्तंभ माना जो कि ब्रिटेन का पहला उपनिवेश था जिसने अपनी मुख्य भूमि के खिलाफ बगावत करके स्वाधीनता हासिल की। यह घटना अन्य उपनिवेशों को उनके मुक्ति संघर्ष में प्रेरणा देती रही। वह स्वाधीनता की पहली लड़ाई थी और हाल के इतिहास में पहला उपनिवेश विरोधी सफल संघर्ष था। भारत के हर घर में वाशिंगटन, लिंकन और जेफ़रसन के नामों की चर्चा थी, यद्यपि ब्रितानी शासकों ने भारतीय स्कूलों में अमेरिकी इतिहास के अध्ययन को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया, अमेरिकी धर्म प्रचारक कमोवेश, भलाई का काम करते रहे, विशेषकर ग्रामीण भारत के चिकित्सा और शिक्षा के क्षेत्रों में फ्रैंकलिन रूजवेल्ट जैसे अमेरिकी नेताओं ने भारतीय स्वतंत्रता अधिकार को नैतिक समर्थन तो दिया ही, कभी-कभी राजनैतिक समर्थन भी दिया।

ऐसे महान् अमेरिका को द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद क्या हो गया? वह दक्षिण अफ्रीका में जातिभेद का समर्थन क्यों कर रहा था? वह एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका में सामंतवादी तानाशाहों और भ्रष्ट शासकों की पीठ क्यों थपथपा रहा था? गणतंत्रीय चीन को मान्यता देने का विरोध क्यों कर रहा था? वह अपने यहां की अश्वेत जनसंख्या को समान अधिकार और अवसर क्यों नहीं दे रहा था? क्रांतिकारी अमेरिका क्यों अनुदार हो गया था? क्या इसलिए कि उसकी भूमि दूसरे विश्वयुद्ध से अछूती रही, या वहां का समाज समृद्ध हो गया था, या दूसरे विश्वयुद्ध के बाद अचानक ही वह परमाणु शक्ति से सम्पन्न होने के कारण एक नेता और महाशक्ति के रूप में उभरा? चाहे कोई भी कारण रहा हो, मैं ट्रूमैन के अमेरिका से ठीक वैसे ही निराश हो चुका था, जैसा कि स्तालिन के रूस के प्रति मेरा मोहभंग हुआ था। एशिया, विशेषकर भारत और चीन, गांधी, नेहरूऔर माओ जैसे महान् व्यक्तियों के नेतृत्व में सत्ताकामी अमेरिका और रूसी नेताओं की तुलना में अधिक क्रांतिकारी और दूरदर्शी जान पड़ते थे।

एक दिन मैंने अपने विचार श्रीमती पंडित के सामने व्यक्त किये। वह मुस्करा दीं। शायद उन्होंने सोचा कि मैं पदोन्नति चाहता हूं, जो कि मुझे मिलनी चाहिए और उन्होंने वचन दिया कि वह मुझे ऊंचा पद दिलवा देंगी। इस बात से मेरे दिल को ठेस पहुंची और एक पत्र में मैंने उन्हें लिखकर भेजा, "चीन मुझे बुला रहा है।" उनको भी बुरा लगा और उन्होंने मुझसे पूछा कि मेरे प्रति उनके व्यवहार में कोई खामी रही है क्या? मैंने उनकी कृपाओं के लिए उन्हें धन्यवाद दिया और सच बात बता दी, "मेरा दिल भारत और चीन में ही रमा हुआ है और मैं घर लौटना चाहता हूं, अन्यथा चीन चला जाऊंगा।" पीकिंग

जिस प्रकार गुरुकाल में एक जगह रहती थी और यहां मुझे था सीतापुर की हैसियत से देखा गया। शायद इसलिए कि मेरे मां-बाप का कोई स्थायित्व यहां स्थान का उल्लेख नहीं था। कुछ मित्रों ने सोचा कि भविष्य में वैदिक काल की नाई होना मेरे लिए ठीक है। लेकिन मुझे इस बात से कोई कष्ट नहीं था कि मैं दीन हो कर रहा हूं। मुझे भारत में कोई पद मिल जाता तो मैं अधिक खुश होता क्योंकि यहां बहुत कुछ मौलिक हो रहा था। मैं सब कुछ छोड़ दिया। क्योंकि भारतीय विदेश सेवा के अंतर्गत का महत्वपूर्ण देश में हो जाना था। मैं यहां के अनुभवों के कारण और कुछ समय के लिए मनुष्यतापूर्ण से अलग प्रतिनिधिमंडल के उपाध्यक्ष की हैसियत से प्राप्त अनुभवों से कुछ-कुछ निराश हो चुका था। भारत में यह निर्णय मेरे वैदिक काल से प्रारंभ हुआ, क्योंकि यहां भी बहुत कुछ बदल रहा था।

4
चीन की पुकार

मैं सितंबर, 1950 में न्यूयार्क से नयी दिल्ली पहुंचा, जहां पीकिंग जाने से पहले मुझे निर्देश प्राप्त करने थे। गिरिजाशंकर वाजपेयी उस समय विदेश मंत्रालय में महासचिव थे। जब मैं उनसे मिला तो उन्होंने स्पष्ट रूप से मुझसे कह दिया कि मुझे पीकिंग भेजने के पीछे एक कारण यह है कि मैं अपने राजदूत सरदार पणिक्कर पर नजर रखूं, जो कि चीन समर्थक विचार रखते हैं। मैं यह सुनकर आश्चर्य में पड़ गया लेकिन मैंने बात अपने तक ही रखी और केवल इतना ही कहा कि मैं अपना दिमाग, आंखें और कान खोल कर रखूंगा। इससे गिरिजा जी को तसल्ली हुई या नहीं, मैं नहीं जानता, मैं पणिक्कर द्वारा विदेश कार्यालय को भेजी गयी उनकी प्रतिभाशाली विज्ञप्तियों का प्रशंसक बनने लगा। वह स्वतंत्रता से पहले कई रजवाड़ों और राजकीय महासंघ के सलाहकार रहे थे। तब से मैं उन्हें जानता था। लेकिन मुझे यह भी मालूम था कि वह बुद्धिजीवी हैं, उनका दिमाग बुद्धिजीवियों का खुला दिमाग है और वह एक ऐसे देशप्रेमी हैं, जिनमें इतिहास की सूक्ष्म समझ है। उन्होंने तब तक कई पांडित्यपूर्ण किताबें लिख डाली थीं पर मैं उन्हें व्यक्तिगत रूप से नहीं जानता था।

नेहरू ने मुझे सुबह के नाश्ते पर अपने घर बुलाया। वहां उस समय और कोई नहीं था। उन्होंने भारत और चीन के भूत, वर्तमान और भविष्य की संभावनाओं के बारे में जो विश्लेषण किया, वह पर्याप्त रूप से स्फूर्तिदायक था। संक्षेप में उन्होंने कहा :

"भारत और चीन दो महान और प्राचीन देश हैं, दोनों ही विदेशी शासन के दौर से मुक्त हुए हैं। भारत शांतिपूर्ण गुटनिरपेक्ष देश के रूप में उभरा है और चीन सैनिक, साम्यवादी देश के रूप में। चीनी नेता अमेरिका के उद्देश्यों को संदेह की निगाह से देखते हैं क्योंकि अमेरिका ने चीन की मूल भूमि के अस्तित्व को स्वीकार करने से इनकार कर दिया है। इसीलिए वे उनके सीमांत पर स्थित भारत जैसे पड़ोसी देश पर भी संदेह करते हैं जिसके बारे में उसका यह विश्वास बना हुआ है कि अभी तक वह पश्चिम के शासन से मुक्त नहीं हुआ है। लेकिन हमें उसकी इस भ्रांति को तोड़ना होगा। यह संदेह मुख्य रूप से उनके बाहरी दुनिया से कटे होने के कारण है, जो कि शारीरिक, मानसिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक सभी तरफ से कटे पड़े हैं। विगत दिनों में—जब भारत और चीन दोनों महान् थे तब उनकी अपनी-अपनी संस्कृति, अपना-अपना व्यापार, वाणिज्य एशिया के अन्य भागों तक फैल गया था, लेकिन दोनों में कभी सीधी टक्कर न हुई। हिन्द चीन के रूप में दोनों के बीच जैसे एक विभाजन रेखा थी, जैसा कि हिंदचीन नाम से ही ध्वनित होता है।

"बलशाली संयुक्त, लड़ाकू साम्यवादी चीन और लोकतंत्री संगठित, गुटनिरपेक्ष भारत की आपस में बनेगी या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। अपनी अर्थव्यवस्थाओं का निर्माण करने के लिए दोनों को शांति की जरूरत है। नये भारत और नये चीन के बीच स्थापित संबंध एशिया को ही नहीं बल्कि विश्व की शांति को भी किसी न किसी रूप में प्रभावित कर सकते हैं। अगर हम मित्र बन सकें और एक दूसरे के साथ सहयोग कर सकें

तो उससे शांति कायम रहेगी और महाशक्तियों द्वारा एशिया पर प्रभुत्व स्थापित करने का खतरा टल जायेगा। इसलिए हमारी कोशिश यही होनी चाहिए कि हम चीनी नेताओं के मन से संदेह दूर करें और भारत-चीन संबंध को एक आदर्श के रूप मे पेश करें जिससे यह स्पष्ट हो सके कि सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रणालियों में फर्क होने के बावजूद दो देश किस प्रकार बराबरी, आपसी भलाई और एक दूसरे के प्रति सम्मान की भावना को आधार बनाकर आपस में सहयोग कर सकते हैं।"

यही से दूरदृष्टा नेहरू के मन में पंचशील के बीज अंकुरित हो रहे थे, लेकिन वह इस बारे मे निश्चित नही थे कि इस विषय मे चीन का क्या रुख होगा। मैंने उनसे तिब्बत के बारे में पूछा। उन्होंने थोड़ी देर तक सोच कर जवाब दिया कि भारत ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण नही करना चाहता और न ही तिब्बतीय क्षेत्र पर अपना कोई दावा रखना चाहता है। हम चीन-भारत सीमा को शांति का क्षेत्र बनाने की कोशिश करनी होगी। तिब्बत और भारत के बीच सास्कृतिक धार्मिक और वाणिज्यिक संबंध थे, जिन को बनाये रखना चाहिए। ब्रिटेन ने भी तिब्बत पर चीन के अधिराज्य को स्वीकार किया था। जब पीकिंग की सरकार शक्तिशाली थी तो उसने अपनी इस क्षमता का इस्तेमाल प्रभावी ढंग से किया और जब सरकार कमजोर हुई तो तिब्बत ने अपनी स्वतंत्रता की मांग को दोहराया। अब जब कि पीकिंग में शक्तिशाली सरकार है, यदि वे ल्हासा को इस बात का आश्वासन दे दें कि वे उनके धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन मे हस्तक्षेप करने की इच्छा नही रखते और उन्हें स्थानीय स्वशासन का अधिकार दे देंगे तभी इस समस्या का शांतिपूर्ण हल ढूढना संभव हो सकेगा। भारत तिब्बत को सैनिक सहायता देने की स्थिति में नही था, क्योंकि वह पाकिस्तान से उलझा हुआ था। वैसे इससे कोई खास फर्क नहीं पड़ने वाला था, केवल तिब्बत के लिए दमन अधिक और स्वशासन कम हो जाता। इसके साथ ही भारत के मन में किसी प्रकार की भ्रांति नहीं होनी चाहिए और उसे हर संभाव्य घटना के लिए तैयार रहना चाहिए। चीन विगत दिनो मे भी, जब वह साम्यवादी नही था, विस्तारवादी रहा और आगे भी विस्तारवादी हो सकता है। भारत को आर्थिक दृष्टि से सक्षम और राजनैतिक दृष्टि से संगठित और स्थिर होना होगा तथा इस क्षेत्र में संघर्ष और मतभेद को बढावा देने के बजाय तनाव मिटाने और शांति का वातावरण स्थापित करने की कोशिश करनी होगी। यह संभव है कि यदि भारत और चीन आपस में सहयोग करें तो इस समय पश्चिम और पूर्व के बीच जो शीतयुद्ध चल रहा है वह उससे कुछ हद तक कम हो सकता है।

पंडित जी लगभग एक घंटे तक इसी लहजे मे बोलते रहे। वह शायद अपने विचारों को भाषा दे रहे थे और किसी विशेष नीति का ढाचा उनके दिमाग मे नहीं था। वह भारत तथा एशिया मे अन्य गैरसाम्यवादी पड़ोसियो के प्रति चीन के रुख और नजरिये पर निर्भर करता था और रूस के साथ चीन के बढ़ते हुए संबंधो और उसके प्रति अमेरिका के दृष्टिकोण पर भी बहुत कुछ टिका हुआ था।

किसी भी देश की विदेश नीति की सफलता अधिकतर उसकी अंदरूनी ताकत और स्थिरता तथा उसके इतिहास, संस्कृति, परंपराओ, उद्देश्यों और रुचियो पर निर्भर करती है फिर यह एकतरफा मामला नहीं हो सकता। हम ऐसे देशों के संपर्क मे आते हैं जो प्रभुसत्ता संपन्न हैं और जिन्हें अपने राष्ट्रीय हितों का ध्यान रखना पड़ता है। उनके दृष्टिकोण उनकी आकाक्षाओं और अन्य देशो के प्रति उनके बर्ताव पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है। क्या भारत और चीन भिन्न-भिन्न राजनैतिक और सामाजिक प्रणालियों का अनुसरण करते हुए भी सुदूर भविष्य पर नजर डाल सकेंगे और आपसी सहयोग के

माध्यम से अपने राष्ट्रीय हितों और एशिया में शांति की रक्षा कर सकेंगे तथा एशिया को साम्राज्यवादियों के खेल का मैदान बनने से रोक सकेंगे?

कोरिया का संघर्ष बढ़ता ही जा रहा था। अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव की ओट में अपनी और अपने मित्र देशों की सेनाएं दक्षिण कोरिया भेज दीं। भारत ने पहले प्रस्ताव पर मतदान में भाग लिया था। लेकिन दूसरे प्रस्ताव के समय वह अनुपस्थित था तथा 'कोरिया में संयुक्तराष्ट्र की सेना' में अपने सैनिकों को शामिल करने से भारत ने इनकार कर दिया। संयुक्त राष्ट्र परिषद ने इस प्रस्ताव को रूस की गैर हाजिरी में ही (और ऐसा शायद जानबूझ कर ही किया गया था) स्वीकृत किया। अपनी प्राथमिक सफलता पर खुश होते हुए जनरल डगलस मैकआर्थर के नेतृत्व में संयुक्तराष्ट्र सेना कहलाने वाली टुकड़ी, 38 वीं पैरालेल को पार करके चीन दक्षिण कोरिया सीमा पर, यालू नदी तक पहुंच जाना चाहती थी। चाऊ एन लाई ने पीकिंग में हमारे राजदूत के मार्फत चेतावनी भेजी कि यदि 38 वीं पैरालेल को पार किया जायेगा तो आक्रमण-कारियों को भगाने के लिए चीन को भी अपने स्वयंसेवकों की सेना कोरिया भेजनी पड़ेगी, क्योंकि इससे चीन की अपनी सुरक्षा के लिए खतरा पैदा हो जायेगा। अमेरिकियों ने इस चेतावनी को हल्के-फुल्के ढंग से लिया और सरदार पणिक्कर को मिस्टर पैनिकी (आतंक फैलाने वाला) कहने लगे। नेहरू ने मेरे द्वारा पणिक्कर को एक पत्र भेजा जिसमें चीनियों को झूठा मानने वाले अमेरिकियों की प्रतिक्रिया व्यक्त की गयी थी, हांगकांग होकर पीकिंग जाते हुए जब मैं रास्ते में कलकत्ता में रुका तो मुझे दूरभाप पर विदेश सचिव के० पी० एस० मेनन का एक संदेश मिला कि नेहरू ने मुझे जो चिट्ठी दी है उसे मैं नष्ट कर डालूं। यह इसलिए कि तब तक अमेरिकी सेना 38वीं पैरालेल को पार कर गयी थी और चीनियों ने अपना संकल्प निभाते हुए मित्र दक्षिण कोरिया की सहायता करने के लिए स्वयंसेवकों के जत्थे सीमा के पार भेज दिए थे। पणिक्कर की धारणा सही साबित हुई। चाऊ एन लाई की चेतावनी भी झूठी नहीं थी।

जल्दी ही अमेरिका और उसके मित्र देशों की सेना के लिए हालात उलटे पड़ने लगे। मैकआर्थर सीमा के पार चीनी अड्डों को नष्ट करने के लिए यालू नदी को पार करके अणु बम का इस्तेमाल करना चाहते थे, लेकिन उन्हें राष्ट्रपति ट्रूमैन के आदेश के सामने झुकना पड़ा और उन्हें उस पद से मुक्त कर दिया गया, शांत प्रकृति के ट्रूमैन ने दिलेरी दिखाई और कोरिया के संघर्ष को विश्वयुद्ध में नहीं बदलने दिया।

यह बड़े महत्व की बात है कि चाऊ एन लाई ने अमेरिकियों तक चेतावनी पहुंचाने के लिए पीकिंग के भारतीय राजदूत को ही चुना। उन्होंने सोचा होगा कि अमेरिकी सरकार को भारत की मान्यता पर अधिक विश्वास होगा, या फिर वह चीन के लिए गुट-निरपेक्ष देशों का समर्थन चाहते थे, या उनके मकसद दोनों ही रहे होंगे। लेकिन यह बात स्पष्ट है कि यदि भारत सुरक्षा परिषद में चीन को आक्रामक करार देने वाले प्रस्ताव का समर्थन करता तो गुटनिरपेक्षता के क्षेत्र में उसकी स्थिति कमजोर हो जाती और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसका दर्जा घट जाता। फिर उसे सिर्फ अमेरिका का पिछलग्गू माना जाता। सुरक्षा परिषद में भारत के दृढ़ विचारों और चाऊ एन लाई की चेतावनी के बारे में उसके सही मूल्यांकन से अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की स्थिति मजबूत हुई और शीत-युद्ध को शांत करने की उसकी क्षमता को बढ़ावा मिला। अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर और विदेश कार्यालयों में उस समय उसकी अकेली आवाज पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। लेकिन पश्चिमी देशों और अमेरिका में उसका विरोध भी हुआ और कुछ अन्य देशों, विशेषकर पाकिस्तान की वह ईर्ष्या का पात्र भी बना।

5
माओ का चीन

यद्यपि पीकिंग की सरकार अपने लक्ष्यो और आदर्शों मे साम्यवादी है लेकिन उस समय ऐसा लगता था कि वह मताग्रही होने की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक है। उनकी अपनी प्राथमिकताओं की सूची थी—अंदरूनी समेकन, भूमि सुधार, कुओ मिन ताङ के अनुयायियों को खत्म करना, कानून और व्यवस्था की समस्याए, विभिन्न वर्गों का प्रशिक्षण, अपनी सुदूर सीमाओ का गुप्तचरो, ध्वसको तथा घुसपैठियों से बचाव, सेना और गैरसैनिक प्रशासन पर लाग एक दलीय नियत्रण का युद्ध के कारण बंटे हुए और गुटबंदी से आक्रांत प्रदेशों तक विस्तार आदि। चीन को भारत के समान ही, या उससे भी अधिक सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समस्याओ का सामना करना पड़ा। इसके अलावा चीन को दक्षिण कोरिया और ताइवान (फारमोसा) की ओर से खतरा था, जिनके पीछे अमेरिका की सैनिक और आर्थिक शक्तियो का जोर था।

लेकिन 1950 मे चीन की स्थिति 1919 के रूस से बेहतर थी। वह अकेला नही था। उसे रूस की शक्ल मे एक मित्र मिला था, (तब तक चीन और रूस के बीच मे मत-भेद उभरे नही थे)। उसके पास एक सुगठित पार्टी थी जिसमें प्रशिक्षित वर्ग थे और कुओ मिन ताङ से लगातार गृहयुद्ध के कारण उनकी परीक्षा भी ली जा चुकी थी। उसके पास बहुत बडी जनमुक्ति वाहिनी और सैनिक तथा राजनैतिक नेतृत्व थे, जिन्होने लंबी यात्रा (लाग मार्च) और उसके बाद के कठिन दिनो को मिलकर झेला था। उसके पास दूर-दृष्टा माओ त्से तुंग और कुशल प्रशासक तथा राजनयिक चाऊ एन लाई मौजूद थे और इनके अलावा चू तेह और लिउ शाओ ची जैसे कई समर्पित नेताओ का नेतृत्व भी उसे प्राप्त था। पार्टी में अदरूनी मतभेदो और व्यक्तिगत ईर्ष्याओ को उभरने का मौका नही मिला था। नेतागण बड़ी-बड़ी अंदरूनी और बाहरी समस्याओं मे व्यस्त थे और माओ के असाधारण नेतृत्व मे एकजुट होकर काम करते थे।

भारत की तरह चीन भी आकार मे बड़ा और राष्ट्रवादी होने के कारण किसी अन्य देश का मुवक्किल नही बन सकता था। नया भारत जहा गैरसाम्यवादी था और संवैधानिक लोकतंत्र और बहुदलीयप्रणाली मे आस्था रखता था वहा नया चीन साम्यवादी था और एकदलीय प्रणाली मे विश्वास रखता था। अपने सामाजिक और आर्थिक ढाचो के पुनर्निर्माण के लिए भारत और चीन दोनो को ही शाति की आवश्यकता थी। लेकिन चीन युद्ध प्रिय और विस्तारवादी था, जबकि भारत ऐसा नही था। उस समय पश्चिमी देशों द्वारा, विशेषकर अमेरिका द्वारा चीन को अलग कर दिया गया था जबकि भारत का पूजीवादी और समाजवादी दोनों खेमो से सबध बना हुआ था। क्या एशिया के ये दो महान् देश मैत्रीपूर्ण संबंध और आपसी सहयोग बनाये रखेंगे और निजी राष्ट्रीय हितो और एशिया मे शाति की रक्षा करेंगे, या कर सकेंगे, ताकि आपस मे दोनो टकराने से बच सकें? यही कुछ प्रश्न थे जो दिल्ली मे नेहरू से हुई भेंट के बाद से मेरे मन में उठ रहे थे।

स्तालिन के रूस और ट्रूमैन के अमेरिका मे निराशाजनक अनुभवों के बाद मैं चीन मे यह आशा लेकर आया था कि मुझे यहा कुछ विशिष्ट बातो के कारण भारत और

चीन के बीच लगाव, और एक-दूसरे में दिलचस्पी देखने को मिलेगी। इसके लिए शायद कुछ हद तक 'एशिया पर पश्चिमी शासन' के खिलाफ 'एशियाई' भावना जिम्मेदार थी। जैसाकि पणिक्कर कहा करते थे। वहरहाल मूल कारण शांति की खोज था। ऐसे दो महान् देशों के बीच सहयोग की कामना थी जिन्होंने विगत दिनों में अंदरूनी संघर्ष और मतभेद तथा वाहरी शोषण के कारण कष्ट झेले। लेकिन उसके वावजूद वे जीवित रहे और दोवारा प्रभुसत्तासंपन्न स्वाधीन राष्ट्रों के रूप में उभरे।

पीकिंग के वारे में मेरी पहली धारणा यही वनी कि यह एक प्राचीन, नीरस और जीर्ण-शीर्ण नगर है, लेकिन जब मैंने अगली सुबह अपने राजदूत से मिलने के लिए वर्जित नगर के भीतर से गुजरते हुए उसके सुंदर उद्यानों को देखा तो मेरी धारणा वदल गयी।

पणिक्कर से पहली भेंट के दौरान मेरे मन में आने वाले कुछ संदेह मिट गये। मैंने उनका मन पहचानने की कोशिश की और उन्होंने मेरा। वह केवल दिलचस्प वातचीत ही नहीं करते थे वल्कि उनकी वातचीत प्रेरणादायक, जानबूझ कर उकसाने वाली और कभी-कभी नाटकीय भी लगती थी। लेकिन इतिहास के वारे में उनकी सूझबूझ उन्हें सुदूर भविष्य में देखने की क्षमता देती थी और वह उसी के अनुसार अपने मन को ढालने की शक्ति भी रखते थे। यही वजह थी कि वह नानकिंग की कुओ मिन ताङ् सरकार के साथ उतने ही लोकप्रिय थे जितने कि पीकिंग की नयी व्यवस्था के साथ। लेकिन जैसा कि नेहरू ने मुझे वताया था, पणिक्कर में कभी-कभी नाटकीयता की झलक दिख जाती थी और कभी-कभी वह सोचते थे कि विजली की रफ्तार से घटनायें घटेंगी। पणिक्कर के वारे में मेरी प्रथम धारणा यही वनी कि वह एक वुद्धिजीवी हैं, प्रतिभाशाली हैं और चोटी के वार्ताकार हैं। वह अपनी तीक्ष्ण वुद्धि का प्रदर्शन करके किसी के साथ दूरी कायम नहीं करते वल्कि कुशलता से गहराई में जाकर उसका विश्वास और प्रशंसा प्राप्त कर लेते हैं, विकल्पों को ग्रहण करने के लिए तैयार रहकर वह उसे अपने विचार व्यक्त करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। वह मताग्रही नहीं वल्कि व्यावहारिक थे। मैंने पश्चिम के वारे में उनके ज्ञान और मूल्यांकन को वहुत सही पाया, लेकिन रूस के वारे में उनके मन में पूर्वाग्रह जान पड़ता था। जिसके वारे में उन्होंने संतुलन, नये चीन के प्रशंसक होने के नाते, वनाया हुआ था, ताकि वह गैरसाम्यवादी न जान पड़े।

पणिक्कर हर दोपहर या शाम को, वातचीत करने के लिए मुझे बुलाते थे और मेरे साथ अपनी धारणाओं और विचारों का आदान-प्रदान करते थे। हम मुख्य रूप से शीतयुद्ध, अमेरिका-रूस-भारत तथा चीन के वारे में वातचीत करते थे। आंखों में चमक लाकर वह मुझे वताते थे कि किस तरह वह कुछेक पश्चिमी प्रतिनिधियों से वच निकले थे। जब कभी चाऊ एन लाई या अन्य चीनी नेताओं से इनकी भेंट होती तो ये लोग छिटपुट खवरें प्राप्त करने के लिए इन्हें घेरे रहते थे, जिससे इन सूचनाओं को वे अपने विदेश कार्यालयों तक पहुंचा सकें। पणिक्कर इन्हें मार्ग से भटका देने में एक अजीव खुशी महसूस करते थे। कुछ लोग सच्ची वात जानने के लिए मुझसे भी पूछताछ किया करते थे और जब मैं उन्हें सच्चाई वता देता था तो स्वाभाविक ही था कि वे मेरी तुलना में मे राजदूत की वात को ही ज्यादा सही मानते थे। मैंने उन्हें यह वात वताते हुए कहा कि उ लोगों को भ्रम में डालना ठीक नहीं है। उन्होंने हंसकर जवाव दिया कि वे सारे-के-सा निहायत मूर्ख हैं। और उन्हें उन सवसे जवर्दस्त नफरत है। इसका परिणाम यह हुआ वि वे मुझे साम्यवादी मानते थे और पणिक्कर को उदारवादी और ऐसा ही उन्होंने अपन सरकारों को भी वताया। जैसा कि मुझे वाद में पता चला। जब यह वात किसी स्रोत प्रधानमंत्री तक पहुंची तो उन्होंने कहा, "कौल तो साम्यवादी नहीं है और यदि है भी

मेरा उस पर विश्वास है।" यह बात मुझे कई लोगों ने बतायी, जिनमें स्व० एच० वी० आर० अय्यंगार भी शामिल थे जो उस समय प्रधानमंत्री के निजी सचिव थे।

चीनी सरकार से मेरे संपर्क निचले स्तर पर थे, जिससे राजदूत के स्तर पर होने वाली बातचीत की पुष्टि करने मे मुझे सहायता मिलती थी। वह और मैं एकजुट होकर काम करते थे और एक-दूसरे से कोई बात छुपाते नहीं थे। वैसे कभी-कभी हमारे बीच चीनी साम्यवादों के सैद्धांतिक विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण को लेकर मतभेद हो जाया करते थे। पणिक्कर जैसे व्यक्ति के साथ काम करना एक सुखद, प्रेरणादायक और दिलचस्प अनुभव रहा।

हम अक्सर ही भारत की स्थिति और यहां के विभिन्न व्यक्तियों के बारे में विचारों का आदान-प्रदान करते थे। हम दोनों नेहरू की नीति की प्रशंसा करते और उसमे अपना विश्वास व्यक्त करते। स्थिति के बारे मे उनकी जानकारी मेरी जानकारी की तुलना मे अधिक गहरी और आंतरिक थी। उन्हे ऐसे लोगों की खिल्ली उड़ाने मे मजा आता था जिन्हे वे 'सोमनाथवादी' या पुनरुद्धारक कहते थे, जो मुसलमान आक्रमणो द्वारा नष्ट किये हुए पुराने मंदिरों का पुनर्निर्माण चाहते थे। उनका नजरिया धर्मनिरपेक्ष था और उनकी रग-रग में धर्म के प्रति विरोध भरा हुआ था। सरदार पणिक्कर का ऐसा ही व्यक्तित्व था—दिलचस्प विरोधाभासो का मिश्रण—लेनिन का बड़ा सिर और हो ची मिन्ह की छोटी सी दाढ़ी, तीक्ष्ण भेदक आखें, भोजन प्रिय, प्रतिभाशाली वार्ताकार, जानबूझ कर उकसाने वाले, हमेशा रुचिकर और प्रेरणा देने वाले, उनमे हर परिस्थिति मे स्वयं को ढालने की क्षमता थी—विद्वत्तापूर्ण पृष्ठभूमि और विश्लेषणात्मक बुद्धि वाले एक आदर्श राजनयिक—यानी दूसरे शब्दो मे हर मौके पर काम आने वाला व्यक्ति।

ये दिन चीनी क्रांति के प्रारंभिक दिन थे, जब छोटे व्यापारों और निजी दुकानों की इजाजत थी। लेकिन हर क्षेत्र और समाज के हर तबके पर क्रांति के हावी होने के आसार नजर आ रहे थे।

चीनी भाषा मे 'मुक्ति' के लिए 'चेइफाङ' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। कुछ विदेशी विद्वानों ने जिसकी व्याख्या 'गरीबी, बीमारी और भ्रष्टाचार से मुक्ति' के रूप में की है। मैं भावुक नहीं हूं, लेकिन चीनी मुक्ति की यह व्याख्या कमोबेश सही ही थी। विशेषकर जब कुओ मिन ताङ के दिनों से तुलना की जाती थी। जमींदारों के दमन का आतंक नहीं था और न ही पुलिस की ज्यादतियो की आशंका थी। घर के किवाड़ खुले छोड़ने पर भी चोरी का कोई डर नहीं था। भाड़े के गुंडो या आतंकवादियों से सताये जाने का भय नहीं था, जैसा कि सैनिक नेताओ और कुओ मिन ताङ के जमाने में होता था। नयी व्यवस्था के बारे मे साधारण व्यक्ति, विशेषकर युवाओ के सच्चे उत्साह ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया। सब जगह जैसे एक सुसमाचार का वातावरण था और माओ के नेतृत्व में पूर्ण आस्था थी। वह एक भगवान के समान थे, जो साल में दो बार, एक अक्तूबर और एक मई को तिएन आन मेन के मंच पर छोटे भगवानों और शिष्यों यानी पोलिट ब्यूरो के सदस्यो से घिरे हुए दर्शन देते थे। उनके चित्र हर जगह टंगे रहते थे और राष्ट्रीय गान में भी उनके नाम की महिमा गायी जाती थी!

इस सबसे मुझे कभी-कभी स्तालिन के रूस और गांधी के भारत की याद आ जाती थी। लेकिन उनमें भी फर्क था। स्तालिन के समान माओ से लोग डरते नहीं थे। माओ सबके उतने ही प्रिय और पूज्य थे जितने गांधी, लेकिन गांधी की तरह उनके पास आसानी से नहीं पहुंचा जा सकता था, यद्यपि मास्को की तरह सेना हर जगह उपस्थित रहती थी, लेकिन वह अशिष्ट और दबंग नहीं थी, बल्कि भद्र और सहायता करने को

तत्पर थी। रूस की तरह वहां भी सब को 'कामरेड' कहकर पुकारा जाता था, लेकिन चीनी भाषा में कामरेड के लिए 'थुंगचिर' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है जिसका अर्थ कुछ भिन्न है। उसका मतलब है 'जिस का मन या विचार एक से हों' (मैंने एक बार हांगकांग में एक चीनी पुलिस वाले को थुंगचिर कहकर बुलाया था, जिसके बाद वह मुझे घूरता रहा)। चीनी क्रांति अपने पूरे जोर पर थी। लेकिन लेनिन के नेतृत्व में हुई महान अक्तूबर क्रांति की प्रचारात्मक सरगर्मी तब तक बनी हुई थी। रूसी क्रांति का स्तालिन-वादी मताग्रह तब तक उसकी पुरातन शुद्धता को मलिन नहीं कर पाया था।

एक और महत्वपूर्ण अंतर था। जहां चीन के साम्यवादी नेता सबसे पहले ग्रामीण क्षेत्रों में क्रांति लाये और येनान की गुफाओं में बैठकर उन्होंने अपने सिद्धांतों को प्रतिपादित किया, वहां रूसी क्रांति लेनिनग्राद और मास्को जैसे शहरों से ग्रामीण इलाकों में फैलती गयी। चीन मुख्य रूप से एक कृषि प्रधान देश था जब कि रूस औद्योगिक दृष्टि से अधिक विकसित था। स्तालिन के रूस ने विरोधियों से स्वीकारोक्ति प्राप्त करने के लिए पुलिस और सैन्य बल का इस्तेमाल किया था और उन्हें साइबेरिया या कारागांडा खानों में भेज दिया। चीनी साम्यवादियों ने लोगों का मन बदलने के लिए सामाजिक, सार्वजनिक और सामूहिक मत जैसे अधिक शक्तिशाली और कारगर हथियार का इस्तेमाल किया। लोकतंत्र में आस्था रखने वाले एक उदारवादी भारतीय को यह देखकर बड़ा अचरज होता था कि चीनी अपने सहकर्मियों को नीचा दिखाते हैं, बच्चे अपने माता-पिता की पोल खोलते हैं और पड़ोसी एक दूसरे के खिलाफ शिकायत करते हैं। चीन में आदर्शों का पुनर्गठन आंदोलन शारीरिक दृष्टि से स्तालिन के रूस की तुलना में कम कठोर था, लेकिन मानसिक और भावनात्मक स्तर पर वह अधिक निष्ठुर और प्रभावी था। किसी का अपना व्यक्तिगत जीवन नहीं था। और सभी किसी दल के सदस्य थे और सामूहिक जीवन बिताते थे। 'सान फान' और 'वू फान' आंदोलनों को (या मुख्यत: भ्रष्टाचार और नौकरशाही का विरोध करने के लिए बनाये गये तीन उसूल और पांच उसूल) देश भर में निपुणता के साथ लेकिन बेरहमी के साथ लागू किया गया था। भूपतियों की भर्त्सना की जाती थी। उन पर मुकदमे चलाये जाते थे और लोक न्यायालयों द्वारा उनको सजा दी जाती थी, उन पर थूका जाता था, सब के सामने उन्हें मारा-पीटा जाता था और मार डाला जाता था, जनता के दुश्मनों, कुओमिन तांङ् के या अन्य जासूसों पर कोई दया नहीं दिखायी जाती थी। हर विदेशी को संदेह की नजरों से देखा जाता था और उनके साथ संपर्क स्थापित करने की मनाही थी। जो फिर भी कुछ अध्यापकों या राजनयिकों आदि से थोड़ा बहुत संपर्क रखते थे—दलीय गोष्ठियों में छात्रों द्वारा उनकी आलोचना की जाती थी। अधिकारियों को अपने से वरिष्ठ पदाधिकारियों की शिकायत और आलोचना करने की छूट थी।

उसी समय 'अमेरिका का विरोध करो, कोरिया को बचाओ, पितृभूमि की रक्षा करो' अभियान का आविर्भाव राष्ट्रीय स्तर पर हुआ। स्कूल के नन्हें शिशुओं को भी अमेरिकी सिपाही के पुतले पर गोली चलाने की शिक्षा दी जाती थी। इस अभियान को देखे बिना उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। राष्ट्र-जीवन के हर क्षेत्र में जबर्दस्त जोश हावी था। दल के अधिकारी, नौकरशाह और साधारण मनुष्य सब मिलकर क्रांतिकारी उद्यम के साथ उद्यानों को सुंदर बनाने लगे, नहरें खोदने लगे, बांधों का निर्माण करने लगे और सड़कें बिछाने लगे, एशिया का 'सोया हुआ शेर' आखिरकार जाग उठा था और उसके स्वर की गूंज सारे एशिया में सुनाई दी। इस सब का अंतत: क्या कुछ होना था? क्या यह इसी तीव्रगति से बहुत समय तक बढ़ पायेगा? क्या स्तालिन के रूस

की तरह यहां भी ज्यादतियां होंगी, दलगत संघर्ष और सत्ता प्राप्त करने के लिए उठा-पटक चालू हो जायगी ?

कोई भी उस समय निश्चित होकर कुछ न कह सका, लेकिन एक बात स्पष्ट थी, 'समाजवादी सेमे के मुखिया और साम्यवाद के गढ़' होने के नाते रूस के साथ चीन की मित्रता भले ही रही हो लेकिन चीनी राष्ट्र अपने ही बल पर आगे बढ़ रहा था और वह किसी भी शक्ति के आगे झुकने वाला नहीं था, चाहे वह शक्ति कितनी भी बड़ी और ताकतवर क्यों न हो। चीनी साम्यवाद चाहे मताग्रही हो गया हो चाहे व्यावहारिक रहा हो, लेकिन वह अपने लंबे इतिहास में पहली बार अपने देश को संगठित करने और देश-वासियों को राष्ट्रीयता के एक सूत्र में पिरोने में सफल रहा। इस प्रक्रिया में ज़मींदार, व्यवसायी, व्यापारी, युद्धनेता आदि का सफाया हो गया, जिन की संख्या 1 से 2 करोड़ आंकी जाती है, लेकिन बाकी चीनियों के लिए देश एक सुरक्षित स्थान हो गया, जैसा कि लिउ शाओ ची ने समझाया था यह 'सर्वहारा वर्ग की तानाशाही' थी, यानी जन-साधारण के दुश्मनों के विरुद्ध जनसाधारण की तानाशाही। लिउ शाओ ची उस समय सम्मानित व्यक्तियों में माओ के बाद ही माने जाते थे और उन्हें माओ के विचारों का व्याख्याता माना जाता था। उसके बाद चाऊ एन लाई और चु तेह का स्थान था। उस समय तक लिन पिआओ तथा अन्य लोग दल की पहली कोटि में उभरे नहीं थे।

यह एक बहुत ही मनमोहक स्थिति थी...एक राष्ट्र आगे बढ़ रहा था, एक स्थायी क्रांति का जन्म हो रहा था। उन्होंने अन्य क्रांतिकारियों की तरह अपनी निगाहें ऊपर की ओर टिका रखी थीं। वह कहां तक सफल हुए यह तो समय ही बतायेगा। यह एक नया प्रयोग था जिस की मिसाल मानव इतिहास में दुर्लभ है। एक नये मानव की रचना हुई, एक नये प्रकार का मानवीय संबंध स्थापित हुआ, मूल्यों की पहचान नये सिरे से की जाने लगी, सारी स्थिति मनमोहक तो थी लेकिन संभावनाओं की दृष्टि से आतंकित करने वाली भी थी। उसकी भलाई करने की क्षमता अत्यधिक थी लेकिन नुकसान पहुंचाने की ताकत भी उतनी या उससे भी कहीं अधिक थी।

संगठित राष्ट्र, जिसका एक ही सिद्धांत हो, जिस में असीमित उत्साह, दृढ़ संकल्प और आग्रह हो, वह न केवल शांति और चीन की रक्षा के लिए एक शस्त्र का काम दे सकता है बल्कि एक परमाणु बम से भी अधिक शक्तिशाली साबित हो सकता है जो अपने और सीमाओं का विस्तार करने के दुराग्रह और जोश में अन्य राष्ट्रों का नाश भी कर सकता था। चीन किस दिशा में बढ़ता है यह भविष्य ही बतायेगा। रूस के साथ एकजुट होकर वह न केवल बाकी दुनिया की किसी भी चुनौती का सामना कर सकता था बल्कि उस पर प्रभुत्व भी स्थापित कर सकता था। अकेले भी वह अपने आसपास प्रभावपूर्ण वातावरण बना सकता था। अमेरिका या पश्चिमी देशों के साथ उसकी मित्रता की बात उस समय सोची भी नहीं जा सकती थी। बहरहाल, भारत से उसकी मैत्री संभव हो सकती थी और यदि चीन और भारत आपस में मिलकर शांति और मित्रता कायम कर सकते तो वे दुनिया के सामने इस बात की मिसाल कायम कर सकते थे कि दो स्वाभिमानी राष्ट्र सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रणालियों में अंतर होने के बावजूद, किस तरह शांति और सहयोग के साथ सहअस्तित्व बनाये रख सकते हैं जैसा कि नेहरू ने मुझे दिल्ली में बताया था कि इस लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में प्रयास करना लाभप्रद होगा, चाहे इसका मार्ग कितना भी लंबा और कठिन क्यों न हो। लेकिन उस समय चीन भारत को ब्रितानी अमेरिकी साम्राज्यवाद का पिट्ठू बताकर उस की भर्त्सना कर रहा था, विशेष कर तिब्बत के मुद्दे को लेकर। ऐसे वातावरण में मित्रता और सहानुभूति का विकास कैसे

नही कर सकती थी। अमेरिका और पश्चिमी देश चाहते थे कि भारत तिब्बत को चीनी आग में झोककर दूर खड़ा तमाशा देखे। वे भारत और चीन की दोस्ती को अच्छी नजरों से नहीं देख रहे थे और इस तरह की बात को बढने से रोकने की पूरी कोशिश कर रहे थे। अमेरिकी गुप्तचर विभाग (सी० आई० ए०) और कलकत्ता स्थित अमेरिकी वाणिज्यदूत ने तिब्बत के प्रतिनिधियों को तरह-तरह के वचन दिये और कुओ मिन ताङ ने तिब्बत में अपने दलालों के लिए पर्चियां और शस्त्र तक भेजे। यद्यपि भारत सरकार ने इस बात का विश्वास नही किया।

भारत को धैर्य और दूरदर्शिता से काम लेना था। यह एक विशाल देश था जिस की अपनी बाहर की और घरेलू समस्याएं थीं। बाहर की शक्तियों से प्रोत्साहन मिलने पर भारत के कुछ भागों मे ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो सकती थी, जैसा कि सचमुच जम्मू-कश्मीर, हैदराबाद, नागालैंड, गोवा, सिक्किम आदि मे हुआ। भारत को इनमे प्रभावशाली और शक्तिशाली ढंग से जूझना था।

फिर व्यावहारिक कारणों से हम तिब्बत को कोई विशेष सैनिक सहायता दे भी नही सकते थे। और उससे इसके नतीजे पर अंततः कोई प्रभाव भी पडने वाला नही था। इससे केवल चीन-भारत की सीमा पर ऐसे समय तनाव पैदा हो जाता जब हम उसके लिए तैयार नही थे। जैसा कि कुछ भारतवासियों ने सुझाव दिया था, अमेरिका से सैनिक गठबंधन की बातचीत से भारत शीतयुद्ध मे फंस जाता; रूस तथा चीन और भी करीब आ जाते तथा उसमे भारत की सुरक्षा और आर्थिक विकास के लिए गभीर खतरा पैदा हो जाता। अमरीका चीन का विरोध करने के लिए स्वयं प्रत्यक्ष रूप मे उससे उलझे बिना अंतिम भारतवासी की बलि चढ़ाने को तैयार था। भारत-चीन सीमा के प्रति उसका दृष्टिकोण, जैसा कि विदेश सचिव क्रिश्चेन हर्टर ने घोषणा की थी, ठीक वैसा ही था जैसा नेविल चेंबरलेन का चेकोस्लोवाकिया के प्रति था। फिर भारत अमेरिकी हितो के लिए चीन से लड़ाई मोल लेकर अपने हितों को जोखिम मे क्यों डाले?

बहरहाल, पणिक्कर मे एक विशेषता ऐसी थी जिसमे कुछ क्षेत्रों मे गलत धारणा बन गयी थी। एक बुद्धिजीवी होने के नाते वह चीनी साम्यवाद या 'माओ के विचार' और मार्क्सवाद में अंतर दिखाने की कोशिश करते थे और न केवल चीन के लिए बल्कि उसके पड़ोसियों तक के लिए एक परोपकारी विकास के रूप में उसका औचित्य दिखाते थे। उस समय की वास्तविक परिस्थितियों को देखते हुए वह बेशक कई मायनों में चीन के लिए हितकारी था। लेकिन चीन के विगत इतिहास और एशिया का नेतृत्व करने की उसकी वर्तमान आकांक्षाओं को देखते हुए वह उसके पड़ोसियों के लिए खतरे का कारण बन सकता था। कैंप डेविड के बाद 1959 में ख्रुश्चेव की पीकिंग यात्रा के दौरान माओ ने उनसे कहा था, "आप यूरोप का नेतृत्व सभाल सकते हैं, लेकिन एशिया को हमारे लिए छोड़ दीजिए।" ख्रुश्चेव ने जवाब दिया था, "यूरोप का नेतृत्व संभालने के लिए हमसे किसी ने नही कहा। एशिया का नेतृत्व संभालने के लिए आपसे किसने कहा है।" जाहिर है कि माओ को यह जवाब पसंद नही आया और ऐसा सुना जाता है कि तब से उन्होंने ख्रुश्चेव के लिए अपने मन मे व्यक्तिगत रूप मे वैर पाल रखा था। यह बात मुझे ख्रुश्चेव ने स्वयं तो नहीं बतायी थी, लेकिन पोलितब्यूरो में उनके पतन के बाद उन्ही क एक वरिष्ठ सहकर्मी से मैंने यह बात सुनी और इसीलिए यह अधिक विश्वसनीय लगी।

एक दूरदृष्टा राजनैतिक होने के नाते नेहरू एक ऐसे शक्तिशाली, संगठित, साम्यवादी चीन की संभावना के बारे मे पहले से ही जान गये थे जो एशिया पर धाक जमाने

की कोशिश करेगा। बहरहाल, वह भारत के बारे में उसके शंकालु दृष्टिकोण को खत्म करने के लिए चीन से मैत्री प्राप्त करना चाहते थे, ताकि इस क्षेत्र में शांति बनी रहे और आर्थिक प्रगति की गति भी तेज रहे। उन्हें चीन के साम्यवादी हो जाने में कोई आपत्ति नहीं थी, बशर्ते वह अपने पड़ोसियों पर प्रभुत्व स्थापित करने की कोशिश न करे, लेकिन वह समय चाहते थे और हर संभव घटना का सामना करने की तैयारी करना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने हर देश से मित्रता करने की कोशिश की, जिनमें रूस और चीन भी शामिल हैं, ताकि आवश्यकता पड़ने पर हम अपने को अकेला न पायें या किसी एक शक्ति पर हमें निर्भर न करना पड़े।

6
भारत और चीन

1951 के बाद से भारत और चीन के संबंध सुधरने लगे, जहां तक चीन का सवाल था उसके लिए तिब्बत एक सुलझा हुआ मामला था, संयुक्त राष्ट्र में इस मुद्दे को उठाने का कुछ देशों का प्रयास बेकार रहा। कोरिया के सवाल के प्रति भारत के रवैये और संयुक्त-राष्ट्र में चीन का प्रतिनिधित्व करने के पीकिंग सरकार के अधिकार को भारत द्वारा कडा समर्थन दिये जाने से चीन के नेता प्रभावित हुए कि भारत अमेरिका और ब्रिटेन का पिछलग्गू नही है। सांस्कृतिक मंडलो और कलाकारों का आदान-प्रदान होता रहा। व्यापार समझौते हुए। पीकिंग मे रूसी दूतावास के बाद ही भारतीय दूतावास को महत्व दिया जाने लगा। कुछ वर्जित स्थानो पर जाने की सुविधा हमे दी जाने लगी जो कि अन्य देशो के लिए उपलब्ध न थी। पणिक्कर उत्तर पश्चिम के तुंग हांग और सिआन मे स्थित लोयांग गुफाएं देखने गये। मुझे दाइरेन, मुकदेन, हार्बिन और आर्थर बंदरगाह जाने की इजाजत मिली जो कि उस समय तक गैरसाम्यवादी देशो और समाजवादी खेमों के कुछ दूतावासों तक के लिए बंद थे।

मैंने 26 जनवरी, 1957 को माओ त्से तुंग को निकट से देखा, जब वह हमारे गणतंत्र दिवस समारोह के उपलक्ष्य में पीकिंग होटल आये थे। तकरीबन टखनो तक पहुंचा हुआ लंबा भूरा ऊनी बडा कोट कंधो पर डाले हुए और टोप लगाये हुए ढीले-ढाले हाथ पाव वाला एक लंबा व्यक्ति हाल मे दाखिल हुआ। सुरक्षा प्रहरियो ने उनके कंधो पर से कोट हटा लिया और वह एक कुलपति की मुद्रा मे मुस्कराते हुए लेकिन अपने बारे में पूरी तरह बेखबर होकर कमरे मे आये। वहां के एकत्रित लोग उनके सम्मान मे उठ खडे हुए। चीनी और भारतीय राष्ट्रीय धुनों पर सब शात खडे रहे। माओ पणिक्कर के दायी ओर मेज पर मुखिया के स्थान पर बैठे। हमारे काबिल चीनी भाषा के विशेषज्ञ परांजपे और माओ के कोलंबिया से पढे हुए अंग्रेजी दुभाषिया पु पीछे खडे हो गये, सभी नजरें माओ पर गड़ी हुई थी, जो राष्ट्रीय दिवस के आयोजनों मे कम ही शरीक होते थे। हमारे सुधरते हुए संबंधों को देखते हुए यह भारत के प्रति एक सांकेतिक सम्मान था। ये बातें साम्य-वादी देशों मे बहुत महत्वपूर्ण हो जाती हैं क्योकि ये सरकार या देश के प्रमुख की निजी पसंद या नापसद को नही दर्शाती बल्कि इनसे नीति से संबद्ध स्वैच्छिक कार्यवाहियो का पता चलता है, जो बदलती स्थितियों की ओर सकेत करती हैं।

भारत मे नियमित रूप से प्रधानमत्री और राष्ट्रपति भी प्रारंभिक वर्षों मे राष्ट्रीय दिवस समारोहो में शामिल हुआ करते थे। यह प्रथा सन 50 के मध्य के वर्षो मे बदल दी गयी।

अध्यक्ष माओ ने खड़े होकर कुछ शब्द कहे। उनके कंधे हल्के से झुके हुए थे। उनकी छोटी-छोटी आंखें उनके चद्राकार चेहरे पर चमक रही थीं और उनकी मुस्कराहट से उनका सारा व्यक्तित्व चमक जाता था। वह एक वक्ता या जनता को उत्तेजित करने-वाले व्यक्ति की तरह नही बोले, बल्कि उनके वाक्य छोटे और सीधे-सादे थे। जैसे 'भारत एक महान देश है', 'भारतवासी महान हैं,' आदि। पु उनके भाषण का अंग्रेजी में अनुवाद

हुआ, जिन्हें सहायक मंत्री का दर्जा मिला हुआ था, एक और स्पष्टवादी व्यक्ति थे और मैं उनके साथ अनौपचारिक रूप से विचारों का आदान-प्रदान करता था। बाद में वह चीन के विदेशमंत्री बने, लेकिन जब 'चार की चौकड़ी' को अपदस्थ किया गया तो उन्हें भी शायद इसलिए हटा दिया गया कि शुरू में उन्होंने इनकी खिलाफत करने में आना-कानी की लेकिन मेरे लिए संपर्क के प्रमुख सूत्र चेन चिआ काउ थे, जो इतिहासकार, दार्शनिक और घोर मार्क्सवादी तो थे लेकिन मताग्रही नहीं थे। सदा शिष्ट और सुखद स्वभाव वाला यह व्यक्ति सकारात्मक और रचनात्मक था जो औरों की सहायता करने के लिए सदा तत्पर रहता था। 1964 मे उन्हें काहिरा से वापस बुला लेने के बाद उनका क्या हश्र हुआ, वह कहां राजदूत बना कर भेजे गये, मुझे इस बारे में कुछ भी पता नहीं।

शायद चाऊ एन लाई और कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के बारे में यहां दो चार शब्द कहना अप्रासंगिक नहीं होगा। चाऊ एन लाई का व्यक्तित्व इन सबमें से अधिक आकर्षित करने वाला था। प्रियदर्शी, चुस्त, जागरूक, झटपट बात को समझने और उस पर तुरत प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाला यह व्यक्ति मुझे कभी-कभी कृष्ण मेनन की याद दिलाता था, लेकिन उनकी जुबान मेनन की चुभती हुई जुबान जैसी नहीं थी। मेनन की तरह वह किसी समस्या के हरेक पहलू का विश्लेषण करते थे और कदम दर कदम उसको सुलझाते थे। कठिन होते हुए भी वह मृदुभाषी थे और मेनन की तरह दोस्ती को दुश्मनी में नहीं बदल देते थे, बल्कि दुश्मनों को दोस्त बना लेते थे। वह रुचि सपन्न और भद्र थे जिनकी विनोदवृत्ति उनके प्रत्यक्ष दृष्टिकोण में नर्मी ला देती थी। उन्हें थोड़ी अंग्रेजी भी आती थी जिसका इस्तेमाल वह कभी-कभी अपने दुभाषिये को सही करने के लिए करते थे। मुझे उनके साथ एक लंबी बातचीत की याद है जो कि मेरे अनुरोध पर आयोजित भेंट के दौरान हुई थी और मेरे साथ हमारे विद्वान और कुशल जनसंपर्क अधिकारी शिव शास्त्री भी थे। मैंने यह कहकर कि भारत और चीन की बहुत सी समस्याएं एक जैसी हैं और दोनों एक दूसरे के अनुभवों से शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं, चाऊ के तीक्ष्ण और व्यावहारिक मन की टोह लेनी चाही। मैंने विशेष रूप से कृषि से संबद्ध समस्याओं का उल्लेख किया। चाऊ ने मेरे प्रश्न का सही मकसद समझने के लिए सीधे मेरी ओर देखा और बिना झिझक के उसी क्षण कहा कि भारत और चीन दो महान देश हैं जिनकी अनेक समस्याएं हैं लेकिन हर देश की परिस्थितियां भिन्न होती हैं, यहां तक कि हर देश के विभिन्न प्रदेश विकास के विभिन्न दौरों से गुजर रहे हैं। चीन में भूमि सुधार के लिए हर प्रदेश में एक ही प्रणाली अपनायी नहीं जा सकी। उदाहरण के लिए तिब्बत के चीनी इलाके, मंगोलिया के स्वशासित क्षेत्र (भीतरी मंगोलिया) और अन्य कम विकसित इलाकों में, अन्य क्षेत्रों की तुलना में भूमि सुधार की गति धीमी रही। बहरहाल, एक देश के अनुभव किसी अन्य देश पर थोपे नहीं जा सकते। भारत को अपनी विशिष्ट समस्याओं का समाधान स्वयं खोजना होगा, जैसा चीन को करना पड़ा था। वैसे दोनों ही विकासशील देश थे जिन्हें साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद से जूझना पड़ा था! वे मिलकर इन बुराइयों से संघर्ष कर सकते हैं।

मैंने, नाम लिये बिना, विशेषकर छोटे देशों के भय और संदेह का उल्लेख किया, जो कि चीन की भविष्य के बारे में उच्चाकांक्षा के कारण व्याप्त हैं। क्या नया चीन इस भय और संदेह को दूर करने के लिए कुछ करेगा? उन्होंने पूछा, 'यह कैसे होगा?' मैंने एक उदाहरण के तौर पर सुझाव दिया कि एक सार्वजनिक घोषणा की जाये कि वह अपने पड़ोसियों के प्रभुत्व और अखंडता को मान लेता है और उनके अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप

माओ चौ को अधिकांश लोग मताग्रही और अव्यावहारिक मानते थे लेकिन मेरे विचार में वह एक ऐसे सिद्धांतवादी थे जो कि अपने रूसी प्रशिक्षण [illegible] सिद्धांत का विश्लेषण व्यावहारिक और परिणामवादी अंदाज में करते थे, ताकि वह मार्क्सवादियों के हर वर्ग को आसानी से समझ में आ सके। वह गंभीर स्वभाव के और एक तपस्वी व्यक्ति थे जो कि बाद के वर्षों में दलगत चालबाजियों और ईर्ष्या के शिकार हुए और लिन पियाओ ने उन्हें पदच्युत करके चीन में दूसरा पद हथिया लिया।

चू तेह एक प्रीतिकर पुराने सिपाही थे, जो लंबी यात्रा के दौरान और उसके बाद भी माओ के साथ रहे। वह मताग्रही नहीं थे बल्कि एक व्यावहारिक सिपाही थे—बहादुर साहसी और देशभक्त! उनकी हर क्षेत्र में बहुत इज्जत थी और हर सार्वजनिक [illegible] पर उन्हें माओ के बाद ही सम्मानित स्थान दिया जाता था। लेकिन उनकी उम्र और स्वास्थ्य उन्हें किसी प्रकार की सक्रिय भूमिका अदा करने में बाधक थे। वह एक वयोवृद्ध राजनेता और वरिष्ठ सलाहकार के समान थे, जो मुझे मार्शल [illegible] के बाद के वर्षों की याद दिलाते थे।

चाङ् लान पुराने डेमोक्रेटिक पार्टी के थे और उन्हें उपाध्यक्ष का सम्मानित पद इसलिए दिया गया था कि नये 'जनता के लोकतंत्र' में विरोध करने वाली [illegible] शक्तियां एक हो जायें। वह चीन की पुरानी वेशभूषा धारण करते थे और उनकी [illegible] पहुंचे हुए लंबे चीनी चोगे और छोटी सी टोपी में जो उनकी [illegible] उभारती थी, उनका व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली लगता था। वह [illegible] पान से संबंधित दिखावे में विश्वास नहीं करते थे और [illegible] बचा हुआ हिस्सा अक्सर मेज के नीचे थूक देते थे [illegible] था। मुझे उनसे ईर्ष्या होती थी और मैं उनका प्रशंसक भी था, क्योंकि [illegible] करने की इच्छा होती थी, लेकिन मैं सबके सामने ऐसा करने की हिम्मत नहीं [illegible] था।

मुख्य न्यायाधीश या चीन के सर्वोच्च न्यायालय के [illegible] चीन के एक और व्यक्तित्व थे। छोटे कद का, (5 फुट 2 इंच), [illegible] यह व्यक्ति धरती पर भगवान का प्रतिनिधि जैसा दिखता [illegible] अन्याय दूर करने और न्याय देने के लिए भेजा गया है। [illegible] वांग शेन चेन जू बुलन्द आवाज में बात किया करते थे।

संस्कृति मंत्री माओ तुन स्वयं भी एक लेखक थे [illegible] थे। वह सरकार के [illegible] साथ नहीं दे सके। बाद के वर्षों में [illegible] श्रीमती ले [illegible] को देखकर मुझे [illegible] जाती थी। कभी वह परिवार नियोजन और [illegible] अन्य [illegible] के साथ यह [illegible] नहीं है और वह अपनी [illegible] बढ़ती हुई आबादी [illegible]? [illegible] पता चला कि [illegible] वह [illegible]

लेकिन के [illegible] सूर्य के सदस्य थे। [illegible] जुकाम लगा रहता है, [illegible] संचालन [illegible] करते थे। बाद के [illegible] लेकिन अब उन्हें [illegible] कर दिया गया है। [illegible]

1950 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में पीकिंग का जीवन कुछ मायनों में कठिन था, लेकिन स्तालिन के रूस जितना कठिन नहीं। रिहायशी मकान मिल जाते थे, अनाज मांस, ताजी सब्जियों और फलों की कमी नहीं थी। विदेशियों के लिए पीकिंग के 30 किलोमीटर के घेरे से बाहर जाने की मनाही थी, हालांकि रेल द्वारा टिएंटसिन, शंघाई और कैंटन जाया जा सकता था, चीन के सैनिक हर विदेशी कार्यालय पर पहरा दिया करते थे और किसी भी चीनी को पूछताछ के बाद ही इन कार्यालयों में दाखिल होने दिया करते थे। दूतावास में चीन के घरेलू कर्मचारी और क्लर्क शिष्ट थे तथा वे हमेशा मदद करने के लिए तैयार रहते थे, यद्यपि उन्हें भी रूस की तरह, हर हफ्ते चीनी अधिकारियों को रपट पेश करनी पड़ती थी, लेकिन वहां के गुप्तचर स्तालिन के मास्को की तरह इतनी बड़ी संख्या में नजर नहीं आते थे।

वहां एक तरह के एशियाई प्यूरिटनवाद के साथ पश्चिमी सुसमाचार का मिश्रण पार्टी के हर स्तर पर युवाओं तथा छात्रों में था, जो शायद लेनिन के नेतृत्व में होने वाली क्रांति के प्रारंभिक दिनों को छोड़कर मास्को में अन्य समय कम ही दिखायी पड़ता था। विरोध पक्ष के सैद्धांतिक विचारों में परिवर्तन लाने के लिए शिविर कोई नियमित रूप से नहीं लगाये जाते थे बल्कि सच्चे क्रांतिकारी उत्साह के साथ उनका आयोजन किया जाता था। मेरे चीनी शिक्षक को, जो कि पुरातन पंथी थे और एक लंबा चोगा और टोपी पहने रहते थे, कुछ समय तक गायब रहने के बाद नीली टोपी और अन्य वर्गों की तरह वर्दी पहने देख मुझे बहुत अचरज हुआ। उन्होंने साम्यवादियों की तरह सलाम करते हुए कहा, "कृपया मुझे "शिएन शाङ्" (श्रीमान) कहकर न पुकारा करें बल्कि 'तुंङ् चिर' (कामरेड) बुलाया करें।" मुझे इस साठ से अधिक उम्र वाले व्यक्ति को देखकर कुछ हैरानी हुई और कुछ मजा भी आया, जो कि कंफ्यूशियस की पुरानी परंपरा के मुताबिक पाले पोसे गये और कुछ ही सप्ताह में सैद्धांतिक परिवर्तनों के कारण बदले हुए नजर आये। वे उनके साथ शारीरिक या अन्य किसी सिलसिले में कठोरता से पेश तो नहीं आये लेकिन उन्होंने बुर्जुआ पूंजीवादी कुओ मिन ताङ् शासन की बुराइयां उन्हें दिखा दीं जैसा कि उन्होंने कहा इसमें कोई शक नहीं कि उन जैसे व्यक्ति को अब ज्यादा मेहनत करनी पड़ती है लेकिन अब चोरी नहीं होती और न ही पुलिस वालों, गुंडों या लड़ाई करने वालों का आतंक ही है: रोजमर्रा की जरूरी चीजें अब बंधे हुए और उचित मूल्यों पर मिल जाती हैं। साधारण लोगों की जिंदगी निश्चित ही कुओ मिन ताङ् शासन से अब बेहतर और सुरक्षित हो गयी है।

बुद्धिजीवियों को 'सुधारने' के लिए नरम लेकिन अधिक सूक्ष्म तरीके अपनाये गये, गोष्ठियों, कार्यालयों, शिक्षा तथा अन्य संस्थाओं में उन्हें अपनी आलोचना आप करने के लिए कहा जाता था। फिर गोष्ठी में उपस्थित अन्य लोग उनकी आलोचना करते थे, जो कि उनके सहकर्मी उनसे उच्च पदों पर काम करने वाले या उनसे निचले पदों पर काम करने वाले हो सकते थे। यदि वे अपनी सफाई पेश करने की कोशिश करते थे तो उनकी आगे भी आलोचना होती थी और यह सिलसिला तब तक जारी रहता था जब तक वह पूर्ण स्वीकारोक्ति नहीं कर लेते थे और विगत दिनों को नकार न देते थे। यह सारी प्रक्रिया इतनी कष्टप्रद थी कि पीकिंग विएर्तासिन, और शंघाई में कुछ लोगों ने आत्म-हत्या कर ली थी। अधिकांश व्यक्ति स्वीकार कर लेते थे और अपनी विचारधारा और रहन सहन को बदलने की कोशिश करते थे। यही तरीके गृहणियों के लिए भी नुक्कड़ सभाओं और कारखानों में उनके वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा उनके कार्यालयों और अन्य स्थानों पर भी अपनाये जाते थे। केवल सेना के उच्च पदों पर शायद ऐसा नहीं

किया जाता था, जहां 'माओ त्से तुंग के विचार' 'रणनीति' और युद्धकला पर उनके बहुत से शोध प्रबंधों, 'सिद्धांत और व्यवहार' 'पार्टी की भीतरी असंगति' आदि पर भाषण देकर राजनैतिक प्रशिक्षण दिया जाता था। सैनिक अधिकारी का पद बताने के लिए किसी प्रकार के बिल्ले का इस्तेमाल नहीं किया जाता था। अधिकारी और अन्य पद के कर्मचारियों को एक ही जगह एक ही सा खाना मिलता था।

उन्हें राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, मानसिक, सांस्कृतिक और सैनिक दृष्टियों से एक राष्ट्र में गूंथने के लिए राष्ट्रव्यापी आंदोलन चला। यह एक विशाल जनांदोलन था जिसकी मिसाल मानव इतिहास में नहीं मिलती। इसकी शुरुआत धर्मोत्साह, कट्टरपंथियों के जोश और प्युरिटनवादी अध्यवसाय के साथ निहायत बेरहमी और प्रभावशाली तरीके से हुई थी। इसमें अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की संभावनाएं थीं, जो कि उसके चलने की अवधि और अंतिम लक्ष्य राष्ट्रीय मुक्ति या विश्वव्यापी क्रांति राष्ट्रीय प्रभुता की रक्षा या पड़ोसी देशों में घुसपैठ करके उन पर अपना शासन स्थापित करना—पर निर्भर था।

चीनी नेता स्थायी क्रांति, युद्ध की अनिवार्यता, साम्यवादी एकता, अंतर्राष्ट्रीयता आदि के बारे में बहुत कुछ कहा करते थे। तब तक उनके और रूसी नेताओं के बीच मनमुटाव की शुरुआत नहीं हुई थी। चीनियों ने तब तक अणु बम के नमूने की मांग नहीं की थी, रूसियों ने जिसे देने से बाद में इनकार कर दिया। तब तक चीनियों ने साम्यवादी जगत का नेतृत्व अपने हाथ में लेने की चेष्टा नहीं की थी। वे तब तक रूस की अध्यक्षता में 'समाजवादी खेमा' जैसे शब्दों का इस्तेमाल कर रहे थे। स्तालिन उस समय जीवित थे (उनका देहांत 5 मार्च, 1953 को हुआ) और चीन अपने पहली मई के प्रदर्शनों में मार्क्स, एंजेल्स और लेनिन के चित्रों के साथ उनके चित्र को भी सम्मानित करता था। चीन भूमि सुधार, शैक्षिक परिवर्तन, बाहर के इलाकों, सीमावर्ती इलाकों और यूनान, सिङ् किआङ्, भीतरी मंगोलिया, तिब्बत आदि पर अपनी धाक जमाने में व्यस्त था। उन्हें कुओ मिन ताङ् के जासूसों की समस्या का भी सामना करना पड़ रहा था। सबसे बढ़कर वे कोरिया के युद्ध में उलझ गये थे।

उस समय चीन एक ऐसे दौर से गुजरता हुआ मालूम दे रहा था जैसा कि रूस में स्तालिन से पूर्व के समय में था, यद्यपि दोनों में एकरूपता नहीं थी, जो कि माओ त्से तुङ् के विचार में गुंथे हुए थे। चीन इस मायने में खुशकिस्मत था कि उसका रूस से सैनिक गठबंधन था और समाजवादी खेमे से उसे आर्थिक और तकनीकी सहयोग मिल रहा था। रूस अपनी महान् अक्तूबर क्रांति के समय और द्वितीय विश्वयुद्ध तक अकेला ही था। इसके बावजूद रूस और साम्यवाद न केवल जीवित रहा बल्कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में और फैला और शक्तिशाली बना। चीनियों के इस विश्वास का कारण था कि वे न केवल जीवित रहेंगे बल्कि एशिया और शायद स्तालिन के बाद साम्यवादी जगत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में सफल होंगे। यह बात तब बहुत खुले तौर पर नहीं कही जाती थी, जब रूस और चीन के मतभेद सतह पर आए लेकिन दबे स्वर में इसकी चर्चा हवा में थी।

उदाहरण के लिए चीनी रूसियों को 'बड़े नाक वाले दादा' कहकर उनके प्रति अपनी घृणा व्यक्त किया करते थे, यहां तक कि सड़कों पर घूमने-फिरने वाले लड़के भी सड़क पर किसी रूसी को देखते ही अपनी छोटी सी नाक पकड़कर 'बड़ी नाक' कहकर चिल्लाते थे। कुछ पढ़े-लिखे चीनियों ने भी हमें व्यक्तिगत तौर पर बताया था कि साम्यवादी जगत पर चीन का नेतृत्व चीनी और अन्य एशियाई साम्यवादी बहुत दिनों तक

बर्दाश्त नहीं करेंगे। रूसियों को जानबूझकर यूरोप के श्वेत लोगों के बराबर मानने की कोशिश की जाती थी और साइबेरिया को एशिया का हिस्सा नहीं समझा जाता था।

उस समय तिशसिन शंघाई और पीकिंग में 'श्वेत रूसियों' के बारे में एक मजाक प्रचलित था। उनमें से बहुत से इन शहरों में फैले हुए थे—ये उन लोगों में से बचे रह गये जो अक्तूबर, 1917 की क्रांति के बाद देश छोड़कर चले आये थे। चीनी लोग कुछ गंभीर होकर और कुछ मजाक में कहते थे, "रूसी तीन प्रकार के होते हैं—लाल, सफेद और गाजर, गाजर वे है जो बाहर से लाल हैं और अंदर से सफेद।" गाजर शब्द उन रूसियों के प्रति घृणा व्यक्त करने के लिए इस्तेमाल किया जाता था जो अपने को साम्यवादी बताते थे लेकिन बुर्जुआ किस्म की जिंदगी बिताते थे।

यह तो समय ही बता सकता था कि रूसियों का 'बुर्जुआ' दृष्टिकोण या चीनियों का 'प्यूरिटनवादी' रहन-सहन अंत तक बना रहेगा। उस समय कुछ चीनी अधिकारी वर्ग प्रलोभन में पड़ते हुए दिखाई पड़ रहे थे और निजी स्वार्थ के लिए अपने पदों और अधिकारों का दुरुपयोग कर रहे थे। पीकिंग के पुलिस प्रमुख पर सोने की कलमें, और अन्य चीजें रिश्वत में लेने के जुर्म में पीकिंग के उद्यान में सार्वजनिक तौर पर मुकदमा चलाया गया था। माओ त्से तुङ् ने अपने लेखों में 'सुनहरी गोलियों' के बारे चेतावनी दी थी जिनका इस्तेमाल विदेशी और स्वदेशी बुर्जुआ क्रांति का दमन करने के लिए करेंगे। बहरहाल अधिकांश चीनी माओ और उनकी पार्टी के पक्ष में थे और चीनी इतिहास में पहले से बेहतर तथा अधिक सुरक्षित जीवनयापन करते थे। बुद्धिजीवी, तथा जमींदार शायद नाखुश रहे होंगे, लेकिन चीनी समाज के विशाल सागर में वे बूंद जैसे थे।

मैं एक रविवार के दिन सूर्योदय से पूर्व सेंट्रल मार्किट गया और देखा कि कुछ रिक्शाचालक अपना नाश्ता कर रहे थे और चीनी चाय पी रहे थे। ये रिक्शाचालक काफी परिश्रमी थे जो सूर्योदय के पूर्व से लेकर सूर्यास्त के बाद तक कठोर परिश्रम करते थे। कभी-कभी वे बहस करते थे परन्तु हाथापाई की नौबत नहीं आती थी। यह स्वयं को अभिव्यक्त करने का और समस्या सुलझाने का एक सभ्य तरीका है।

राष्ट्रीय चरित्र मुश्किल से नष्ट होता है, चाहे साम्यवादी हो चाहे अन्य, चीनी चीनी ही रहेंगे, बिल्कुल उसी तरह जैसे भारतीय भारतीय ही रहेगा, चाहे वह किसी भी प्रकार की सरकार क्यों न चुने। यह बात विशेष रूप से प्राचीन संस्कृतियों और सभ्यताओं पर लागू होती है। अमेरिका जैसे आधुनिक सभ्यता के लिए इस बात को समझना कठिन है--इसलिए वे प्राचीन लोगों के दिल जीतने, उनसे सम्मान और स्नेह प्राप्त करने में असफल रहते हैं।

पैसा सब कुछ नहीं खरीद सकता--सम्मान और स्नेह पर तो उसका कोई जोर ही नहीं। शक्ति कुछ समय के लिए आतंक की सृष्टि कर सकती है लेकिन यह किसी राष्ट्र को उसकी इच्छा से अपने वश में नहीं कर सकती। विएतनाम जैसे छोटे से राष्ट्र ने अपने गर्व और संकल्प से अमेरिका के सैनिक और आर्थिक बल को परास्त कर दिया। एक गलत उद्देश्य को समर्थन देने की वजह से अमेरिका विएतनाम में असफल रहा और एक गर्वित और प्राचीन राष्ट्र को, जो अपने आत्मसम्मान और स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए कृतसंकल्प था, बेइज्जत करने और नीचा दिखाने के लिए अपनी सैनिक और आर्थिक शक्ति का दुरुपयोग करके अपनी गलतियों को उसने बढ़ावा दिया। इसी तरह अमेरिका ने 1949 के बाद से पीकिंग सरकार के अस्तित्व को स्वीकार करने से इनकार कर दिया और जब उसकी आँखें खुली तो उसे अपने राष्ट्रपति को 1972 में पीकिंग और शंघाई भेजना पड़ा। वे 1933 तक रूसी सरकार को मान्यता देना भूल गये थे जब राष्ट्रपति

जवेल्ट ने अपनी भूल को सुधारा। इसी तरह के और सत्य के गलत अध्ययन और गर्वित या स्वतंत्र भारत की भावनाओं की अवहेलना करते हुए उन्होंने 1950 के दशक के रंभ और मध्य में 'गुट निरपेक्षता' को 'अनैतिक' करार दिया था लेकिन अब वह उसे कासशील देशों के लिए एक उचित और व्यावहारिक नीति मानते हैं। चीन हिंद चीन वही गलती फिर दोहरा रहा है।

स्तालिन का रूस चीन की नयी सरकार की नीतियों को समझ क्यों न सका—या क्या वह समझ सका था? स्तालिन के रूस ने भारत के संघर्ष में गांधी और नेहरू की भूमिका को क्यों नहीं समझा और उसे ब्रितानी साम्राज्यवाद का अंश मात्र क्यों समझता रहा? पुनरुत्थानशील और क्रांतिकारी चीन ने जिस पंचशील समझौते पर 1954 में भारत के साथ विधिवत् हस्ताक्षर किये थे उसे क्यों तोड़ा और 1962 में सीमा विवादों का फैसला करने के लिए शांतिपूर्ण तरीके से बातचीत करने की बजाय बड़ी तादाद में सेना का इस्तेमाल क्यों किया?

क्या यह सब इसलिए किया गया क्योंकि महाशक्तियां अन्य देशों की न्यायसंगत हितों और आकांक्षाओं को देख नहीं पातीं और विश्व को अपने अपने प्रभाव क्षेत्रों में बांट देना चाहती हैं, जैसा कि साम्राज्यवादी महाशक्तियां सदियों तक करती रहीं, और बाद में उन्हें पीछे हटना पड़ा? क्या नयी महाशक्तियां इतिहास से सबक लेंगी या एक दूसरे को धमकियां देती रहेंगी, और स्वयं अनुपस्थित रहकर दूसरों की जमीन पर लड़ाई लड़ती रहेंगी?

क्या यह एक सैद्धांतिक लड़ाई है या यह सब कुछ केवल पाशविक बल और आर्थिक प्रभाव के जरिये अधिक से अधिक भूमि पर अपना कब्जा जमाने और प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के लिए किया जा रहा है। यदि मूल रूप से यह एक सैद्धांतिक लड़ाई होती तो इसमें लोगों का दिल जीतने की कोशिश होती, और उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए सैनिक और आर्थिक बल का इस्तेमाल नहीं किया जाता। यदि यह केवल एक सैद्धांतिक लड़ाई होती तो यह बात सोची तक नहीं जा सकती थी कि चीन अमेरिका के सैनिकों से प्रशांत सागर में रहने की याचना कर रहा है और नाटो के सैनिकों से कह रहा है कि वह मध्य और पश्चिमी यूरोप में अपना बल कम न करे या लोकतंत्र तथा गुट-निरपेक्ष भारत के खिलाफ पाकिस्तान में पश्चिम की समर्थक सैनिक तानाशाही का पक्ष ले। सबसे अचरज की बात तो यह है कि चीन रूस को सामाजिक साम्राज्यवादी कह रहा है और उसे अपना सबसे बड़ा शत्रु मान रहा है तथा बिना किसी कारण के अपने छोटे से समाजवादी गुटनिरपेक्ष पड़ोसी विएतनाम पर आक्रमण की तैयारी कर रहा है? इसी प्रकार पूंजीवादी अमेरिका को चीन से मधुर संबंध स्थापित करने की चेष्टा करते देख और रूस का अपने भाई के समान चीन की बजाय 'मैत्रीपूर्ण' भारत की ओर झुकाव देखकर भी अचरज होता है।

इस सबसे यह साबित हो जाता है कि प्रायः सिद्धांत का इस्तेमाल अपने संकीर्ण राष्ट्रीय हितों के मुखौटे के रूप में किया जाता है। अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद और अंतर्राष्ट्रीय पूंजीवाद, स्वतंत्रता और लोकतंत्र इन शब्दों का इस्तेमाल अक्सर ही संकीर्ण राष्ट्रीय महत्वकांक्षाओं और निजी स्वार्थों को पूरा करने के उद्देश्य से किया जाता है। अमेरिका जिस मुक्त दुनिया की कल्पना करता है उसमें कई ऐसे देश शामिल हैं जहां सामंती और सैनिक तानाशाही पनप रही है, गैर साम्यवाद को स्वाधीनता और लोकतंत्र का पर्यायवाची माना जा रहा है।

यहीं पर शायद गुटनिरपेक्षता और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति का औचित्य

है, विशेषकर भारत जैसे नये स्वाधीनता प्राप्त और विकासशील देशों के लिए लेकिन जब तक वे एक ऐसी दुनिया मे रह रहे है जो दो या तीन शत्रुतापूर्ण सैनिक खंडों में बंटी हुई है वे किस तरह अपनी मुक्ति, प्रभुत्व, क्षेत्रीय एकता, स्वाधीनता तथा सामाजिक और आर्थिक विकास की रक्षा कर सकते है ? स्वाधीन होने के बाद भारत के सामने यही एक समस्या आयी जो अब भी बरकरार है। क्या भारत एक ही समय पर अमेरिका और रूस दोनों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाये रख सकता है ? या भारत गुटनिरपेक्ष रहकर बड़ी और महाशक्तियो से समान दूरी बनाये रख सकता है ? चाहे उनका रवैया मैत्रीपूर्ण हो या शत्रुतापूर्ण ? क्या गुटनिरपेक्षता और तटस्थता एक ही है या हर प्रश्न को बिना किसी बड़ी शक्ति के खिचाव और दबाव के उसके गुणों के आधार पर यह देखकर परखने का अधिकार है कि वह अपने राष्ट्रीय हित और विश्व शांति को कैसे प्रभावित करता है ? भारत 1950 के दशक के प्रारंभ मे विपत्तियो और उथल-पुथल के दौर में भी अपना स्वतंत्र रास्ता अपनाने की कोशिश कैसे करता रहा, जब कि अमेरिका, पश्चिमी देश, स्तालिन का रूस और माओ का चीन भी उसे संदेह की नजरो से देखते थे ? क्या भारत गुटनिरपेक्ष था या दो झगड़ती हुई बिल्लियो के बीच बैठे हुए बंदर की तरह संतुलन बैठाने की कोशिश कर रहा था और दोनो से फायदा उठाने की कोशिश कर रहा था ? क्या गुट-निरपेक्षता ऐसी दुनिया मे कोई अहम् भूमिका निभा सकती थी जो सैनिक बल और आर्थिक शक्ति से शासित था, जहा सैद्धांतिक होड़ और सैनिक मुकाबला पनप रहे थे और परमाणु की सत्यानाशी भयावह सभावना जिसका सामना कर रही थी ?

कोरिया मे युद्ध विराम हुआ, जिससे एक देश, एक ही लोगों और एक राष्ट्र का दो भागों मे कृत्रिम बटवारा हुआ। 1954 के जिनेवा समझौते के बावजूद हिंद चीन मे युद्ध की आग सुलग रही थी। स्वेज का सकट सामने आ रहा था और 1956 मे उसकी परिणति युद्ध मे हुई। अदरूनी तौर पर भारत उत्तर-पूर्व मे बैरपूर्ण नागाओं के भूमिगत आंदोलन का सामना कर रहा था जिसे चीन और पाकिस्तान से शह मिल रही थी। पाकिस्तान कश्मीर मे गड़बड़ी फैलाने की बराबर कोशिश कर रहा था, भाषा के आधार पर भारत का बटवारा किये जाने के प्रयास जारी थे, खाद्य का निरंतर अभाव चल रहा था आदि। इन अंदरूनी और बाह्य मुसीबतो के बावजूद नेहरू देश मे शांति बनाये रखने और उन्नति करने, विदेशों मे गुटनिरपेक्षता को शक्तिशाली बनाने तथा भारत कोरिया, हिंद चीन, कांगो, स्वेज के संकट और अन्य स्थानो मे शांति बनाये रखने की भूमिका अदा करने मे सफल रहे। यह कैसे संभव हुआ ? क्या इस प्रकार की नीति और भूमिका अधिक दिनों तक चल सकती थी ? क्या अंदरूनी दबाव और बाहरी खिचाव उसके टुकड़े-टुकडे नही कर देगा ? तेजी से बदलती हुई दुनिया मे इस तरह की नीति को कैसे शक्तिशाली और स्थायी बनाया जा सकता है।

लगभग ढाई वर्ष पीकिंग मे रहकर मैंने बहुत कुछ सीखा और यह समय बहुत दिलचस्प रहा। एक बढ़ते हुए बच्चे के समान क्रांति के प्रारंभिक वर्ष बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। मैं प्राचीन चीन की भी कुछ चीजें देखना चाहता था। राजनयिकों के लिए समुद्र के किनारे बना हुआ सैरगाह पीटा हो, जहा पीकिंग से रेल द्वारा कुछ ही घटो मे पहुचा जा सकता है,

नगर था, जिसकी चिमनियां शहर भर में धुंआ उगलती रहती थीं, जैसा कि उन्नीसवीं सदी में मैनचेस्टर या वरमिंघम में होता था। शंघाई में, जिस पर ब्रितानी, फ्रांसीसी, जर्मन और जापानी सैनिकों का कब्जा रह चुका है, मुक्ति से पूर्व के पहले की तरह ही वहुत सी चीजों का मिश्रण नज़र आता है—घुड़दौड़ का वड़ा मैदान, भव्य रात्रि क्लव, शंघाई का मुख्य क्लव, वड़ी इमारतें जिनमें व्यापारिक कार्यालय हैं तथा 'दूसरा शंघाई', जहां चीन के औद्योगिक कामगार वड़ी संख्या में रहते हैं। संपन्न चीनी अव भी अपने स्पेनी नमूनों की वनी हुई कोठियों में रहते हैं, लेकिन उन्हें मालूम था कि एक दिन उन्हें ये घर छोड़ने होंगे और वे अपने परिवारों और अपने सामान को धीरे-धीरे हांग-कांग, सिंगापुर या पश्चिमी देशों में, जहां भी उनके कोई रिश्तेदार या परिचित रहते थे, धीरे-धीरे पहुंचा रहे थे। शंघाई अपनी पुरानी शानोशौकत के निशानों के वावजूद निराशाजनक स्थान था, कैंटन शायद औपनिवेशिक शोषण का सवसे जीता-जागता नमूना था जहां चीनी जनता मच्छरों, गंदगी और वीमारियों से भरी झोपड़ियों या सांपानों में रहती थी। कुछ पक्की इमारतों में विभिन्न कार्यालयों और विदेशियों तथा उच्च अधिकारियों के लिए होटल थे। कैंटन में सड़े अंडों और सड़ते हुए कूड़े के दुर्गंध आती थी, मुझे चीन के सभी शहरों में वही सवसे कम पसंद आया और पीकिंग सवसे अच्छा लगा।

सभी स्थानों के उपनगर वहुत सुंदर थे—वड़े जतन के साथ वोये गये खेत, कहीं थोड़ी सी जमीन भी वेकार नहीं थी—विशेषकर यांङ्त्से और पीली नदी के वीच के इलाके में शहर से वाहर कहीं-कहीं मंदिर और पगोडा दिखाई पड़ते थे। मिङ् जाति की कब्रें न केवल उनमें दफनाये गए राजाओं और रानियों की यादगार हैं वल्कि उन मूर्तिकारों की भी याद दिलाती थीं जिन्होंने उन पर नक्काशी की है। चीन की दीवार को ठीक ही दुनिया के सात आश्चर्यों में स्थान दिया गया है। यह दीवार चीन के अध्यवसाय, मेहनत और दूरदर्शिता के प्रति एक सम्मान है। वह इस वात की याद दिलाती है कि जव भी चीन स्वयं को असुरक्षित महसूस करता है तो वह अपने को वाकी दुनिया से अलग कर लेता है, 'विदेशी जंगलियों' को घृणा की दृष्टि से देखते हुए अपने ही भीतर सिमटता जाता है। जव उसकी फैलने की इच्छा वलवती होती है तो ऊंचे पहाड़ और प्राकृतिक वाधाएं उसका आगे वढ़ना रोक नहीं सकते—केवल मात्र 'सवसे वड़ी शक्ति' ही उसे रोक सकती है।

मैं हाङ्चाओ और सूचाओ गया, जो कि शंघाई से वहुत दूर नहीं हैं, और मैंने इन स्थानों को वहुत स्मरणीय पाया। हाङ्चाओ की झील और पहाड़ी पर स्थित मठ से चारों ओर का नजारा निहायत खूवसूरत था। मैंने भिक्षुओं के साथ मंदिर में खाना खाया। सारे पकवान निरामिष थे, लेकिन उन्हें इस तरह पकाया गया था कि देखकर लाल और सफेद मांस तथा मछली का भ्रम होता था। ऐसा कहा जाता है कि हाङ्चाओ और सूचाओ के लोगों की चमड़ी का रंग यहां की शीतोष्ण आवोहवा और समुद्री हवा के कारण सवसे सुंदर और सवसे अधिक मुलायम होता है। जैसे-जैसे उत्तर की ओर वढ़ते हैं लोग ज्यादा लंवे और ज्यादा हट्टे-कट्टे नजर आते हैं। गोवी के रेगिस्तान से सदियों में वहने वाली हवा का असर पुरुषों के चेहरों पर साफ नजर आता है लेकिन अधिकांश चीनियों की चमड़ी नरम होती हैं, उनके चेहरों पर झुर्रियां नहीं होतीं और उनकी उम्र का अनुमान लगाना कठिन होता है। ऐसा कुछ हद तक उनके जातिगत गुणों के कारण है और कुछ उनके भोजन का असर है।

मैं यह देखकर काफी प्रभावित हुआ कि नये चीन में किसी को खाने का अभाव न था। इसका एक कारण शायद यह था कि उन्हें खाने के वारे में कोई परहेज न था और

वे जीव-जंतुओं, कीड़े-मकोड़ों, चिड़ियों, बतखों, चूहों और यहां तक कि जंगली जड़ी-बूटियों, पत्तों और पेड़ की छालों से स्वादिष्ट पकवान तैयार कर लेते थे। चीन में एक कहावत प्रचलित है कि वह सभी कुछ खा सकते हैं जो सूरज के सामने होता है। यह कोई निंदनीय बात नहीं है। यद्यपि कोई इससे सहमत नहीं भी हो सकता है। चीन की पाचन कला, वहां की चित्रकला के समान ही उनकी उन्नत सभ्यता का प्रतीक है। यहां खाने की चीज ज्यादा पकायी नहीं जाती, ताकि उसका स्वाभाविक स्वाद नष्ट न होने पाये। लेकिन वह ब्रिटेन के खाने की तरह फीका नहीं होता या अमेरिका के खाने की तरह हल्का नहीं होता और न ही रूस के मास की तरह सख्त ही होता है या भारतीय भोजन की तरह खूब मसालेदार और खूब तला हुआ ही होता है। कुछ रेस्तराओं में जो चीनी खाना मिलता है वह असली चीनी खाना नहीं होता, जैसे 'चाओ मीन' लेकिन कोवलून, सिंगापुर और दुनिया भर की चीनी नगरियों में कुछ बढ़िया चीनी पकवान मिल जाते हैं। यह पता होना चाहिए कि कौन सी चीज खायी जाय और उसके साथ-साथ वही मात्रा में चीनी चाय पीनी चाहिए। चीनी लोग पंख, चमड़ी, मास, चिकनाई या हड्डी कोई भी चीज जाया नहीं जाने देते। बहरहाल चीन की मुख्य भूमि के एक बड़े क्षेत्र में कई पकवानों में मिर्च का इस्तेमाल नहीं किया जाता, जैसा कि हुनान (माओ त्से तुंग का निवास स्थान) स्जेचुआन और क्वाङ्‌ टुङ्‌ में किया जाता है। पिसी हुई लाल मिर्च को सरसों के तेल में खूब गर्म किया जाता है (जो कि लाचो के नाम से जाना जाता है) और उसे जब उबले हुए चावलों के साथ मिलाकर खाया जाता है तो उसे न केवल देखते ही भूख बढ़ जाती है बल्कि वह स्वादिष्ट भी होता है। दुख की बात है कि मैंडरीन को छोड़कर दिल्ली के किसी भी रेस्तरां में यह सीधा-सादा लेकिन स्वादिष्ट खाना नहीं मिलता है। चीनी खाने के बारे में इतना बताना ही काफी है; अधिक जानकार लोग इस बारे में बहुत कुछ लिख चुके हैं।

अमर और अद्वितीय 'स्वर्ण नगरी' 'मध्य साम्राज्य' की राजधानी पीकिंग चीन की साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक और अन्य गतिविधियों का केंद्र है। वह अपनी यह भूमिका इस तरह निभाती है कि चीन के अन्य किसी शहर में ऐसा देखने को नहीं मिलता। नानकिंग (दक्षिण की राजधानी) इस मायने में इसके काफी करीब है। लेकिन ठीक वैसी ही नहीं है। पीकिंग प्राचीन नगरी है और भारत के वाराणसी, बोधगया या मदुरै की तरह उसमें बहुत कुछ सहन करने की शक्ति है। मुझे पीकिंग छोड़कर जाने में बुरा तो लगा लेकिन घर लौटने की खुशी भी थी।

मेरे सम्मान में चीनी अधिकारियों, राजनयिक सहकर्मियों और मेरे दूतावास के लोगों द्वारा जितने भी विदाई भोजों का आयोजन किया गया उनमें से मुझे सब से अच्छा वह लगा जो हमारे दूतावास के चपरासियों और वाहन चालकों ने प्रसिद्ध पीकिंग डक रेस्तरां में आयोजित किया था। वे बातचीत करने में दक्ष थे और शुद्ध साहित्यिक भाषा में बोलते थे। मैं उनकी संस्कृति, हाजिर जवाबी और विनोदप्रियता से प्रभावित हुआ। वे दिल के सच्चे और निष्कपट थे और उन्होंने मुझे जो सहायता और सहयोग दिया और मेरे प्रति जो निष्ठा दिखाई उसके लिए मैं उनका आभारी हूं। मुझे याद नहीं आता कि उन्होंने मुझे कभी उनपर नाराज होने का मौका दिया हो। वे लोग मेहनती और ईमानदार थे और उन्हें अपने काम के बारे में याद दिलाने की जरूरत नहीं पड़ती थी। यह चीनी जाति की एक खासियत है जिसकी वजह से वे युगों तक अपना अस्तित्व बनाये रख सके हैं। किसी भी राष्ट्र की शक्ति, एक लड़ी के समान ही अंततः उसकी सब से कमजोर कड़ी पर निर्भर करती है।

नेहरू 1954 में चीन और 1955 में अमेरिका गये, 1955 में जब वह लौटे तो मैंने उनसे पूछा, "आप की धारणाएं क्या हैं" और आप दोनों की तुलना कैसे करेंगे ? उन्होंने मेरी ओर देखकर पूछा, "तुमने तो दोनों देशों में काम किया है, तुम उनका मूल्यांकन कैसे करते हो ?" मैंने इस प्रश्न को टालने की कोशिश करते हुए कहा, "मेरी धारणाएं अब पुरानी हो चुकी हैं और मैं अपने से वरिष्ठ व्यक्ति की धारणाएं जानने के लिए उत्सुक हूं।" वह मुस्कराये, कुछ समय तक सोचते रहे और फ़िर बोले, "चीनी मुझे रहस्यमय मालूम देते हैं, उनके मन में क्या है यह जानना कठिन है, वे कठोर-से-कठोर और बेरहम बात मुस्कराते हुए कह देते हैं।' माओ ने मुस्कराते हुए मुझ से कहा था कि वह परमाणु युद्ध से घबराते नहीं हैं। यदि 3 करोड़ चीनी मारे भी गये तो युद्ध को चलाने के लिए और भी तीन करोड़ बाकी रह जायेंगे, मैं सोचता हूं कि चीनी भाषा में मार्क्स के अनुवाद में क्या वही अर्थ भेद है जो अन्य भाषाओं में है। मार्क्सवाद की चीनी भाषा में व्याख्या भिन्न तरीके से की जा सकती है, लेकिन युद्ध, मृत्यु, तबाही, विज्ञान, टेक्नालाजी भौतिकी, रसायनशास्त्र और गणित की विभिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न व्याख्या नहीं हो सकती।" मैंने कहा कि रूसियों की बात करिये। ऐसा लगा जैसे उनके विचारों का तांता टूट गया और वह बोले, "ऐसा लगता है कि रूसी नेता स्थिर हो गये हैं। वे अधिक स्पष्ट भाषी हैं और प्रश्नों का सीधा-सादा जवाब देने के लिए उन्हें उकसाया जा सकता है। उनकी प्रतिक्रियाओं के बारे में अनुमान लगाया जा सकता है। परंतु चीनी मन में क्या सोच रहे हैं इसका पता नहीं होता और उनकी ओर से अप्रत्याशित प्रतिक्रियाओं के लिए तैयार रहना पड़ता है। कुछ हद तक इसका कारण शायद उनका अलग-थलग होना है लेकिन मैं सोचता हूं कि इसका प्रमुख कारण चीनी लोगों की अपनी प्रकृति है।"

नेहरू को विचारशील मूड में देखकर मैंने उनसे यह पूछने की हिम्मत की कि एक खास परिस्थिति में वे चीनियों के साथ कैसे व्यवहार करेंगे, विशेषकर तब जबकि उनके साथ पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर किये जा चुके हैं। नेहरू ने कहा कि यह एक बहुत बड़ा सवाल है और समस्याएं सामने आने पर हर समस्या को अलग-अलग सुलझाने की कोशिश करनी चाहिए और ऐसा करते हुए हमें युद्ध से बचने, अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने और शांतिपूर्ण बातचीत से समस्याओं का समाधान करने की मोटी बातों को भूलना नही चाहिए। पर साथ ही हमें हर संभावना के लिए तैयार भी रहना चाहिए।

यह उन दिनों की बात है जब 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का नारा लगाया जाता था। नेहरू को चीन से आशाएं थी लेकिन उनके बारे में कोई गलतफहमी नहीं थी। वह इस बारे में निश्चित नहीं थे कि वे भविष्य में कैसा बर्ताव करेंगे। वह चाहते थे कि भारत हर संभाव्य घटना के लिए तैयार रहे और साथ ही शांति के हर संभावित मार्ग की खोज करता रहे।

7
स्वदेश वापसी

अपनी जन्मभूमि में ऐसा कुछ होता है जो इंसान की रग-रग में बसा होता है और वह कभी नहीं मिटता, वह सतह पर नहीं आता और न ही आंखों से दिखायी पड़ता है। लेकिन वह सदा मौजूद रहता है। इसीलिए रूस के आप्रवासियों की नाखुशी समझ में आती है जो हमेशा रूस की याद में खोये रहते हैं। यद्यपि विदेश में रहने वाले चीनी भावुक कम और व्यावहारिक अधिक होते हैं लेकिन फिर भी वे चीन को ही अपनी 'पितृभूमि' मानते हैं। विदेश के भारतीय भी इस विषय में अपवाद नहीं और विदेशों में अपेक्षाकृत अधिक संपन्न जीवनयापन करने के बावजूद उन्हें शायद अपनी मातृभूमि से अधिक लगाव है। मैं 15, जुलाई, 1947 से लेकर छह वर्ष से कुछ कम समय तक बाहर रहा, और स्वतंत्र भारत की जमीन पर कदम रखते हुए मैंने रोमांच और उत्तेजना महसूस की। विदेशी सरकारों और व्यक्तियों के सामने भारतीय नीति की व्याख्या एक बात थी लेकिन उनके प्रत्यक्ष प्रभाव की अनुभूति, उन्हें आरंभ में बढ़ते और विकसित होते देखना तथा देश में उनको सूत्रबद्ध करने में योगदान देना ये सब अधिक उत्तेजक थे।

इन छह वर्षों में ऊपर से तो भारत बहुत बदल चुका था, गांधी के भारत से लेकर—स्वतंत्रता संग्राम, उपमहाद्वीप को खंडित होने से बचाने का घोर प्रयास, सांप्रदायिक दंगे, भारत का विभाजन, लगभग एक करोड़ विस्थापितों का आना-जाना—नेहरू के भारत तक—अधिक स्थिर लेकिन आकार में छोटा, सैनिक महाशक्तियों के गुटों से अलग रहने का प्रयास, एशियाई एकता की भावना पैदा करने की कोशिश, उपनिवेशवाद और जाति भेद की नीतियों का विरोध, कश्मीर से कन्याकुमारी तक संयुक्त भारत की नींव रखना, लगभग 500 रियासतों का भारतीय संघ में विलयन (इसका श्रेय सरदार पटेल को है), 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना का श्रीगणेश तथा सिंचाई और विद्युत शक्ति के लिए विशाल बहुउद्देशीय बाँधों के निर्माण की शुरुआत आदि।

जब गांधी को एक कट्टर हिन्दू ने गोली से मार डाला था, तब मैं मास्को में था और अकेला अपने होटल के कमरे में फूट-फूटकर रोया था। हमने अपने को असहाय महसूस किया और तब तक हमें इस बात का एहसास नहीं हो पाया था कि गांधी हमारे दिलों और आत्माओं की कितनी गहराई तक पहुंच चुके थे, जैसा कि नेहरू ने 30 जनवरी 1948 के शोकपूर्ण दिवस पर अपने प्रसारण में कहा था, "हमारी जिन्दगी से रोशनी खत्म हो गयी है।"

लेकिन नेहरू गांधी के योग्य उत्तराधिकारी साबित हुए और गांधी द्वारा उन्हें अपना राजनैतिक वारिस चुने जाने को उन्होंने चरितार्थ किया। कभी-कभी उनकी विदेश नीति की सफलता, उनकी आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से नये भारत की रचना की विशाल जिम्मेदारी को ढक लेती थी। उन्होंने न केवल विदेशों में एक स्वतंत्र शांतिप्रिय देश के रूप में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ायी, बल्कि एशियाई और अफ्रीकी देशों में एक नया गर्व और चेतना जागृत की। उन्होंने सफलतापूर्वक गुट निरपेक्षता की नीति की शुरुआत की और उसे नवस्वतंत्र देशों का समर्थन मिलने लगा।

वह एक विश्वव्यापी आंदोलन वन गया, लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण वात यह थी कि उन्होंने भारत में एक लोकतंत्रीय ढांचे की नींव डाली और उसे न केवल एक राजनैतिक अर्थ प्रदान करने की चेष्टा की वल्कि सामाजिक और आर्थिक महत्व भी प्रदान किया। जिसके विना वह जीवित नहीं रह सकता था। वह जल्दवाजी में काम निपटाने वाले व्यक्ति थे, क्योंकि ऐसी विशालकाय समस्याएं सुलझानी थीं जिनका संवंध 40 करोड़ लोगों के जीवन से था, जिनमें से अधिकांश गरीवी की रेखा से नीचे या मात्र जीवन धारण करने के स्तर पर रह रहे थे।

गांधी के देहांत के वाद, नेहरू और पटेल ने अपने व्यक्तिगत और सैद्धांतिक मत-भेदों को भुला दिया और दिसंवर 1950 में पटेल की मृत्यु तक मिलजुल कर काम किया। मानसिक तौर पर एकाकी होने के वावजूद नेहरू अकेले नहीं थे। मौलाना आजाद, सरदार पटेल, गोविंद वल्लभ पंत और अन्य उनके सहयोगी थे जो लंवे अर्से तक चलने वाले स्वतंत्रता संग्राम में उनके साथ रहे, लेकिन उन्हें अधिकांश भारतीयों के प्रेम और आदर तथा उनके प्रति उनके विश्वास और समर्थन से सवसे अधिक वल मिला। इसीके सहारे वह कई कठिन समस्याओं और कड़े दिनों के बीच से गुजरे। वदले में उन्होंने अपना विश्वास, इरादा और दृढ़ संकल्प जनता को सौंपा। नेहरू हमारे मानस और युक्ति को स्पर्श करते थे। उन जैसे व्यक्ति के अधीन काम करना सौभाग्य और गर्व की बात थी। मैं नेहरू के भारत में लौटकर प्रसन्न हुआ, जो आशा और कर्म से स्पंदित हो रहा था।

विदेश मंत्रालय में संयुक्त सचिव (पूर्वी क्षेत्र) की हैसियत से मुझ पर पूर्व एशिया, दक्षिण पूर्व एशिया उत्तरी हिस्सा (नेपाल, भूटान, सिक्किम) और नेफा (अव अरुणाचल) तथा उत्प्रवासन के महा-निदेशक का कार्यभार था। मंत्रालय में योग देने के तत्काल वाद मैंने नेफा का दौरा किया। रूस और चीन में मैंने 'अल्पमतों' को जैसे देखा था और उनके वारे में जो कुछ पढ़ा था, उसकी वजह से इस दौरे ने मुझे मंत्रमुग्ध कर दिया। मैंने एक रपट पेश की जिसे नेहरूजी ने, कुछ व्यावहारिक और सैद्धांतिक परिवर्तन किये जाने के वावजूद, शायद उसे पसंद किया। उन्होंने उसे संवद्ध मंत्रालयों में प्रचारित किये जाने के आदेश दिये ताकि उचित कार्रवाई की जा सके।

1953 के शुरू में एक शाम को नेहरू ने कुछ भारतीय और विदेशी उच्च धिकारियों को रात के खाने पर आमंत्रित किया था, जिनमें श्रीमती माउंटवैटन, श्री वी० एन० राऊ और अन्य शामिल थे। मुझे भी आने के लिए कहा गया था। खाने के वाद जव सिगार पेश किये गये, मैंने एक डिब्वे में झांककर देखा कि उसमें क्यूवा के एक फुट लंवे सिगार थे, जिन्हें क्यूवा के एक प्रतिनिधि मंडल ने नेहरू को भेंट किया था। मैंने हिम्मत करके एक उठा लिया और जलाने से पहले जव मैं उसे हाथ में लेकर घुमा रहा था तो नेहरू ने मेरे हाथ में वह लंवा सिगार देख लिया। उन्होंने कहा, "नौजवान, तुम इस सिगार का ठीक-ठीक इस्तेमाल कर रहे हो! क्या राजनयिक सेवा में तुम लोगों को यह भी सिखाया जाता है?" मैंने हिम्मत वटोर कर जवाव दिया, "जनाव, मैं क्यूवा का असली सिगार पीने के लालच से अपने आपको रोक न सका।" वह मुस्कराकर वोले, "कल सुवह सात वजे पालम हवाई अड्डे पर पहुंच जाना। तुमने रूस, अमेरिका और चीन का तो कुछ-कुछ देख लिया है। अव मैं चाहता हूं कि तुम भारत का भी कुछ देखो।"

मैं समय से पांच मिनट पहले ही पालम पहुंच गया क्योंकि मुझे पता था कि नेहरू समय के वहुत पावंद हैं। मुझे वंद गले का कोट और पतलून पहने देखकर उन्होंने मुझसे छेड़खानी के लहजे मे कहा, "अच्छा, तो तुम चीनी वन गये हो?" मैंने जवाव दिया, "चीनी वर्दी मे अलग से एक दोहरा कालर होता है जवकि मेरा भारतीय कालर एक ओर

पिछली बार से ज्यादा तेज थी। नेहरू जनता को उत्तेजित करने वाला भाषण नहीं देते थे बल्कि सीधी-सादी भाषा बोलते थे, जो कि आम आदमी की समझ में आ जाती थी और उसके शब्द उसकी मूल आवश्यकताओं को स्पर्श करते थे। लेकिन कभी-कभी वह विदेश नीति और अंतर्राष्ट्रीय मामलों के क्षेत्र में भटक जाते थे। और अणु युद्ध के खतरों, निशस्त्रीकरण की जरूरत आदि की ओर संकेत करते थे। इसमें से अधिकांश उन के सीधे-सादे श्रोताओं की समझ से परे होता था। लेकिन फिर भी उन्हें ध्यान से देखना तथा सुनना उनको प्रिय था। जनता के साथ ऐसा उनका संबंध था।

अमेरिका में अभ्यास के बाद दिये जाने वाले भाषणों और स्तालिन के रूस और माओ के चीन के बराबर दोहराये जाने वाले लिखित भाषणों के बाद यह एक मर्मस्पर्शी अनुभव था। क्या भारत के लोकतंत्रीय प्रयोग सफल होंगे जबकि अन्य असफल रहे हैं? क्या नेहरू राजनीतिकों और अफसरशाही को प्रेरणा प्रदान कर सकेंगे? जनता में उत्साह भर सकेंगे और नये भारत के निर्माण के महाअभियान में उनके योगदान की भावना उनमें जागृत कर सकेंगे जैसाकि वह कहा करते थे? मैंने अपनी आंखें और कान खोल रखे थे और जनसाधारण में नेहरू के विश्वास और आम जनता के लिए उनके स्नेह की नयी अनुभूति का अनुभव कर रहा था।

कोनार से हम नाव में बैठ कर माइथॉन बांध के पास स्थित झील देखने गये। नेहरू की पुत्री इंदिरा गांधी के अलावा पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री डा० विधानचंद्र राय तथा बिहार के मुख्यमंत्री एस० के० सिन्हा भी हमारे साथ थे। इंदिरा गांधी उन दिनों पृष्ठभूमि में रहती थीं और अपने पिता की देखभाल करना ही उनका मुख्य काम था। अपने पिता के साथ कई जगह सफर करना और केवल किताबों के माध्यम से ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष रूप से भारत को जानना उनके लिए काफी शिक्षाप्रद रहा होगा। वह शर्मिली, सीधी-सादी, अलग रहनेवाली और शांत स्वभाव की थीं तथा दलीय राजनीति में ज्यादा दिलचस्पी नहीं दिखाती थी। 1959 में उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। प्रेक्षक की हैसियत से वह तीक्ष्ण नजर रखती थीं और उस समय भी नेहरू उनके विचारों पर ध्यान दिया करते थे।

उसके बाद हम हवाई जहाज से जमशेदपुर पहुंचे जहां हमने रात को तेज रोशनी वाले बल्ब की सहायता से इस्पात का कारखाना और पिघले हुए लोहे को सांचे में ढाल कर आकार देते हुए देखा। प्रबंधकों और मजदूरों में कोई मतभेद और विभिन्न मजदूर संस्थाओं में प्रतिस्पर्द्धा चल रही थी। टाटा परिवार किसी तरह कुछ समय के लिए उन्हें शांत रखने के लिए सफल हुए थे। मैं सोचने लगा कि हम उद्योग में हिस्सा देकर उन्हें भागीदार क्यों नहीं बना सकते, ताकि उन्हें इतनी जल्दी-जल्दी हड़ताल करने का मौका ही न प्राप्त हो। माओ के चीन और स्तालिन के रूस में हड़तात नहीं होती और हड़ताल करने की इजाजत भी नहीं है। हम हमेशा केवल पश्चिमी पूंजीवादी देशों के ढर्रे पर ही क्यों चलें और उनके विचारों को ही क्यों अपनायें जो हमसे बिल्कुल मेल नहीं खाते? हम प्रबंध के मामलों में मजदूरों की आवाज क्यों नहीं सुनते तथा उन्हें उद्योग में भागीदार का हक क्यों नहीं देते? ताकि हड़ताल करने के लिए उन्हें कोई प्रोत्साहन नहीं मिले? बहरहाल, मैंने उन विचारों को अपने तक ही सीमित रखा, ताकि मैं अक्खड़ और दुराग्रही न माना जाऊं। वैसे मैंने नेहरूजी से यह बात कह दी थी कि कुछ मजदूरों को उनसे मिलने नहीं दिया गया है। वह बहुत नाराज हुए, उन्होंने उनके मुखिया को बुलाया और मजदूरों की शिकायतों को सुना जिससे उन्हें कुछ तसल्ली हुई।

वहां से हम मणिपुर में इंफाल जाने के लिए कलकत्ता रवाना हुए। वह वादी

कितनी शांतिपूर्ण थी, वहां के लोग कितने मनमोहक, साफ-सुथरे और सीधे सादे थे। गाना, नृत्य और नाटक के गुणों से भरपूर। हमने उनके कुछ सांस्कृतिक कार्यक्रम देखे और उनके ग्रामोद्योग केन्द्रों में गये जहां वे बहुरंग के धागों से बुनकर अतिसुंदर नमूने बनाते थे। मुझे वहां की स्थानीय राजनीति में दिलचस्पी नहीं थी लेकिन जब माऊ नागाओं के नेता दाइहो और कुछ कुकि जाति के नेता मुझसे मिलने आये तो मुझमें दिलचस्पी पैदा हुई, नेफा में भी कुछ नागा जातियां थीं और फ़िज़ो के नेतृत्व में नागा पहाड़ी जिले के आंदोलन को तुएनसाङ फ्रंटियर डिविजन (तब नेफा में शामिल था) तक पहुंचने से रोकना था, कुकियों और माऊ नागाओं की आपस में बनती न थी, न ही मणिपुर घाटी के माइतियों से उनकी मित्रता थी, मणिपुर के तामेनलॉङ उपखंड में रानी गिदेलोइ तब भी बहुत लोकप्रिय थीं और वह फ़िज़ो के बहुत खिलाफ थीं। नागा पहाड़ी जिलों में तब तक हिंसा की आग भड़की नहीं थी, तब तक फ़िज़ो 'शांतिपूर्ण' आंदोलन ही चला रहे थे। असम सरकार के जिम्मे सारा मामला सौंप दिया गया था जिसने नागाओं के साथ दुर्व्यवहार करके असमिया या गैर नागा अधिकारियों को उनका प्रशासन चलाने के लिए भेजकर सारे मामले को जटिल बना दिया था, ये अधिकारी नागाओं को नीची नजरों से देखते थे और इनके बीच कोई सहृदयता नहीं थी। मुख्यमंत्री और अन्य मंत्रीगण एक बार भी कोहिमा और मोकोकचङ ने आगे नहीं भेजे गये थे।

नेहरू ने बर्मा के प्रधानमंत्री ऊ नू को आमंत्रित किया था कि वह आकर भारत के नागा क्षेत्रों का दौरा करें और ऊ नू ने उन्हें निमंत्रण दिया था कि वह साथ के बर्मा के नागा क्षेत्रों को आकर देखें। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि आपस में विचारों और अनुभवों का आदान-प्रदान किया जाये तथा एक ऐसी सहकारी और समन्वित योजना बनायी जाये जो दोनों क्षेत्रों के लिए हितकारी हो, ताकि एक की समस्याएं दूसरे तक पहुंचने न पायें। ऊ नू अपने मुख्य सचिव को साथ लेकर नेहरू से मिलने इंफाल आये। कोहिमा जाते हुए इंफाल और माऊ में होने वाले वार्तालाप अच्छे रहे और कबायली लोग नेहरू और उनके महत्वपूर्ण मेहमान का स्वागत करने के लिए अपनी औपचारिक वेश-भूषाओं में वहां पहुंचे। बहरहाल कोहिमा कुछ और ही जैसा लगता था, जिसका श्रेय मुख्यमंत्री और उनके कार्यकर्ताओं के गलत अनुमानों, काम करने के गलत तरीकों और ख्वाहिशों को दिया जा सकता है। यद्यपि गुप्तचर विभाग को यह सूचना मिल गयी थी कि कोहिमा में नागा शायद प्रधानमंत्री की सभा का बहिष्कार करेंगे लेकिन असम सरकार की धारणा यही थी कि यह एक झूठी चेतावनी मात्र है। उन्होंने शायद यह सोचा था कि उस नेहरू की आवभगत करने में नागा पीछे नहीं रहेंगे जिन्होंने उनके लिए इतना कुछ किया है। वे (असम सरकार) अपने हितों के लिए उनकी और ऊ नू की उपस्थिति का फायदा उठाना चाहती थी।

नेहरू दिल से लोकतंत्री थे और राज्यसरकार के निर्णय के बारे में तब तक कोई प्रश्न नहीं उठाना चाहते थे जब तक उसके खिलाफ उन्हें कोई सबूत न मिल जाये। कुछ युवा नागा, जिनमें फ़िज़ो के नागा नेशनल काउंसिल के जनसंपर्क अधिकारी भी शामिल थे, मुझसे मिलने आये और मुझे अपने कार्यालय में आने का निमंत्रण दिया जहां मैंने उनके साथ बांस के प्यालों में ज़ू (नागा बीयर) पी। उन्होंने मुझे बताया कि अगर नेहरू ने नागा नेशनल काउंसिल को अपना स्मरणपत्र पेश करने की इजाजत नहीं दी तो वे सभा छोड़कर चले जायेंगे। मैंने नेहरू को यह बात बता दी, लेकिन उन्होंने उसे अनसुनी कर दिया, क्योंकि मुख्यमंत्री ने उन्हें इसके विपरीत आश्वासन दिया था, लेकिन हुआ वही जो युवा नागाओं ने मुझे बताया था और जिसकी पूर्व चेतावनी गुप्तचर विभाग ने दे दी थी।

आनुपातिक पेंशन की सुविधाओं के साथ अवकाश दे दिया और जिन्हें उन्होंने नयी व्यवस्था के लिए उपयुक्त समझा उन्हें बर्मा के नये वेतनमान देकर दोबारा रख लिया। उनकी समस्या उतनी बड़ी नही थी जितनी हमारी थी। बर्मा मे जितने भारतीय जनसेवा अधिकारी रह गये थे उनकी संख्या 50 के लगभग थी, जबकि भारत मे इनकी संख्या दस गुना से भी अधिक थी। बर्मा में भारत जैसी शक्तिशाली जनसेवा नही थी। भारत का राजनैतिक नेतृत्व भी अधिक सहनशील था और सरदार पटेल ने भारतीय जनसेवा के सदस्यों को आश्वासन दिया था कि उनके अधिकार और सुविधाएं पूरी तरह सुरक्षित रहेंगे।

मैंने भारतीय जनसेवा के कुछ कम वयस्क अधिकारियो से सलाह मशवरा किया और हमने महसूस किया कि सुविधाओं को सुरक्षित रखने की जरूरत समाज के कमजोर वर्गों की रक्षा करने के लिए है न कि भारतीय जनसेवा अधिकारियों के लिए है, जो दावा करते हैं कि वे अपने गुणो के आधार पर हकदार हैं और वे दुनिया की किसी भी जनसेवा की बराबरी कर सकते हैं। नेहरू के निर्देशानुसार मैंने सुझाव दिया कि सिद्धांत रूप में हमे बर्मा की नीति का अनुसरण करना चाहिए। मुझे पूरा विश्वास था कि इस सेवा के कम वयस्क सदस्य नये वेतनमानों को स्वीकार कर लेंगे, यद्यपि कुछ वयस्क और वरिष्ठ सदस्य अवकाश लेना चाहेंगे, उन्हें यह फैसला करने का हक होगा कि वे अपनी पेंशन के साथ नये वेतनमानों पर पुर्नानियुक्ति स्वीकार करते हैं या नही। बहरहाल, यह सरकार पर निर्भर करता था कि वह नयी जरूरतों को नजर मे रखते हुए उन्ही को नियुक्त करे जो उसके काम आ सकें। इससे भारतीय जनसेवा और अन्य अखिल भारतीय सेवाओं का फर्क मिट जाता।

नेहरू ने धैर्यपूर्वक मुझे सुना, मुस्कराये और फिर बोले, "लेकिन क्या आप अपने वरिष्ठ अधिकारियो को इस बारे मे राजी करा सकेंगे कि वे खुद ही अपनी सुविधाओं को वापस करने के लिए तैयार हो जायें और आपके सुझावों से सहमत हों।" नौकरी करते हुए मैंने पहली बार नेहरू को 'न' कहा और आगे बताया, "आप ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो यह काम कर सकते हैं।" वह चाहते थे कि भारतीय जनसेवा का समाधान वहीं से मिल जाये, बनिस्वत इसके कि उन पर थोपा जाये। यह एक आदर्शवादी और लोकतन्त्रीय नजरिया था, लेकिन मुझे उसकी सफलता के बारे मे संदेह था।

कुछ दिनों बाद भारत सरकार के तीन वरिष्ठ सचिवों ने मेरी उपेक्षा की, जिन्होंने मुझे 'विश्वासघाती' कहा। नेहरू ने इस बारे में उनसे बात की थी, वे तथा इस सेवा के कुछ अन्य वरिष्ठ सदस्य स्वेच्छा से केवल छोटी-छोटी सुविधाएं ही छोड़ने को तैयार थे, जैसे हर तीसरे वर्ष ब्रिटेन की मुफ्त यात्रा, जो कि अब तक पुराना पड़ चुका था और केवल वही इसका फायदा उठाते थे जिन्होंने 1924 से पहले इस सेवा मे प्रवेश किया था, इस तरह भारतीय जनसेवा और नयी अखिल भारतीय सेवाओं को जोड़ने के लिए नेहरू द्वारा किया गया प्रयास खत्म हो गया, कोई भी सुविधाभोगी कानूनी दबाव के बिना अपनी सुविधाओं को छोड़ने के लिए तैयार नही होता, चाहे वे जमींदार हो, राजा-महाराजा हों या भारतीय जनसेवा के सदस्य हो। वह यह जानते हुए भी वे भारतीय जनसेवा पर इस तरह का दबाव नही डालना चाहते थे क्योंकि सरदार पटेल ने उन्हें आश्वासन दिया था और नेहरू उसके खिलाफ जाना नही चाहते थे। वह जरूरत से ज्यादा लोकतंत्र मे विश्वास रखते थे और कानूनी कार्रवाई करने से पहले सिखा-पढ़ाकर, समझा-बुझाकर काम हासिल करना चाहते थे। इसका नतीजा यह होता था कि उनकी बहुत-सी दूरदर्शी नीतियो को बाधाओ का सामना करना पड़ता था। निहित स्वार्थ वाले अफसर और राजनीतिक उन्हें लागू होने से पहले ही ध्वस्त कर देते थे।

एक रविवार की सुवह, जव नेहरू निश्चित रूप से अपने दफ्तर के काम किया करते थे, मैंने उन्हें आराम की मुद्रा में पाकर पूछा, "आप ऐसे व्यक्तियों को चोटी के महत्वपूर्ण पदों पर क्यों रखते हैं जो आपकी नीतियों और आदर्शो में विश्वास नहीं करते ?" उन्होंने कुछ देर सोचने के वाद जवाव दिया, "इसलिए, नौजवान कि जो मेरी नीतियों और आदर्शों में विश्वास रखते हैं वे तो सदा मेरे साथ रहेंगे, लेकिन अन्य लोगों को —जिनकी संख्या कुछ कम नहीं—मुझे साथ लेकर चलना है," यही उनके काम करने का तरीका था लेकिन वाद के वर्षो में वह कारगर सावित नहीं हुआ, यद्यपि उन्होंने भूमि सुधार लागू करने के लिए संविधान की धारा 31 में संशोधन करने का साहसी कदम उठाया था लेकिन वह कमोवेश कागज पर ही रहा और अधिकांश राज्यों में उसे लागू नहीं किया है, जहां कांग्रेस पार्टी के अधिकांश सदस्य भूमि पर निर्भर करते थे, या जमींदार वर्ग के थे। लेकिन हिंदू कोड रिफार्म बिल को पास करने के वारे में उनका ज़ोर देना इस वात की मिसाल है कि वह हिंदू समाज में एक खामोश और शांतिपूर्ण क्रांति लाने में इसलिए सफल हुए क्योंकि वह अडिग रहे, यद्यपि अछूतों की भलाई के लिए गांधीजी क्रांति लाये थे, लेकिन अस्पृश्यता के मामले में कानून लगभग चुप ही था, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में रूढ़िवाद और जातिवाद वड़े पैमाने पर पनप रहे थे। और राज्य सरकारों में राजनैतिक चेतना भी नहीं थी।

विनोवा भावे द्वारा पदयात्राओं और भूदान के माध्यम से प्रयास किये जाने के वावजूद जगीदार केवल अपनी ऊसर जमीन देने के लिए ही तैयार हुए, विनोवा की एक यात्रा के दौरान नेहरू उनसे विहार में मिलने गये, जहां वहां मलेरिया के कारण वीमार पड़े थे, लेकिन अंग्रेजी दवाई लेने से इनकार कर रहे थे, नेहरू ने उनसे आग्रह किया कि वह मलेरिया निरोधक दवाई का सेवन करें जिसमें 99.5 प्रतिशत पानी ही होता है। लेकिन विनोवा राजी नहीं हुए, फिर उन्होंने 'हाल ही में चीन से लौटे हुए युवा राजनयिक' कहकर मेरा परिचय विनोवा से कराया। मैंने नेहरू की उपस्थिति में विनोवा से यह पूछने की हिम्मत की कि उन्हें भूदान में जो जमीन मिली है उस पर सामूहिक कृषि का प्रयोग करना क्या उचित नहीं होगा, (जैसाकि चीन में किया गया था), उन्होंने वहुत नरमी से जवाव दिया, "ऐसा करना वहुत आसान नहीं है, क्योंकि भारत का किसान अपनी भूमि से जुड़ा हुआ है, एक मध्य मार्ग के तौर पर मैंने सहकारी कृषि का सुझाव दिया, जहां निजी स्वामित्व तो रहेगा लेकिन महंगे औजारों, साज सामान, तथा अन्य सेवाओं और निवेशों में साझेदारी रहेगी। उन्होंने जवाव दिया कि इस वारे में वह खोज-वीन करेंगे।

मैं विनोवा की नम्रता, सादगी, निष्कपटता, ईमानदारी और सच्चाई तथा अहिंसा के प्रति उनके समर्पण से वहुत प्रभावित हुआ। लेकिन मैं यह भी सोचता था कि क्या उनके तरीके सचमुच हमारी विशाल कृषि समस्या को सुलझाने में कारगर सावित होंगे ? क्या वह मानव स्वभाव को पूरी तरह वदल कर एक 'नये मानव' के निर्माण का प्रयत्न नहीं कर रहे थे, जैसा कि साम्यवादियों ने करने की कोशिश की और असफल रहे ? वहरहाल, उन्होंने राष्ट्र भर में कृषि समस्या के वारे में एक जागृति पैदा कर दी, जैसाकि गांधी ने अस्पृश्यता के वारे में किया था। इससे भूमि सुधार की शुरुआत करने और उसे राष्ट्रीय स्तर पर लागू करने के लिए पृष्ठभूमि और अनुकूल वातावरण तैयार किया जा सकता था।

नेहरू के एक सप्ताह के दौरे का अंतिम चरण सिल्चर और लुशांई पहाड़ियों में स्थित आइजोल में था जो अव मिजोरम के नाम से जाना जाता है। नागाओं के विपरीत लुशाई या मिजो जाति के लोग मृदुभाषी और नम्र व्यवहार करने वाले थे। उन्हें सुरीले,

इस तरह नेहरू के साथ एक सप्ताह का दौरा समाप्त हुआ। लोगों में नेहरू का विश्वास तथा लोकतंत्र में उनके विश्वास और गंभीर समस्याओं का सामना करने के उनके शांतिपूर्ण तरीकों से मैं विशेष प्रभावित हुआ। मैं अपने छात्रजीवन से ही, जब पहली बार इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उन से मेरी मुलाकात हुई थी, नेहरू का प्रशंसक था। मैंने प्रधानमंत्री नेहरू में क्रांतिकारी आदर्शवादिता की वही पुरानी चिनगारी, कभी-कभी नाराजगी के दौर और अकुशलता के प्रति उनकी धैर्यच्युति ये सभी कुछ देखे, लेकिन उपलब्ध साधनों के प्रति उनका नजरिया नर्म और सहिष्णु हो चुका था। वह तानाशाह बन सकते थे और काम झटपट करवा सकते थे, लेकिन उन्होंने धीमे और शांतिपूर्ण लोकतांत्रिक तरीकों को ही ज्यादा पसंद किया।

8
नेहरू और विदेश मंत्रालय

विदेश कार्यालय में काम दिलचस्प तो था लेकिन उसका प्रमुख कारण नेहरू का प्रेरणादायक नेतृत्व और मार्गदर्शन था। वे काम करने के लिए वातावरण और मिसाल कायम करते थे, कार्यकुशलता का ऊंचा स्तर निभाते थे। काम झटपट निपटाते थे, स्पष्ट और अकाट्य आदेश देते थे, अक्सर ही हमारे प्रारूप पेश करने से पहले ही विभिन्न स्थितियों से संबद्ध आदेश तार द्वारा भेज दिया करते थे। बावजूद इस सबके देश और विदेशों के लंबे दौरों और प्रतिदिन 3-4 घंटे मेहमानों से बातचीत करने के लिए समय निकाल लेते थे। वह योजना आयोग के अध्यक्ष और आणविक ऊर्जा मंत्री होने के साथ-साथ प्रधानमंत्री और विदेशमंत्री भी थे। वह दिन भर में 14 घंटे और कभी कभी 16 घंटे काम किया करते थे लेकिन फिर भी उनमें स्फूर्ति की कमी नहीं थी। ऊपर की मंजिल पर जाने के लिए उन्होंने कभी लिफ्ट का प्रयोग नहीं किया था बल्कि 2 से 3 सीढ़ियां एक साथ कूदकर चढ़ते थे। उनकी गति से गति मिलाकर चलना कठिन होता था। उनकी मिसाल हमें प्रेरणा देती थी और हम अपनी क्षमता के अनुसार अच्छे से अच्छा काम करने की कोशिश करते थे।

नेहरू पहल करने और काम में आगे आने वालों को प्रोत्साहन देते थे तथा समझदार, ईमानदार और सच्चे दिल से दी गयी सलाह की कद्र करते थे, चाहे वह उस से सहमत न भी हों। नेफा सीधा हमारे मंत्रालय के अधीन था और उत्तरी खंड (नेपाल, भूटान तथा सिक्किम) मुख्यतः इन राज्यों के शासकों और लोगों के साथ व्यक्तिगत संपर्कों पर निर्भर था। इन क्षेत्रों के मामलों को लेकर मैं नेहरू से सीधा संपर्क कर सकता था। वह काम से मतलब रखते थे, जो कहना हो थोड़े में कह डालते थे और बेकार की बातचीत में वक्त बर्बाद नहीं करते थे। लेकिन वह शिष्ट, मानवीय और दूसरों का ख्याल करने वाले थे, तथा आपके विचारों को सुनने के लिए राजी रहते थे। उनका अपना तरीका यह था कि वह हर समस्या को विश्व के परिप्रेक्ष्य में देखते थे, कि वह भारत के राष्ट्रीय हितों को कैसे प्रभावित करता है, और अन्य देशों तथा विश्व शांति से भारत के क्या संबंध हैं। वह शांति बनाये रखने और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को शांतिपूर्ण तरीकों से सुलझाने के कायल थे। वह अक्सर ही शांति के क्षेत्र और वातावरण को विस्तृत बनाने की बात किया करते थे।

नेहरू अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि और शिक्षा के कारण अभिजात वर्ग के लगते थे, लेकिन वह अपने समय के महान लोकतंत्री थे। पहली बार 1936 में प्रकाशित उनका गुमनाम नाम से लिखा हुआ निबंध आत्मालोचना का एक उत्कृष्ट उदाहरण है, संसद और संसदीय परंपराओं के लिए उनके मन में कितना सम्मान था यह तो सभी जानते हैं। दिल्ली में रहते हुए वह कभी संसद में हाजिर रहने से नहीं चूकते थे और सारा दिन साथ वाले कमरे में, जो उनका कार्यालय था, बिताया करते थे, मुसीबत में पड़े अपने किसी सहकर्मी की सहायता करने के लिए, गैरसंसदीय बर्ताव पर नाराजगी जाहिर करने के लिए या अपनी नीतियों और विभागों का समर्थन करने के लिए सदन में झटपट पहुंच

जाते थे। सदन के भीतर और बाहर वह सबको व्यस्त रखते थे। अक्सर ही वह सदन में पूछे जाने वाले सवालों के जवाबों के लिए लिखे जो प्रारूप हम पेश करते थे उन्हें दोबारा स्वयं लिखा करते थे। उनके जवाब हमेशा ईमानदार, सच्चे और अधिक से अधिक जानकारी देने वाले होते थे तथा टालने वाले या सिर्फ तकनीकी नहीं होते थे।

वह मंत्रालय के सचिवों और सहसचिवों तक को सिर्फ 'नमस्ते' करने के लिए उनके कमरों तक पहुंचने का समय निकाल लेते थे और उनके काम करने का तरीका देखते थे। 1955 की एक दोपहर को वह बिना सूचना दिये मेरे कमरे में चले आये और बोले, "टिक्की, तुम अपने हिंदी के नामपट्ट पर अपने आपको 'संयुक्त सचिव' लिखवाना क्यों पसंद करते हो? इसका अर्थ तो 'मिला हुआ' होता है, संयुक्त सचिव नहीं।" मैंने झेंपकर उत्तर दिया, "मुझे यही शब्द अंग्रेजी के सबसे करीब लगा लेकिन आप चाहें तो 'सहसचिव' शब्द का इस्तेमाल किया जा सकता है, जिस का अर्थ 'सहायक सचिव' होता है।" वह मजाकिया लहजे में फौरन बोले, "मैं तुम्हारा ओहदा नीचा नही करना चाहता, लेकिन कोई बेहतर शब्द ढूंढो।" वह सही शब्दों के बहुत कायल थे और शब्दों का इस्तेमाल बहुत सोच समझकर करते थे। बिना तैयारी के दिये जाने वाले भाषणों में भी, जब वह ऊंचे स्वर में कोई बात कहा करते थे तो उनके विस्तृत मन में विचारों की लहरें उठती थी, उनके तर्क अकाट्य एवं परस्पर गुंथे हुए होते थे।

हम लोग प्रशिक्षित राजनयिक नहीं थे पर हमने स्वतंत्रता के समय भारतीय विदेश सेवा में काम करने की इच्छा व्यक्त की थी और स्थायी तौर पर हमे उसमें शामिल कर लिया गया था। कुछ सदस्यों को सीधे ही थलसेना, नौसेना और वायुसेना तथा व्यापार, वाणिज्य, कानून के क्षेत्रों से लिया गया था और कुछ राजघरानों से थे। उम्र, अनुभव और योग्यता के मुताबिक कुछ को राजदूत नियुक्त किया गया था और कुछ को कनिष्ठ पद दिये गये थे। मंत्रालय के अवर कार्यकर्ताओं को भी भारतीय विदेश सेवा की विभिन्न श्रेणियों में रखा गया था। नेहरू ने हम सबको एक सजातीय परिवार के रूप में बांधने की कोशिश की, लेकिन पेशे की अंदरूनी होड़ और ईर्ष्या, वर्ग व्यवस्था और सेवा के संयोजन ने उसे एक पंचमेल खिचड़ी का रूप दे दिया। नये आने वाले, जो प्रतियोगिता परीक्षाओं के माध्यम से आये थे, निहायत उम्दा किस्म के और होनहार थे, लेकिन उनमें से बहुतों ने जल्दी ही अपने वरिष्ठ अधिकारियों के व्यवहार और तौर-तरीकों को अपना लिया और अपने को एक विशिष्ट वर्ग और वे अपनी सेवा को भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा अन्य सेवाओं से बेहतर मानने लगे।

यह एक दुखद प्रवृत्ति थी लेकिन ऐसे समय इससे बचा भी नहीं जा सकता था जब पुरानी नौकरशाही को एक नई परिस्थिति में काम करना था जिस में विभिन्न गुणों और एक नए नजरिए की जरूरत थी। हममें से कुछ ने मंत्रालय की विभिन्न शाखाओं को एक सेवा के अन्तर्गत लाने की कोशिश की। हमने कनिष्ठ स्तरों पर भारतीय विदेश सेवा तथा अन्य अखिल भारतीय सेवाओं, भारतीय प्रशासनिक सेवा में अदलाबदली करने का भी सुझाव दिया था। यदि ऐसा होता तो इससे भारतीय प्रशासनिक सेवा को और भी विस्तृत अनुभव प्राप्त हो जाते और भारतीय विदेश सेवा की जड़ें भारतीय भूमि में और भी गहराई तक पहुंच जाती लेकिन निहित स्वार्थों ने इस अदला-बदली में बाधा डाली। मैं आशा करता हूं कि भविष्य में इस विचार की ओर थोड़ा बहुत ध्यान दिया जाएगा।

मंत्रालय और हमारे कार्यालयों के बीच वार्तालाप का अभाव था। लोगों को 10 से 15 साल तक, लगातार विदेशों में रखा गया। वे असलियत और देश के मौलिक आधारों के ढांचों में होने वाले परिवर्तनों से संबंध खो बैठे और सोचने लगे कि सारी

भारत ने नेपाल के राजनैतिक आर्थिक और सुरक्षा के मामलों में पूर्ण सहयोग प्रदान किया।

चीन को यह बात पसंद नहीं आयी और उसने काठमांडू में भारतीय सैनिक मिशन की उपस्थिति के बारे में नेपाल से विरोध किया। हमने नेपाल को भारत में इस तरह की सुविधाएं देने का प्रस्ताव रखा, लेकिन वे चीनी विरोध से इतना घबरा गये थे कि हमें अपने सैनिक मिशन और तकनीकी कार्यकर्ताओं को हटाने की उनकी मांग के आगे झुकना पड़ा। ब्रितानियों के विपरीत हमने नेपाल को उसकी प्रभुसत्तासंपन्न स्वतंत्र स्थिति के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय मान्यता और संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता प्राप्त करने में मदद की थी। हम उनकी इच्छाओं का आदर करते थे, साथ ही नेपाल यह आशा करता था कि उसके अंदरूनी और बाहरी मामलों से भारत अपने को 'अलग' रखेगा। एकतरफा संबंध स्थायी नहीं हो सकता था और उसे बदलना पड़ा। भारत और चीन के प्रति उसका दोतरफा नजरिया चल नहीं सकता था। चीन ने तो सहायता के तौर पर नेपाल को अपने देश की सस्ती उपभोक्ता सामग्रियां भेजीं लेकिन नेपाल भारतीय उत्पादकों के खिलाफ भेदभाव बरतने लगा।

नेपाली राजा के प्रतिनिधियों द्वारा मौत की धमकी दी जाने पर जब नेपाली कांग्रेस के नेता सुरक्षा और बचाव के लिए भारत आये तो एक नाजुक समस्या पैदा हो गयी। शीघ्र ही वे नेपाली गोरिल्लाओं को नेपाल पर हमला करने के लिए संगठित और शस्त्रों से लैस करने लगे। महाराजा की सरकार को यह बात पसंद न आयी और उन्होंने सोचा कि हम उनकी सहायता कर रहे हैं और उन्हें भड़का रहे हैं। सच्चाई यह है कि हम उन्हें शस्त्र नहीं दे रहे थे और हिंसक तथा राजनैतिक कार्रवाईयां करने से रोक रहे थे। लेकिन भारतीय लोगों को उनसे गहरी हमदर्दी थी; इनमें से अधिकांश नेपाली नेताओं ने भारत में शिक्षा प्राप्त की थी और उन्होंने भारत के स्वाधीनता संग्राम में भाग लिया था। हमने उन्हें गिरफ्तार नहीं किया, जहां निश्चित ही अत्याचार और मौत उनका इंतजार कर रहे थे, बल्कि राजा और उनके सलाहकारों को अनौपचारिक तौर पर यह समझाने की कोशिश कर रहे थे कि वे आपस में कोई राजनैतिक समझौता कर लें। इसे गलत समझा गया कि हम उनके अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप कर रहे हैं।

एक शाम को मैंने जेपी (जयप्रकाश नारायण) से बातचीत की, जिन्होंने मुझ से पूछा कि भारत में नेपाल निष्कासितों को शस्त्र तथा अन्य सहायता क्यों नही दी जा रही है। मैंने बताया कि ऐसा करना अंतर्राष्ट्रीय कानून और नैतिकता के खिलाफ होगा तथा नेपाल के दो शत्रुतापूर्ण खेमों में बंट जाने का खतरा पैदा हो जायेगा, जिनमें से एक भारत का समर्थक और दूसरा चीन का समर्थक होगा, जिससे चीन को नेपाल में भारत विरोधी तत्वों को शस्त्र भेजने का बहाना मिल जायेगा। जेपी स्थिति समझ गए और उन्होंने इस बात पर जोर नहीं दिया।

एक अन्य अवसर पर जेपी ने इसी तरह तिब्बतियों को शस्त्र देने का सुझाव रखा था। मैंने उन्हें बताया कि इससे फायदे की अपेक्षा नुकसान ज्यादा होने की संभावना है और उनसे पूछा कि यदि वह भारत के प्रधानमंत्री होते तो क्या इस तरह का प्रस्ताव स्वीकार कर लेते? जेपी खामोश रहे और इस मामले को फिर कभी नहीं उठाया।

ऐसा मौका अंतिम बार अप्रैल 1971 में आया, जब वह मुझसे मेरे दफ्तर में मिलने आये। वह चाहते थे कि सरकार तत्काल बंगलादेश को मान्यता दे और ताजुद्दीन की अस्थायी सरकार को उसकी कानूनी सरकार मान ले। मैंने जवाब दिया कि हम अपने देश के एक बड़े हिस्से पर कब्जा करने में सफल हो जायेंगे तो हम निश्चित ही बंगला

ऐसा शायद तब तक संभव हो सकता था, जब तक सुरक्षा, बचाव और संचार व्यवस्था की जिम्मेदारी भारत पर होती और सिक्किम उसे पूरा सहयोग देता। लेकिन नये शासक पाल्डेन, थोमडुप नामग्याल अपनी नवविवाहित अमेरिकी पत्नी और उनके मित्रों से प्रभावित होकर छोटे बड़े मामलों को लेकर भारत में मीनमेख निकालने लगे। उन्होंने 75 प्रतिशत जनता को नाराज कर दिया, जो कि नेपाली मूल के थे और उन्होंने भोटिया तथा लेप्चा जाति के भी लोकतांत्रिक तत्त्वों का गला घोंट दिया।

मैं 1953 से थोनडुप को व्यक्तिगत तौर पर जानता था। मैंने दिन रात दिल्ली और गंगटाक में उन्हें तर्कों से समझाने की कोशिश की। वह मुझसे सहमत तो हो जाते लेकिन वापस लौटते ही उनका मन बदल जाता। उनकी जॉन लाल और रुस्तक जी से लेकर बालेश्वर प्रसाद, आपा पंत तथा बहादुर सिंह, सिक्किम स्थित किसी भी कुशल भारतीय दीवान या प्रतिनिधि से नहीं बनती थी।

1972 में जब मैं विदेश सचिव था, मैंने अंतिम बार कोशिश की कि यदि सुरक्षा, संचार और बचाव की व्यवस्थाओं का भार हम पर ही छोड़ दें तो सिक्किम को लोकतांत्रिक स्वशासन दे दिया जाये और समझौते में से 'संरक्षित' राज्य का बेतुका और भद्दा शब्द हटाया जा सके। एक समझौते का प्रारूप तैयार किया गया। जिसे स्वीकृत भी किया गया। थोनडप ने कहा कि वह उस पर हस्ताक्षर करके एक हफ्ते तक गंगटाक से वापस भिजवा देंगे। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया क्योंकि कुछ विदेशियों ने यह कहकर उन्हें भड़का दिया कि स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए उनके पास ठोस कारण है। एक सप्ताह बाद मैंने संदेश भेजा कि उनके लिए ऐसा मौका फिर कभी नहीं आयेगा। लेकिन उन्होंने कोई जवाब ही नहीं दिया।

उसके बाद क्या हुआ, यह तो सबको पता ही है। वह अपनी जनता को विभक्त और उनका दमन करना चाहते थे तथा सिक्किम में उन्होंने एक कठपुतली संस्था सिक्किम युवा मंच के नाम से स्थापित की जिसमें उन्हीं के कुछ प्रिय अधिकारी शामिल थे। लोगों ने विद्रोह किया, मेरे विचार में भारत सरकार ने सावधानी से काम लिया और झिझक के साथ उन्होंने सिक्किम में संपन्न जनमतसंग्रह के परिणामों और न्यायोचित ढंग से चुने हुए सिक्किम परिषद के सर्वसम्मत प्रस्ताव को स्वीकार किया, जिसमें भारत से विलयन की मांग की गयी थी। यह कोई गलत या अनैतिक काम नहीं था। इस मुद्दे को लेकर चीन तथा अन्य देशों ने हमारी आलोचना की जिससे कोई फर्क नहीं पड़ता था। उन्होंने विगत दिनों में और वर्तमान में भी हिंसा, जोर-जबर्दस्ती, आतंक और युद्ध के माध्यम से इससे भी बड़े क्षेत्रों और राज्यों को अपने में मिलाया है। भारत ने शांतिपूर्ण, लोकतांत्रिक और संवैधानिक तरीकों से सिक्किम के विलयन को स्वीकार किया है।

थोनडुप एक अच्छे मित्र थे, लेकिन कभी-कभी निराशा उन्हें घेर लेती थी। उनकी पहली पत्नी त्साङ दे ला बहुत ही भली थीं और उनको संतुष्ट रखती थीं। लेकिन अपनी अमेरिकी पत्नी के कारण उन्हें शायद यह विश्वास हो गया था कि बाहरी प्रभाव में वह स्वाधीनता की अपनी मांग में अमेरिका और कनाडा का समर्थन निश्चित ही प्राप्त कर सकेंगे। अमेरिका और कनाडा के कुछ कनिष्ठ प्रतिनिधियों ने उन्हें इस विषय में प्रोत्साहन दिया। वह एकछत्र शासक बनने के सपने न देखकर वास्तविकताओं को स्वीकार करें तो शायद अब भी वह सही और रचनात्मक भूमिका अदा कर सकते हैं।

मुझे भारत और तिब्बत के बीच के सीमा मार्ग नाथू ला (ऊंचाई 13,500 फुट) के कई दौरों की याद आती है। 23 दिसंबर, 1953 को मैंने जाजें ला (थोनडुप के

छोटे भाई) के साथ पहली बार दौरा किया। उस समय मार्ग में हमें संझावात का सामना करना पड़ा और अपनी जान बचाने के लिए तीन किलोमीटर नीचे तक दौड़ लगानी पड़ी। 1966 में मैं अंतिम बार गया। नाथू ला में कंटीली तारों के दूसरी ओर खड़े चीनी सेना अधिकारी का मैंने अभिवादन किया, मेरे "नि धाओ मा" (आप कैसे हैं) कहने पर उन्होंने रूखेपन से जवाब दिया, 'वो धाओ—नि धाओ' (मैं ठीक हूं—आप ठीक हैं न ?) वह मेरी उपस्थिति से बहुत परेशान थे और गुस्से में कुछ बुदबुदाये। मैंने चीनी भाषा में उनसे पूछा 'वे शम्मा' (क्यों क्या बात है ?) उन्होंने मेरा और कटीली तारों की ओर संकेत किया। मैंने उस पत्थर की ओर इशारा किया जिस पर नेहरू के ये शब्द लिखे थे, 'इंडोजेन चुङ्ग वो जान लाओ फेङ्ग य्यो' (भारतीय और चीनी पुराने मित्र हैं)—इन शब्दों को अक्सर ही मैं पीकिंग में सुना करता था और मैं उसे अपने बारे में और वहां उपस्थित होने के बारे में सोचता छोड़कर चला आया।

मैं उन भारतीय जवानों और उनके अधिकारियों को श्रद्धांजलि अर्पित करना चाहूंगा जिनको मैंने देश की एकता और प्रभुसत्ता की रक्षा करने के लिए तैयार नाथू ला में 10,000 से 13,000 फुट की ऊंचाई पर बर्फ से ढके बंकरों में रहते हुए देखा है। वे मजाकिया तबियत के थे, जब भी कभी चीनी लोग सीमा के दूसरी ओर तैनात हमारी सेना को सुनाने के लिए लाउडस्पीकरों पर अपना हमेशा का प्रचार आरंभ करते तो हमारे जवान ऊंचे स्वर में भारतीय संगीत बजाने लगते। अंततः एक शिष्ट समझौता किया गया कि चीनी और भारतीय संगीत बारी-बारी से बजाया जायेगा और प्रचार सामग्री नहीं सुनवायी जायेगी। इस तरह नाथू ला में लाउडस्पीकरों की लड़ाई खत्म हुई।

नेहरू ने एक बार कहा था कि यदि वह एक युवा अधिकारी होते तो सिक्किम में रहकर काम करना पसंद करते। मैंने उनसे असहमति व्यक्त करने की जुर्रत की। मेरी पहली पसंद, भूटान और दूसरी मंगोलिया होती। एक ही जैसे पहाड़ों और नदियों, फूल और पौधों के कारण दोनों में बहुत साम्य है, लेकिन सबसे बढ़कर वहां के लोगों में बहुत साम्य है—खुशमिजाज, मुस्कराते हुए, नजर-से-नजर मिला कर और सीधे खड़े होकर बातचीत करने वाले। ये भूमि और प्रकृति की मुश्किलों के कारण तगड़े और हट्टे-कट्टे होते हैं। लेकिन धीमी गति के नृत्यों, सुरीले गीतों तथा खानपान के माध्यम से उनकी तरह से जीवन का मजा लेते हैं। बौद्ध धर्म को मानने वाले और लामा वर्ग के लोग मांस खाते हैं, और मद्यपान करते हैं।

मुझे पहली बार ही भूटान से प्यार हो गया था। थिंपू, पारो, वाङ्‌डिफू डाङ्, बुमथाङ् बहुत ही सुंदर स्थान हैं। पहाड़ के किनारे सारे इंद्रधनुषी रंग के रोडोडेन्ड्रन फूल उगते हैं। नदियां दूषण रहित हैं और मछली पकड़ने के लिए बहुत बढ़िया है। पानी बिल्कुल शीशे की तरह स्वच्छ है, जिस पर नीले आकाश का प्रतिबिंब दिखायी देता है और इसका पानी केर्मान (ईरान) के पानी से भी ज्यादा नीला है। सबसे बढ़कर तिब्बत की सीमा पर चोमालहारी चोटी (24,000 फुट ऊंची) का नजारा है। यह कंचनजंघा या कैलाश पर्वत जितना ही सुंदर है। ग्रामीण लोग सूती, रेशमी और ऊनी कपड़ों पर सुंदर नमूने काढ़ते हैं। चांदी का काम भी वहां बहुत अच्छा होता है। जोंग या किला और मठ धार्मिक, सामाजिक और प्रशासनिक कार्रवाइयों का केंद्र है। सब से उन्नत कला मठों की दीवारों और थंका या घरों पर की जाने वाली चित्रकारी है, ये घरों या प्रार्थनागृहों की दीवारों पर लटकाये जाते हैं। लोग सीधा-सादा जीवन बिताते हैं और कठिनाइयों के बावजूद उनके होठों पर मुस्कान और आंखों में चमक होती है।

सिक्किम के विपरीत लेकिन नेपाल की तरह, भूटान को भारत ने एक स्वतंत्र

संपन्न देश माना था। लेकिन सड़कों और हवाई पट्टियों के अभाव के कारण वह बाकी दुनिया से पूरी तरह कटा हुआ था। भारत उसके विदेशी संबंधों की देखभाल करता था। पुराने दिनों में ल्हासा में भूटान का व्यापार प्रतिनिधि रहता था, लेकिन बाद में उसे वापस बुला लिया गया। जब भारत ने उत्तर बंगाल के फुटसोलिंग से भूटान की राजधानी थिपू तक 200 किलोमीटर लंबा निहायत सुंदर पहाड़ी मार्ग बनाया और पारो तथा हवाई पट्टियां बनायीं तो भारत स्थित बहुत से राजदूत भूटान जाने लगे। उन्होंने राजनयिक संबंध स्थापित करने के बारे में राजा की इच्छा जाननी चाही लेकिन उन्होंने नम्र भाव से इनकार कर दिया। वह एक व्यवहार कुशल और बुद्धिमान व्यक्ति थे। वह जानते थे कि उनकी प्रजा, अभी मशीनीकरण और राजनयिक संस्थाओं की चालबाजियों का सामना करने के लिए तैयार नहीं है। फिर वहां इमारत की तथा अन्य सुविधाएं भी उपलब्ध नहीं थीं जो विदेशी दूतावासों को दी जा सकें। भूटान की सीधी-सादी अर्थ व्यवस्था बड़े-बड़े निर्माणों और अन्य कार्यवाहियों से उत्पन्न मुद्रास्फीति का दबाव सहन नहीं कर सकती, पर साथ ही राजा अपनी प्रभुसत्ता को बरकरार रखना चाहते थे। और अपनी प्रजा की, विशेषकर पढ़े-लिखे लोगों की इच्छाएं भी पूरी करना चाहते थे। उनकी संख्या कम थी लेकिन राजमहल और प्रशासन में उनका बहुत प्रभाव था। राजा ने यह तरीका अपनाया कि अमेरिका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया तथा स्विटजरलैंड जैसे कुछ देशों के भारत स्थित राजदूतों को ही थिपू में भी स्वीकृति दी गयी। लेकिन साल में एक बार से अधिक बार भूटान जाने के लिए उन्हें प्रोत्साहन नहीं दिया जाता था। उनकी 'उदार सहायता' के प्रस्ताव को बड़ी शालीनता के साथ अस्वीकृत कर दिया जाता था।

वर्तमान राजा के पिता महाराजाधिराज जिग्मे दोर्जे वांङ्चुक ने पहली मुलाकात में ही बिना कुछ पूछे ही मुझे यह सब कुछ बताया। वह चालीस के आसपास की उम्र के थे, उनका सिर मुड़ा हुआ था। वह हमेशा भूटानी वेशभूषा बाकू पहनते थे और लगातार धूम्रपान करते थे। उन्होंने कहा कि वह भारत को भूटान का स्वाभाविक और सबसे घनिष्ठ मित्र और नेहरू को अपना गुरु मानते हैं। वह नेपाल की तरह भारत और चीन को एक-दूसरे के खिलाफ भड़काने में विश्वास नहीं करते और उन्हें नेहरू के भारत पर पूरा विश्वास है। बदले में नेहरू ने उन्हें और भूटान को पूरा सम्मान और सहयोग दिया जिसे राजा बहुत महत्व देते हैं। वह बहुत से देशों से सहायता आदि के प्रस्तावों का प्रतिरोध करते रहे क्योंकि वह यह नहीं चाहते थे कि भूटान आपस में टकराने वाले आदर्शों और हितों का अखाड़ा बन जाये। वह स्पष्ट रूप से कहते थे कि भारत भूटान का सबसे अच्छा और घनिष्ट मित्र है, और उसे भारत से काफी सहायता मिल जाती है तथा कहीं और से प्राप्त सहायता को वह खपा नहीं सकेंगे। बहरहाल, उन्होंने कुछ क्षेत्र चुन रखे थे, जिनके लिए वह कुछ मध्यम, छोटे और दूरदराज के देशों से सहायता स्वीकार करते थे— जैसे जापान से चावल-शोध केंद्र और आस्ट्रेलिया से परिवहन के लिए ट्रक आदि।

1964 में उनके काबिल प्रधानमंत्री जिग्मे दोर्जे की हत्या के बाद महारानी और शिक्षित वर्ग की ओर से संयुक्त राष्ट्र में सम्मिलित होने के लिए उन पर दबाव डाला जाने लगा। महारानी (जो अब राजमाता हैं) को कुछ लोगों ने यह विश्वास दिलाया था कि भारत एक दिन भूटान को अपने में मिला लेगा, विशेषकर नेहरू के बाद; इसलिए अच्छा यही होगा कि 'भूटान के प्रभुसत्ता संपन्न' दर्जे को अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति दिलवा दी जाये। उन्होंने मुझसे खुलकर बातें की और जब मैं उनसे मिलने गया तो उन्होंने अपने नर्म, विचक्षण, और राजनयिक तरीके से मुझे ये सब कुछ बताया। राजा ने मुझे पहले से ही उनके विचारों से अवगत कराया था। महारानी ने मुझसे कहा "आप सोचते हैं कि हम

भारत पर विश्वास नहीं करते। यह सच नहीं है। हम विश्वास करते हैं कि भारत ही एक मात्र ऐसा देश है जो हमें हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं तक पहुँचाने में सहायता कर सकता है लेकिन भारत अगर हमारे संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश को लेकर तनिक भी आनाकानी करता है तो हमारे लोगों के मन में संदेह उत्पन्न होता है। मैं आपको विश्वास दिलाती हूं कि एक बार यदि भारत हमें संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश करने देगा तो सारे संदेह मिट जायेंगे और हमारा एक-दूसरे पर पूरा विश्वास रहेगा।"

मैंने सम्मान पूर्वक और ध्यान से उनकी बात सुनी। उन्होंने दार्जिलिंग में शिक्षा प्राप्त की थी और वह बढ़िया अंग्रेजी बोलती थी। मैंने उन्हें राजा की इच्छा बताते हुए कहा कि वह झटपट संयुक्त राष्ट्र में शरीक नहीं होना चाहते हैं, जिसके बारे में वह भी जानती थी। राजा इस काम के लिए कुछ समय चाहते थे और कदम-दर-कदम आगे बढ़ना चाहते थे—वह संयुक्त राष्ट्र में योग देने से पहले अंतर्राष्ट्रीय डाक संगठन, कोलंबो योजना आदि में शामिल होना चाहते थे, वह संयुक्त राष्ट्र जैसी विशाल संस्था में शामिल होने से पहले इन मंचों पर अपने लोगों को आजमाना चाहते थे। राजा पर दबाव बढ़ते जा रहे थे। मैंने नेहरू को इस बात से अवगत कराया। उन्हें इस बारे में कोई शक नहीं था कि भूटान को संयुक्त राष्ट्र में शरीक होना चाहिए। लेकिन वे राजा से इस बारे में सहमत थे कि इस दिशा में धीरे-धीरे कदम उठाना चाहिए।

मैंने महारानी को यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि भारत संयुक्त राष्ट्र में भूटान की सदस्यता के रास्ते में बाधा नहीं डालना चाहता, भारत इसके लिए पृष्ठभूमि तैयार करना चाहता था और समर्थन प्राप्त करने की चेष्टा करना चाहता था, ताकि बात धरी-की-धरी न रह जाये। जैसा कि पहली बार अन्तर्राष्ट्रीय डाक संगठन में नेपाल की सदस्यता को लेकर हुआ था। महारानी अपनी बात पर अड़ी हुई थीं। उन्होंने कहा कि जब तक भूटान संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बन जाता लोग यही सोचेंगे कि भारत ही ऐसा नहीं चाहता; जब 1971 में, भारत के पूर्ण समर्थन के साथ भूटान ने संयुक्त राष्ट्र में प्रवेश किया, महारानी ने मुझे बताया कि उस दिन के बाद से भारत के बारे में कोई शंका नहीं रहेगी। अब तक यह बात सच ही साबित हुई है और हमारे संबंधों को खराब करने वाला मुख्य कारण रास्ते से निकल गया है। और मैत्री को बढ़ावा मिलेगा या नहीं यह कुछ देशों की चालबाजियों और साजिशों के बावजूद भारत और भूटान पर निर्भर करता है, जैसा कि कुछ समय के लिए भारत और नेपाल के संबंध बिगाड़ने में इन देशों ने प्रयत्न किए थे।

हमने नेपाल में जो गलतियां की थीं उनसे हमें बचना चाहिए। छोटे देशों को उचित महत्व देकर अपने को उनका बड़ा भाई मानकर नहीं चलना चाहिए। वे भावुक होते हैं और कभी-कभी छोटी-छोटी बातें दिल को लगा लेते हैं, स्वाभिमानी और आसानी से चोट खाने वाले होते हैं। हमें उनकी भावनाओं की कद्र करनी चाहिए, उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को मान देना चाहिए और उनका विश्वास और भरोसा प्राप्त करना चाहिए। वे बाहर आकर अंदर से तरह-तरह के खिंचावों और दबावों, तनावों और समस्याओं के शिकार होते हैं जिन्हें भारत जैसे मैत्रीपूर्ण पड़ोसी की समझदारी और इज्जत के बिना अकेले सहन नहीं कर सकते।

यह एक संतोषजनक बात है कि भारत और भूटान के संबंध मैत्रीपूर्ण हैं और सही दिशा में विकसित हो रहे हैं। इसको एक बड़े देश और उसके छोटे से पड़ोसी के संबंधों के लिए आदर्श के रूप में पेश किया जा सकता है। हमें इस लक्ष्य पर पहुंचने के लिए ईमानदारी और सच्चाई से हर संभव प्रयास करना चाहिए।

9
पंचशील

पंचशील या पांच सिद्धांत संस्कृत की एक पुरानी सूक्ति है। राष्ट्रपति सुकर्ण ने इसको दोवारा प्रचलित किया जव उन्होंने अपनी राष्ट्रीय नीति के पांच सिद्धांतों को ऐसा ही एक नाम (पंतज शिला) दिया। ये शांति और सहअस्तित्व के उन पांच सिद्धांतों के समान नहीं थे जो 29 अप्रैल, 1954 में तिव्वत पर हुए चीन-भारत समझौते में सम्मिलित थे।

पणिक्कर ने, जो उस समय दिल्ली में थे, नेहरू के सामने सुझाव रखा कि पांच सिद्धांतों को पुराना संस्कृत नाम दिया जाये। नेहरू को यह सुझाव पसंद आया और 'पंचशील' शव्द विश्व भर में, विशेपकर भारत और तीसरी दुनिया में प्रचलित और बड़े पैमाने पर सम्मानित हो गया।

इस विचार का उदय कैसे हुआ? शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के पांच सिद्धांत कैसे विकसित हुए? यह किस के दिमाग की उपज थी? भिन्न-भिन्न लोग अलग-अलग वात वताते हैं और भिन्न-भिन्न अनुमान लगाते हैं। मैं वही कुछ वताना चाहूंगा जिसकी मुझे जानकारी है।

जैसा कि चौथे अध्याय में कहा गया है, हमारी राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं में असमानता होने के वावजूद नेहरू का विचार था कि चीन के रहने वालों के साथ शांतिपूर्ण और मैत्रीपूर्ण सहअस्तित्व वनाये रखने के लिए कोई तरीका खोजा जाये। साम्यवादी और गैरसाम्यवादी देश के वीच इस तरह का संवंध स्थापित करने की वात तव तक किसी जाने-माने भारतीय या राजनेता ने इतने स्पष्ट शव्दों में नहीं कही थी। वैसे केल्लोग समझौता, संयुक्त राष्ट्र जैसे अन्य दस्तावेज मौजूद थे, वे दो प्रभु-सत्तासंपन्न स्वतंत्र देशों के वीच दोतरफा समझौते के रूप में नहीं वल्कि अंतर्राष्ट्रीय घोपणाओं के रूप में थे। लेनिन ने 'शांतिपूर्ण सहअस्तित्व' का उल्लेख किया था और वुडरा विल्सन ने अपने 14 सूत्रों को प्रतिपादित किया था, लेकिन उनके उत्तराधिकारी जवर्दस्त तनाव और अनिश्चित काल तक चलने वाले शीतयुद्ध में उलझे हुए थे। गांधी ने आदर्श के रूप में शांति और अहिंसा की आवश्यकता पर जोर दिया था। नेहरू विश्व के पहले ऐसे राजनेता थे जिन्होंने भिन्न सामाजिक आदर्शों को मानने वाले और अलग-अलग प्रकार की सरकार वाले दो प्रभुसत्तासंपन्न देशों के वीच दोतरफा संवंधों का संचालन करने के लिए इन विचारों और आदर्शों को आचरण संधि का रूप देने की वात सोची थी।

पांच सिद्धांतों को प्रतिपादित करने और लोकप्रिय वनाने का श्रेय यदि किसी व्यक्ति को दिया जा सकता है तो वह नेहरू ही हैं। लेकिन वास्तव में यह एक ऐसा सर्व-सम्मत विचार था जिसमें तिव्वत को ले कर चीन-भारत के वीच हुए समझौते के वाद होने वाली वातचीत और विचार विमर्श के दौरान सोचा गया, उसे विकसित किया गया और उसने आकार धारण किया। पहले होने वाले वार्तालाप के अलावा दिसवर 1953 के अंतिम दिन से अप्रैल, 1954 के अंत तक पीकिंग में वातचीत चलती रही।

चीन-भारत संवंध को विकसित करने के वारे में भारत और चीन दोनों देशों में

मुख्य रूप में दो दिशाओं में सोचा जा रहा था। भारत में कुछ लोग चीन को भारत के उत्तरी और उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों के लिए बड़ा खतरा मानते थे। इसी विचारधारा को विकसित करते हुए एक सुझाव यह भी रखा गया कि क्योंकि भारत इस खतरे का सामना अकेला नहीं कर सकता इसलिए उसे इसके लिए अमेरिकी और पश्चिमी गुट में शामिल हो जाना चाहिए। इस सोच में इस बात को नजरअंदाज कर दिया गया था कि कोई भी देश यहां तक कि अमेरिका भी भारत और चीन के संघर्ष में प्रत्यक्ष रूप से उलझना नहीं चाहेंगे, यद्यपि वे गैरहाजिर रहकर इस मंच पर अपने पुराने या आधुनिक शस्त्रों का प्रयोग करना चाहेंगे। इस बारे में भी सोचा नहीं गया था कि भारत जैसा देश अपनी परंपरा, इतिहास, संस्कृति, गुटनिरपेक्षता की नीति और आकार तथा संभावनाओं के साथ किसी अन्य शक्ति का पिछलग्गू देश नहीं बन सकता था। इस विचार का प्रतिपादन करने वालों ने इस खतरे को नजरअंदाज कर दिया था कि यदि भारत पश्चिमी खेमे में शामिल होता है तो विश्व दो युद्ध खेमों में बंट जायेगा और चीन तथा रूस करीब आ जायेंगे। वे भूगोल और भौगोलिक राजनीति के तथ्यों को भूल गये थे कि चीन और रूस परस्पर निकट हैं और यदि वे दोनों मिलकर उससे दुश्मनी करने पर उतारू हो जायें तो वह अकेले चीन या पश्चिम देशों की दुश्मनी से अधिक खतरनाक साबित हो सकता है।

अन्य विचारधारा का प्रतिनिधित्व भारत के मताग्रही साम्यवादी कर रहे थे जिनके अनुसार चीन की मुक्ति ही भारत की समस्याओं का इलाज है, इसलिए भारत को चीन का अनुसरण करना चाहिए। वे चीन और रूस दोनों के साथ मित्रता करके साम्यवाद अपनाना चाहते थे। उस खेमे के कुछ लोग और उसी मार्ग पर चलने वालों ने उनका समर्थन किया जो एशियाई भाईचारा और 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' की भावनाओं के बारे में बहुत कुछ कहते थे।

नेहरू इनमें से किसी भी विचारधारा के पक्ष में नहीं थे। वह वास्तविकता में विश्वास रखते थे, भारतीय परंपरा पर उन्हें गर्व था और उसके भविष्य के बारे में वह सचेत थे। वह गुटनिरपेक्षता में विश्वास रखते थे क्योंकि भारत पर उनको इतना नाज था कि उसकी वजह से वह किसी अन्य देश या देशों के गुट को भारतीय नीतियों पर हावी होने का मौका नहीं दे सकते थे, एक यथार्थवादी के रूप में वह रूस और चीन दोनों को नाराज करने के खतरे को भली प्रकार जानते थे जो भारत के निकट स्थित हैं, वह दोनों से मित्रता बनाये रखना चाहते थे और पश्चिम को भी नाराज नहीं करना चाहते थे। पश्चिम को वह प्रभावित न कर सके। अमेरिका और पश्चिमी देशों ने कश्मीर के मसले पर भारत के खिलाफ पाकिस्तान को समर्थन दिया था। (तब तक अमेरिकी-पाकिस्तान सैनिक सहायता समझौता सीएटो, सेंटो की स्थापना नहीं हुई थी लेकिन उसके बारे में सोचा जा रहा था)। उन्होंने गुटनिरपेक्षता को 'अनैतिक' करार दिया। संयुक्त राष्ट्र के भीतर और बाहर, अमेरिका के नेतृत्व में, पश्चिम ने उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और जातिवाद के बारे में नकारात्मक रवैया अपनाया था। चीन के बारे में अमेरिका की नीति [illegible] भारत विरोधी थी।

स्तालिन के रूस की तब तक यही धारणा बनी हुई थी कि भारत [illegible] अमेरिकी साम्राज्यवाद का पिछलग्गू है। यद्यपि 5 मार्च, 1953 को स्तालिन का [illegible] हो गया था किंतु उनकी आत्मा क्रेमलिन पर तब भी शासन कर रही [illegible] रूसी कवि येव्तुशेंको ने 'स्तालिन के उत्तराधिकारी', 'आतंक' रूस के [illegible] इस तथ्य को जोरदार तरीके से लिखा है) लेकिन चाहे भले वे [illegible]

रूस और चीन में परिवर्तन आने ही थे और नेहरू अपने विकल्पों को बनाये रखना चाहते थे और संकट को बढ़ावा नहीं देना चाहते थे। हमारा पाकिस्तान से संघर्ष चल रहा था और अन्य किसी मोर्चे पर हम लड़ाई लड़ना नहीं चाहते थे। जापानी शांति समझौते के प्रति उनका दृष्टिकोण और 1952 में जापान के साथ अलग से समझौता करने पर जोर देना, जिससे क्षतिपूर्ति का अधिकार खत्म कर दिया गया था, उस संधि के बिल्कुल विपरीत था जिस पर अमेरिका और उसके मित्र देशों ने सानफ्रांसिस्को में हस्ताक्षर किये थे। इससे कुछ हद तक मास्को और उससे भी बढ़कर पीकिंग प्रभावित हुआ कि भारत शायद अमेरिका या किसी पश्चिमी देश का पिछलग्गू नहीं है।

माओ का चीन यद्यपि साम्यवादी था लेकिन उसका साम्यवाद अपने ही किस्म का था जो कि तब तक स्तालिन के रूस के समान मताग्रही नहीं बना था। कुछ समय के लिए तिब्बत की समस्या को भुला दिया गया था। संयुक्त राष्ट्र में कोरिया के बारे में भारत के रवैये और पीकिंग को आक्रामक करार देने से इनकार करने का प्रभाव चीनी नेताओं पर पड़ा। संयुक्त राष्ट्र में पीकिंग सरकार के प्रतिनिधित्व प्राप्त करने के अधिकार पर बार-बार जोर देने में भारत ने जो भूमिका निभायी और चीन के मसले पर जब भारत अडिग रहा तो चीन ने उसकी प्रशंसा की। कोरिया में युद्धबंदी के लिए भारत ने जो प्रयास किये उनसे अंतर्राष्ट्रीय मामलों में भारत की सहायतापूर्ण भूमिका ने चीन को प्रभावित किया। फिर उत्तर पूर्व चीन में संयुक्त रेल व्यवस्था और आर्थर बंदरगाह पर नियंत्रण के मुद्दों को लेकर स्तालिन के रूस और माओ के चीन में संभावित मतभेद की बात हवा में थी। चीन एक बड़ा देश था, जो पश्चिम से प्रभावित हुए बिना और आवश्यकता पड़ने पर रूस से भी अलग होकर अपना स्वतंत्र निर्णय कर सकता था। भारत भी ऐसा ही कर सकता था। पर साथ ही अपने पड़ोसियों पर शासन करने वाले शक्तिशाली, संगठित, अकेले और विस्तारवादी, साम्यवादी चीन का खतरा भी मौजूद था। इसमें भारत ही सबसे बड़ी बाधा था। लेकिन नेहरू ने तर्क किया कि यदि एक दूसरे की प्रभुसत्ता और अखंडता को सम्मान देने और अंदरूनी मामलों में दखलंदाजी न करने का कोई बीच का रास्ता निकाला जाये तो वह शीतयुद्ध से बचने के लिए उठाया जाने वाला एक कदम होगा और एशिया में शीतयुद्ध के प्रवेश को रोका जा सकेगा।

नेहरू को चीन के दृष्टिकोण का पता नहीं था लेकिन इस दिशा में प्रयास करना उन्होंने उचित समझा। चीन तब तक महाशक्ति के रूप में उभरा नहीं था और भारत की ही तरह उसे अपने आर्थिक और सामाजिक ढांचे के पुनर्निर्माण के लिए शांति की जरूरत थी। चीन के साथ पुनर्मेल करने का यह सबसे उचित अवसर था। सीमा तथा अन्य समस्याओं को शांतिपूर्ण तरीके से सुलझाने के लिए तब भी यह संभव था कि चीन के साथ कोई अनकहा समझौता किया जाये।

ऐसा लगता था कि चीन में भी दो विचारधाराएं प्रचलित थीं पहली विचारधारा, जिसके प्रतिनिधि चाऊ एन लाई थे, भारत के साथ शांतिपूर्ण, सहयोगशील सहअस्तित्व बनाये रखने की आशा करती थी और दूसरी विचारधारा का प्रतिनिधित्व 'अतिवादी' कहलाने वाले लोग कर रहे थे, जो भारत को नीचा दिखाना चाहते थे। माओ दोनों के बीच का रास्ता चाहते थे।

नेहरू भारत के लिए विकल्पों को बराबर रखना चाहते थे। चीन के साथ किया गया कोई भी समझौता, भारत द्वारा किसी अन्य देश के साथ किए जाने वाले समझौते के रास्ते में रुकावट नहीं बन सकता था, बल्कि इसके विपरीत उससे शांति का वातावरण

तैयार हो सकता था, जो अन्य देशों के साथ इसी तरह के समझौते करने में सहायक हो सकता था।

मैंने नेहरू के विचारों को, उनके शब्दों में नहीं बल्कि अपने शब्दों में दोबारा याद करने की चेष्टा की है। वह अक्सर ही अपने विचारों को शब्द देते थे और उन्हें निजी बातचीत या कभी-कभी सार्वजनिक तौर पर भी पेश करते थे। बहुत सी बैठकें और विचार-विमर्श हुए तथा फैसला किया गया कि चीनियों को इसका आभास दिया जाये। आशा के अनुरूप उन्होंने इस विचार का स्वागत किया। एक छोटा प्रतिनिधिमंडल पीकिंग भेजने का फैसला किया गया जो इस बारे में बातचीत करे और संभव होने पर समझौता करके ही लौटे। इसके लिए पणिक्कर, राघवन और मैंने पृष्ठभूमि तैयार कर ही ली थी। चीन में भारत के नये राजदूत एन० राघवन को भारतीय प्रतिनिधि मंडल का नेता और मुझे उपनेता नियुक्त किया गया। ऐतिहासिक विभाग, विदेश मंत्रालय के निदेशक स्वर्गीय डा० गोपालाचारी भी एक सदस्य थे। उनके इतिहास का ज्ञान और चीन भारत सीमा की जानकारी बहुत मूल्यवान थे। यह एक छोटा सा प्रतिनिधि मंडल था, जैसा कि प्रतिनिधि मंडलों को होना भी चाहिए, लेकिन सुविधाजनक था और हम एक-दूसरे के करीब थे। 1953 में चीन से लौटने के पहले मैंने कुछ महीने राघवन के साथ काम किया था। हम सबकी आपस में खूब पटती थी।

पीकिंग रवाना होने से पहले मोटे तौर पर निम्नलिखित निर्देशों को रूप दिया गया (मैं अपनी याददाश्त से ही बता रहा हूं।)

बातचीत भारत और चीन के तिब्बत क्षेत्र के बीच व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान तक ही सीमित रहेगी। बहरहाल, चीन-भारत संबंध को उचित आधार पर स्थापित करने के लिए विस्तृत संदर्भ और बड़े हितों को नजरअंदाज न करना बहुत जरूरी था। सीमा के प्रश्न को हमें नहीं उठाना था। हमें सीमा के बारे में कोई संदेह व्यक्त नहीं करना था। यदि चीनी उस प्रश्न को उठाते तो हमें दृढ़तापूर्वक यह कहना था कि सीमा पारंपरिक और ऐतिहासिक है जिसकी स्पष्ट परिभाषा शोध तथा भौगोलिक और अन्य विशेषताओं द्वारा हो चुकी है। चीनियों को इस बात के लिए राजी करने का प्रयास करना था कि इस समझौते में भारत और चीन के बीच की समस्याओं का समाधान हो जाये। यदि ऐसा कोई विषय सामने आता जिसके बारे में संदेह हो तो दिल्ली से संपर्क करके उन्हें उससे अवगत कराना था।

डा० गोपालाचारी और मैं दिसंबर, 1953 के अंतिम सप्ताह में विमान द्वारा हांगकांग और कैंटन होते हुए पीकिंग के लिए रवाना हुए। राघवन पणिक्कर से भिन्न थे, हालांकि दोनों ही केरल के रहने वाले थे। अपने जीवन का उन्होंने अधिकांश समय मलाया में बिताया था, जहां वह मोलभाव करने वाले ठेठ चीनियों के संपर्क में आये, जो कि उनका स्वभाव है। एक बार उन्होंने मुझे बताया कि चाऊ एन लाई उनको मलाया के उस बीमा एजेंट की याद दिलाते हैं जो सौदा पूरा करने से पहले अपने कमीशन के लिए सौदेबाजी करता है। मैंने नम्रता से सुझाव दिया कि वह अपना दिमाग खुला रखें, क्योंकि चीन [illegible] राजनैतिक और सैद्धांतिक क्रांति के दौर से गुजर चुका है। लंबी यात्रा में और उसके [illegible] भी माओ के साथ चाऊ एन लाई ने भी उनको नेतृत्व प्रदान किया। मुझे वह [illegible] जान पड़े, जो सौदेबाजी का काम दूसरों पर छोड़कर स्वयं अहम् मुद्दे [illegible]

प्रतिनिधि मंडल चाऊ एन लाई से मिलने गया। उन्होंने [illegible] किया और हमारी बातचीत में सफलता की कामना की। उन्होंने [illegible]

[illegible]

वाले वाक्य को फिर दोहराया : "भारत और चीन के बीच ऐसी कोई समस्या नहीं है जिसे सामान्य राजनयिक तरीकों से सुलझाया न जा सके, जैसा कि दो मैत्रीपूर्ण पड़ोसियों के बीच होता है। हमने उन्हें धन्यवाद दिया और यह आशा व्यक्त की कि हमारी बातचीत सफल होगी, जिससे हमारे बीच चली आ रही सभी समस्याओं का समाधान हो जायेगा। उन्होंने हमारे मकसद को झटपट समझ लिया और बोले कि इनमें से कुछ समस्याएं साम्राज्यवाद की देन हैं। न तो स्वाधीन भारत और न ही मुक्त चीन उनके लिए जिम्मेदार है, लेकिन उनको शांतिपूर्ण, मैत्रीपूर्ण और सामान्य राजनयिक तरीकों से सुलझाया जा सकता है। वर्तमान बातचीत से वे समस्याएं जरूर सुलझेंगी, जो समझौते के लिए परिपक्व हो चुकी हैं," उन्होंने आगे कहा। हमने दोहराया कि इससे बाकी सभी समस्याएं भी सुलझायी जा सकती हैं और वहीं पर बात को खत्म कर दिया।

उसके बाद चाऊ ने कहना शुरू किया कि भारत और चीन ने कभी एक दूसरे के विरुद्ध लड़ाई नहीं छेड़ी है। उनकी मित्रता सदियों पुरानी है, जो न केवल बरकरार रहेगी बल्कि आपसी सम्मान, बराबरी, और आपसी हित, एक दूसरे की प्रभुसत्ता और क्षेत्रीय अखंडता, अंदरूनी मामलों में गैरदखलंदाजी तथा शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के आधार पर मजबूत होती जायेगी। उनके शब्द नेहरू के विचारों की ही अनुगूंज थे। पणिक्कर ने और मैंने नेहरू जी तक यह बात पहुंचा दी थी तथा 1949 में चीन के सामान्य कार्यक्रम की भाषा में उसका उल्लेख भी कर दिया था। चाऊ ने एक दूसरे पर आक्रमण न करना वाक्य प्रयोग किया था। राघवन कुछ आश्चर्य में पड़ गये थे, लेकिन मुझे कोई अंतर नहीं पड़ा क्योंकि इससे पहले मैंने कई बार चेन-चिआ काङ् से इन सिद्धांतों के बारे में बातचीत की थी और बार-बार उनके बारे में सुना थी था। अक्तूबर 1950 को नेहरू द्वारा कहे गए शब्दों और फिर 1953 में उन्होंने जो कुछ कहा वे सभी मेरे दिमाग में ताजा थे। राघवन थोड़ा झिझक रहे थे और उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या हम इस आधार को स्वीकार कर लें या देहली को पहले इसकी जानकारी दी जाये। मैंने कहा कि यह ठीक ही है (मैं नेहरू का मन जानता था) और हमें उन्हें स्वीकार कर लेना चाहिए, जिसकी पूरी जिम्मेदारी मैंने उठायी। राघवन को मुझ पर विश्वास था और उन्होंने चाउ-एन-लाई को जवाब दिया कि बातचीत आगे बढ़ाने और हमारे संबंधों का मार्गदर्शन करने के लिए ये आधार काफी ठोस हैं। ऐसे मधुर वातावरण में सभा समाप्त हुई। दिल्ली ने इन सिद्धांतों का स्वागत किया।

चीनी प्रतिनिधि मंडल का नेतृत्व उपविदेशमंत्री चाङ् हान-फू कर रहे थे, जिसमें एशियाई निदेशक चेन-चिआ काङ् ल्हासा में चीन के संपर्क अधिकारी हान कुङ्-सू (उन्हें बाद में कलकत्ता में महावाणिज्य दूत नियुक्त किया गया था), भारत विभाग के अधिकारी हान शु और एक दुभाषिया शामिल थे। हमारी तरफ से राघवन, मैं, डा० गोपालाचारी और परांजपे (हमारे चीनी भाषा विशेषज्ञ) तथा मेरे पुराने निजी सचिव ओमशरण थे। ओमशरण आशुलिपि में बिल्कुल सही नोट लेने में बहुत माहिर थे और परांजपे चीनी भाषा में जो कुछ कहा जाता था उसके सही अर्थ को पकड़ते थे। मैं अपने नोट स्वयं ही लिखता था और वार्तालाप के दौरान हुई मुंहजबानी बातों को उसी दिन या बातचीत के बाद रात को अंतिम रूप दे देता था और दिन भर की बातचीत को संक्षिप्त करके तार द्वारा दिल्ली भेज देता था। जब कभी कोई पेचीदा सवाल सामने आता तो बातचीत स्थगित कर दी जाती थी और मैं अनौपचारिक तौर पर चेन-चिआ-काङ् के साथ उसको सुलझाने की कोशिश करता था।

संक्षेप में, बातचीत की शुरुआत अच्छी हुई। बातचीत दो सप्ताह तक बिना किसी

बाधा के चलती रही और उसके बाद घटाई में पड़ गयी। चीन प्रत्यक्ष तौर पर कोरिया में और अप्रत्यक्ष तौर पर हिंद-चीन में उलझा हुआ था। भारत कोरिया में एन० एन० आर० सी० की स्थापना करने की ओर हिंद-चीन में शांतिपूर्ण समझौते की कोशिश कर रहा था। चाऊ एन लाई जिनेवा सम्मेलन में व्यस्त थे और चाङ् हान-फू उनकी उपस्थिति में निर्णय करने से कतरा रहे थे। वे छोटे-छोटे ब्योरों में उलझे रहते थे और छोटी-छोटी बातों को मानने के लिए भी तैयार न होते थे। मुझे चेन को बताना पड़ा कि ऐसी भावनाओं से तो नेहरू और चाऊ ने हमें प्रेरित और निर्देशित नहीं किया था। यदि चाङ् हान-फू का दृष्टिकोण चीन के सही विचारों का प्रतिनिधित्व करता है तो बातचीत को खत्म कर देना ही उचित है। चेन मैत्रीपूर्ण और भद्र थे। उन्होंने मुझे शांत करने की कोशिश की और स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि वे कोरिया और हिंद-चीन को लेकर [illegible] खास ध्यान [illegible] समय नहीं [illegible] से संपर्क करेंगे और उनके सामने यह सुझाव रखेंगे कि चाङ् को मामले को आगे बढ़ाने के लिए कहा जाए।

हम कुछ दिनों के बाद फिर मिले लेकिन चाङ् का रुख कड़ा ही था; वही हाल हान कुङ् सू का था। ऐसा लगता था कि वे तिब्बत के विभिन्न व्यापार बाजारों और सीमा मार्गों के बारे में निश्चित नहीं थे तथा स्थानीय अधिकारियों से पूछताछ कर रहे थे। उन्होंने सारे मामले को कुछ और दिनों तक खिसकाने के लिए जान-बूझ कर कड़ा रवैया अपनाया था और 'रियायतें देने' का नाटक बाद में करना चाहते थे। यह चाङ् हान फू की खास आदत थी और इसमें चीन की पारंपरिक चाल थी।

राघवन और मैंने इसके बारे में एक साथ बैठकर सोचा और फैसला किया कि चाङ् के साथ समय नष्ट करने के बजाय मैं अनौपचारिक तौर पर चेन से बातचीत करूं और उसके बाद हम दोनों मिलकर जिन निष्कर्षों पर पहुंचें उन्हें दोनों प्रतिनिधिमंडलों की स्वीकृति के लिए पेश करें। ऐसा लगभग एक महीने तक होता रहा और यद्यपि सारी प्रक्रिया के दौरान कठिन मेहनत करनी पड़ी लेकिन उससे कुछ सर्वसम्मत मुद्दों पर पहुंचा जा सका। लेकिन निम्नलिखित विषयों पर बाधा पैदा हो जाती थी —

1. समझौते की अवधि : हमने 25 वर्ष का सुझाव दिया था जबकि चीन केवल पांच वर्ष चाहता था। अंततः आठ साल के समय पर समझौता हुआ। इससे हमें चीन के उद्देश्यों के बारे में संदेह होने लगा और हमने दिल्ली को सूचित किया, लेकिन दिल्ली ने आठ वर्ष का समय स्वीकार कर लिया।

2. चीनी पक्ष इस बात पर जोर दे रहे थे कि पांच सिद्धांतों को समझौते का हिस्सा न बनाया जाये, लेकिन समझौते पर हस्ताक्षर किये जाने के अवसर पर जारी की गयी प्रेस विज्ञप्ति में उन्हें शामिल किया जाये। उन्होंने कहा कि [illegible] उन्होंने ऐसा ही किया है और वे उससे अलग कुछ करना नहीं चाहते, लेकिन हमने इस बात पर जोर दिया कि यही तो समझौते का निचोड़ और उसका [illegible] है और उसमें उसे अलग स्थान दिया जाना चाहिए, चाऊ को [illegible] में शामिल करने का फैसला किया गया। दिल्ली ने इसका [illegible]।

3. चाङ् हान फू तिब्बत, उत्तरप्रदेश और [illegible] के बीच के [illegible] स्थित 'छह (सीमा) मार्गों' का उल्लेख किये जाने का [illegible] से अनुरोध किया कि वह उनको समझा दें और [illegible]

और बोले "हमने अपने भारतीय मित्रों को यह छठवीं रियायत दी है।"

4. अंत में उन्होंने व्यापारियों द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले डेमचॉक (जम्मू और कश्मीर के लद्दाख जिले में) का उल्लेख (सीमा) मार्ग के रूप में किये जाने पर आपत्ति उठायी। चेन ने व्यक्तिगत तौर पर मेरे सामने स्वीकार किया कि उनको कश्मीर से संबंधित किसी भी प्रकार के उल्लेख के बारे में दुविधा थी। वह भारत या पाकिस्तान किसी का पक्ष नहीं लेना चाहते थे, उन्होंने कहा। बहरहाल मेरी धारणा के अनुसार उन को असल में आपत्ति यह थी कि अक्साई चिन (कश्मीर के लद्दाख जिले में स्थित) पर हमारा दावा मजबूत होता जा रहा था, सिनकिआंग और पश्चिमी तिब्बत को मिलाने के लिए, जिसकी उन्हें जरूरत थी। एक उपाय पर सहमति हुई जिसे दिल्ली ने भी स्वीकार किया कि सिंधु नदी घाटी के पास से ताशीगांग लेक जाने वाले मार्ग को पहले की भांति आर-पार जाने के लिए खुला छोड़ दिया जायेगा।

इस सबमें चार महीने लग गये। 29 अप्रैल, 1954 को समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। डा० गोपालाचारी और मैं एक दिन पहले तिएन आन मेन में होने वाले मई दिवस की परेड में शामिल होने के बाद 2 मई को पीकिंग से स्वदेश के लिए रवाना हुए।

समझौते की मुख्य बातें ये थीं :

1. पांच सिद्धांत या पंचशील।
2. मध्य क्षेत्र के छह (सीमा) मार्गों को मान्यता।
3. वाणिज्य दूतावासों की स्थापना। (भारत के ल्हासा और शंघाई में, चीन के कलकत्ता और बंबई में)।
4. व्यापार संस्थाओं की स्थापना (भारत की यातुंग, ग्यांत्से और गार्येक में तथा चीन की नयी दिल्ली, कलकत्ता और कालिमपॉङ् में)
5. छोटे भारतीय व्यापारियों द्वारा सीमा पर किये जाने वाले पारंपरिक व्यापार के लिए तिब्बत में दस व्यापार केंद्रों की स्थापना (भारत की ओर से कुछ नहीं)।
6. भारत और तिब्बत के तीर्थयात्रियों के लिए एक दूसरे के तीर्थ स्थानों (भारत में बोधगया, सारनाथ और सांची, तिब्बत में कैलाश, मानसरोवर और ल्हासा) की यात्रा के दौरान प्रवेश की सुविधाएं और सुरक्षा की व्यवस्था।

उसी दिन पत्र व्यवहार हुआ और भारत ने तिब्बत में अपने अतिरिक्त क्षेत्रीय अधिकारों को त्याग दिया (जो कि 1904 में यंगहसबैंड के ल्हासा अभियान के दौरान भारत पर थोपा गया था), जिसमें ग्यात्से और यातुंग में सैनिक अनुरक्षक, डाक-तार और दूरभाप सेवाएं तथा 12 विश्राम गृह, जिन्हें विश्रामगृहों के तौर पर ही रखने के लिए चीनी राजी हो गये, शामिल थे। 1954 में इनकी दशा अस्तव्यस्त थी और पूरे तिब्बत पर चीन का नियंत्रण हो जाने के बाद भी इनमें कोई विशेप परिवर्तन नहीं आया। लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण यह तथ्य था कि वे साम्राज्यवादी दमन के अवशेप थे और बराबरी के सिद्धांत का उल्लंघन करते थे। नेहरू की नीति ब्रितानी नीति का प्रतिरूप नहीं थी और वह खिझानेवाला ऐसा कोई मुद्दा नहीं चाहते थे जिसका कोई व्यावहारिक मूल्य न हो। (राघवन ने यह मुद्दा गुप्त रखा था और चाङ् के साथ अपनी अंतिम मुलाकात में उसे एक 'रियायत' के तौर पर पेश कर दिया था।)

बातचीत के दौरान कुछ दिलचस्प घटनाएं हुईं। उदाहरण के तौर पर हमने अपने हिंदी अनुवाद में 'छोटा मोटा व्यापार' शब्द इस्तेमाल किये थे। चीन के हिंदी

विशेषज्ञ इन दो विरोधाभासी शब्दों में तालमेल नहीं बैठा पाये, क्योंकि उन्होंने सोचा नहीं था कि यह एक मुहावरा है, जिसका प्रयोग बड़े पैमाने पर किया जाता है। हमें चीनियों को यह समझाने में दो सप्ताह लग गये और अपने दिल्ली स्थित दूतावास से पता करने के बाद ही उन्होंने अततः उसे स्वीकार किया।

कुल मिलाकर चीनी भद्र, सुखद, शिष्ट और छोटी-छोटी बातों में सहयोग देने वाले होते हैं, लेकिन निजी हित की मुख्य बातों के बारे में दृढ़ होते हैं। उन्होंने छोटी-छोटी बातों में 'उदारता' दिखाने का नाटक किया। चाऊ् हान फू मौका मिलते ही यह कहने से कभी नहीं चूके कि "हमने अपने भारतीय मित्रों को यह रियायत दी है!" हम अधिक स्पष्टवादी, निष्कपट थे, लेकिन सिद्धांतों के बारे में उतने ही दृढ़ थे, हालांकि छोटी-छोटी बातों पर अधिक शालीन थे।

पचशील समझौता, जिसका नामकरण संसद में नेहरू ने किया था, द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद के इतिहास में पहली बार एक ऐसे प्रयास का प्रतीक था, जिससे एशिया के दो बड़े देश सिद्धांतों के आधार पर आपस में, द्विपक्षीय संबंध स्थापित कर सके। उनकी सफलता दोनों पक्षों के उद्देश्यों और इरादों, राष्ट्रीय आकांक्षाओं और हितों, नेतृत्व और लागू करने वाली व्यवस्था पर निर्भर करती थी।

दोनों पक्ष अपने-अपने राष्ट्रीय हितों के बीच संभावित संघर्ष और साम्राज्यवाद द्वारा छोड़े गये खिझाने वाले मुद्दों के बारे में सचेत थे। समझौता एक ऐसा प्रयास था जिससे हमारे राष्ट्रीय हित और आकांक्षाओं की आपसी टकराहट को रोका जा सके और शांतिपूर्ण तरीकों और राजनयिक बातचीत के माध्यम से दो महान् पड़ोसी आमने सामने बैठकर संघर्ष पैदा करने वाले मुद्दों को सुलझाने का शांतिपूर्ण तरीका निकाल सकें।

यह समझौता पूरी तरह दोषरहित नहीं था। दो महान देशों के बीच कोई भी समझौता पूरी तरह त्रुटिविहीन नहीं हो सकता। इस समझौते में आपस में आदान-प्रदान की भावना थी और छोटी-छोटी बातों पर समझौते की इच्छा थी। पाच सिद्धांतों पर विस्तृत समझौता हुआ। यही समझौते का सार था। इसकी सफलता इसमें निहित भावना और द्विपक्षीय संबंधों के आचरण को दिशा निर्देश देने के लिए दोनों पक्षों द्वारा लागू किये गये तरीकों और विस्तार पर निर्भर करेगी।

युगों से निकट और दूर के पड़ोसियों के बीच क्षेत्रीय विवाद चले आ रहे हैं। प्रश्न यह उठता है कि उन्हें सुलझाने के लिए युद्ध, धमकी या बल-प्रयोग का सहारा लिया जाना चाहिए या वार्तालाप के द्वारा अधिक सभ्य और शांतिपूर्ण तरीके अपनाये जायें। यह समझौता अंतर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने के लिए युद्ध की संभावनाओं को नष्ट करके शांतिपूर्ण समझौते का आश्वासन देने की एक कोशिश थी। दोनों पक्ष अब भी पाच सिद्धांतों में अपना विश्वास व्यक्त करते है और उसी में शायद भविष्य के लिए कोई आशा निहित है।

10
चीन-भारत संबंध 1954-1962

मेरे दिल्ली लौटते ही नेहरू जी ने मुझे तुरंत बुलाकर संसद में दिये जाने वाले अपने वक्तव्य के लिए उन्हें एक छोटा नोट देने के लिए कहा, मैं तभी उस काम में जुट गया, नेहरू ने मेरी विस्तृत व्याख्या को स्वीकार तो किया लेकिन उसे और भी ऊंचे स्तर तक पहुंचा दिया, उन्होंने प्रस्तावना में उल्लिखित पांच सिद्धांतों के महत्व पर जोर दिया, तिब्बत में हमारे 'अतिरिक्त क्षेत्रीय' अधिकारों को छोड़ दिये जाने का भी उन्होंने समर्थन किया, संसद में कुछ कट्टर दक्षिणपंथियों के अलावा किसी ने कोई विशेष आलोचना नहीं की, चीन-भारत मैत्री को लेकर सारे देश में नया उत्साह और खुशी की लहर फैल गयी, इसको लेकर कुछ संशय भी थे क्योंकि उससे कुछ ऐसी अनावश्यक आशाएं और उम्मीदें पैदा हो सकती थी शायद कभी भी पूरी न होतीं।

पीकिंग की बातचीत से यह स्पष्ट हो गया था कि हमारे उत्तर और पूर्व के सीमावर्ती क्षेत्रों के विकास, प्रशासन और सुरक्षा की ओर और अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए, जो कि ब्रितानी शासन के दौरान उपेक्षित रहा। उच्च स्तर पर कुछ गंभीर विचार विमर्श के बाद यह तय किया गया कि हमें अपने सीमावर्ती क्षेत्रों के आर्थिक और सामाजिक विकास पर पूरी तरह ध्यान देना है, वहां संपर्क के साधन बनाने हैं, कुशल प्रशासन स्थापित करना और सीमा के हर महत्वपूर्ण स्थान पर नियंत्रण चौकियों की स्थापना या पुनर्स्थापना करनी है।

नेफा (उत्तर पूर्व सीमा) विदेश मंत्रालय के शासनाधीन था और राष्ट्रपति के प्रतिनिधि की हैसियत से असम के राज्यपाल का उस पर सीधा नियंत्रण था, विदेश मंत्रालय द्वारा नियुक्त सलाहकार भी वहां थे, वहां का गैर-सैनिक प्रशासन असम सरकार के अधिकारी और कार्यकर्ता चलाते थे, यह व्यवस्था संतोषजनक नहीं थी और प्रधानमंत्री ने एक नये दर्जे की सेवा शुरू करने की स्वीकृति दी जिसे भारतीय सीमा प्रशासन सेवा नाम दिया जाना था, यह सेवा 1954 में स्थापित की गयी और शिलांग में अल्पकालिक प्रशिक्षण के बाद अधिकारियों ने छह सीमा प्रखंडों और बारह उपप्रखंडों का कार्य-भार संभाला, एक नयी सेवा स्थापित करने की दिशा मे यह एक कीर्तिमान था और संबद्ध मंत्रालयों के सहयोग से ही यह संभव हो सका।

हमारी भारतीय सीमा प्रशासन सेवा ने जोर-शोर से अपना काम शुरू कर दिया, नये अधिकारी समर्पित और उत्साह से भरे हुए थे; दूरदराज, अगम्य और लगभग जन-मानव रहित स्थानों पर रहते हुए उन्हें घोर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वे बांस की झोपड़ियों में रहते थे, जनजाति लोगों के साथ खाते-पीते थे, उनके गाने बजाने में शरीक होते थे और पूरे इलाके की यात्रा पैदल करते, हमने उनको तरह-तरह की रियायतें दीं और एक विशेष सीमा भत्ता भी दिया लेकिन उसके बावजूद दस वर्ष तक लगातार एक कठिन इलाके में रहकर, जहां का बाहर की दुनिया से लगभग कोई संपर्क ही नहीं था, कुछ लोग दिल और रक्तचाप की बीमारियों के शिकार हो गये। नेहरू ने निर्देश दिया कि उनके कठिन जीवन को सहज बनाने के लिए उन्हें दिल्ली के मुख्यालय और भूटान,

नेपाल, अफगानिस्तान जैसे पड़ोसी देशों के भारतीय राजनयिक कार्यालयो मे उपयुक्त पदो पर नियुक्त किया जाये, लेकिन इस निर्देश को भारतीय विदेश सेवा के सदस्यों ने पसंद नही किया जिन्होने अपने सरक्षित क्षेत्र मे 'बाहर वालो' की घुसपैठ का विरोध किया, मैंने सुझाव दिया कि भारतीय विदेश सेवा के कुछ सदस्य भारतीय सीमा प्रशासन सेवा के सदस्यों के साथ दो या तीन वर्ष के लिए अस्थायी तौर पर पदो की अदला-बदली कर सकते हैं, लेकिन भारतीय विदेश सेवा का केवल एक ही अधिकारी इसके लिए राजी हुआ, बाद मे भारतीय सीमा प्रशासनसेवा के उपयुक्त अधिकारियों को भारतीय प्रशासन सेवा मे शामिल करके इस समस्या का समाधान किया गया।

हमने नेफा मे सीमा तक सड़कें बनवाने, हवाई पट्टियों की स्थापना करने और प्रभावशाली प्रशासन की व्यवस्था करने का कार्यक्रम आरंभ किया, यह कठिन काम था, लेकिन क्योकि विदेश मंत्रालय मे हमे कुछ भी करने की खुली छूट थी और प्रधानमंत्री स्वयं विदेशमंत्री भी थे, इसलिए हम बहुत कुछ कर पाये, अन्य क्षेत्रों मे विकास की गति धीमी थी।

चीनियों ने 1954 के मध्य तक अक्साईचिन से होती हुई सिङ्‌किआङ्‌ से पश्चिमी तिब्बत तक सड़क बना दी थी, उन्होंने लगभग दस टुकड़ियो को तिब्बत मे तैनात कर दिया था और सड़को तथा हवाई पट्टियो का जाल बिछा दिया था, 1954-56 मे उन्होंने जब बाराहोटी (मध्य क्षेत्र) मे, जिसे वे चीनी भाषा मे 'वू जे' कहने पर जोर देते थे, हमारी सीमा चौकी के बारे मे एतराज उठाया तो हमे संदेह हुआ, लेकिन हमने चीन के सभावित हमलो से बचाव के लिए खास कुछ नही किया, यह एक भूल थी जिससे पंचशील समझौते का प्रभाव कमजोर पड़ गया, एक शक्तिशाली, लड़ाकू और विस्तारवादी पड़ोसी कमजोर सीमा पर कब्जा करने के लिए लालायित हो उठता है। सैनिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक शक्ति के अभाव में केवल मात्र कागजी समझौते से कभी भी सुरक्षा और बचाव का आश्वासन नही मिल सकता।

लेकिन इन कठिनाइयो की गंभीरता के बारे मे सोचा नही गया और 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' के उत्साह और गांधीवादी दर्शन की गलत व्याख्या की आड़ मे इसे नजरअंदाज कर दिया गया, गांधी की 'अहिंसा' शक्ति के लिए एक हथियार था, कमजोर के लिए नही लेकिन 'गांधीवाद' के कुछ विशेषज्ञो और अनुयायियो ने सोचा था कि वे पीकिंग की शांतियात्रा करके चीनियो का मन बदल देंगे, अन्य लोग यह विश्वास करते थे कि क्योकि चीन ने हाल ही में कुछ आश्वासन दिये थे इसलिए तत्काल उससे कोई खतरा नही है, विशेषज्ञों की राय पर तब तक विशेष ध्यान नही दिया गया जब तक 1959 में चीन की आक्रामक नीति स्पष्ट नही हो गयी।

नेहरू ने राजनयिक तरीको से तनावपूर्ण स्थिति को सहज बनाने की न केवल कोशिश की, बल्कि शांतिपूर्ण तरीको से समस्या को सुलझाने की चेष्टा मे कोई कसर नही छोड़ी, लेकिन चीन की अपनी अदरूनी और बाह्य मजबूरिया थी, रूस के साथ खुले तौर पर उनकी समस्याएं और मतभेद बढ़ रहे थे, रूस ने उन्हे एक साधारण परमाणु बम देने से इनकार कर दिया था और सैनिक साज-सामान और तकनीकी सहायता के लिए दिए पिछले ऋणो के भुगतान पर जोर दिया था। चीन के लिए कोरिया का युद्ध बहुत महंगा पड़ा, लेकिन अपनी सुरक्षा के लिए उसे उसमे उलझना ही पड़ा था, ताइवान (फारमोसा) की 'मुक्ति' एक राष्ट्रीय नारा बन गया था लेकिन अमेरिका की श्रेष्ठ सैनिक शक्ति के कारण वह पूरा नही किया जा सका, उन्हे अपने लोगो को खुश करने के लिए जिनकी आशाओ और उम्मीदो को बहुत दूर तक पहुंचाया गया था, उन्हे कही-न-कहीं अपनी

सफलता तो दिखानी ही थी। रूस-मंगोलिया लोकतांत्रिक सैनिक समझौते की वजह से वह 'बाहरी' मंगोलिया में विशेष कुछ कर न सका, सबसे आसान लक्ष्य उत्तरी ब्रह्मदेश उत्तरी नेपाल और अक्साइचिन थे, सबसे बड़ी बाधा भारत की ओर से थी और उनके मनमें एक निराधार संदेह था कि अमेरिका के चीन विरोधी लोग तिब्बत में गड़बड़ी फैलाने के लिए भारत को शायद अपना अड्डा बना लें, अमेरिका के महावाणिज्य दूतावास में अमेरिकी गुप्तचर विभाग और कलकत्ता में कुओमिनताङ् समर्थकों की कुछ बचकाना हरकतों के कारण यह संदेह और भी गहरा हो गया जिससे तिब्बत के लोगों का लाभ कम और नुकसान ज्यादा हुआ।

तिब्बत में हालात स्थिर नहीं थे, मिमाङ् आंदोलन फैल रहा था, तिब्बत के लोग बड़ी संख्या में हान सिपाहियों के प्रवेश और तिब्बत की संस्कृति तथा धर्म के प्रति उनकी घृणा के कारण आशंकित और नाखुश थे, चीनी बड़ी संख्या में तिब्बत के युवाओं को पार्टी में शामिल करने के उद्देश्य से उन्हें शिक्षा देते थे और अनगिनत दासों को उनके तिब्बती सामंतों के चंगुल से उन्होंने 'मुक्ति' दिलवायी। उन्होंने विद्युत, पेयजल और आधुनिक कृषि की सुविधाओं का वहां प्रबंध किया, इस तरह जनसाधारण पर दलाई-लामा, तिब्बती मठाधीशों और सामंतों का प्रभाव कम करने में वे सफल हुए, यदि वे तिब्बत के मठों को अपवित्र न बनाते और वहां के धर्म को घृणा की नजरों से न देखते तो शायद तिब्बत का बहुमत उन्हीं के पक्ष में होता, उससे असंतोष और नाराजगी को बढ़ावा मिला, मार्च 1959 में दलाईलामा लुक छिपकर हजारों की संख्या में अपने अनुयायियों के साथ भारत पहुंच गये, उन्होंने भारत में शरण मांगी, जो उन्हें इस शर्त पर दी गयी कि वे राजनैतिक कार्रवाइयों से अपने को मुक्त रखेंगे।

इससे चीनी नाराज हो गये, यद्यपि इससे पहले उन्होंने खुद नेपाल के के० आई० सिंह और मलेशिया, थाईदेश, बर्मा आदि के अन्य लोगों को अपने यहां शरण दी थी, अंतर्राष्ट्रीय कानून के अंतर्गत वे धार्मिक अत्याचार से पीड़ित विस्थापितों को शरण देने के भारत के अधिकार के बारे में प्रश्न नहीं उठा सके। दलाईलामा और हजारों विस्थापितों के भारत आ जाने से उनके स्वाभिमान को ठेस पहुंची और विश्व में उनकी छवि धूमिल हो गयी, इसस भारत और चीन के बिगड़ते हुए संबंध और भी खराब हो गये।

1959 में लद्दाख के कोङ्का मार्ग और कर्नाक किले पर स्थित भारतीय सीमा पुलिस पर चीनी सिपाहियों द्वारा अकारण हमला किये जाने से भारतीय जनता और संसद में काफी रोष था, तिब्बत के लोगों के साथ भारतीय लोगों की अत्यधिक सहानुभूति थी, नेहरू पर संसद के अंदर और बाहर दबाव डाले जा रहे थे। 'हिंदी चीन भाई भाई' एक खोखला और अलोकप्रिय नारा बनकर रहा गया, नेहरूने राजनयिक तरीकों से तनाव को कम करने की भरसक कोशिश की लेकिन चीनी कुछ भी सुनने की मन:स्थिति में नहीं थे, चीन के उग्रवादी शक्तिशाली होते जा रहे थे। उन्होंने खुलेआम शत्रुतापूर्ण और आक्रामक रवैया अपनाया और लद्दाख पर छापा मारते रहे, वे पाकिस्तान के करीब आये और कश्मीर आत्मनिर्णय की मांग की, जबकि तिब्बत को इससे वंचित रखा था, एक प्रभुसत्ता-संपन्न देश के किसी भाग में आत्मनिर्णय की बात आ ही नहीं सकती, भारत अपने फैसले पर अटल था, जो कि अंतर्राष्ट्रीय कानून के मुताबिक था, लेकिन चीन की दोहरी मान्यताएं थीं, उनके प्रेस और रेडियो ने भारत के खिलाफ प्रचार युद्ध आरंभ किया, वे भारतीय नागाओं को (और पाकिस्तान की सहायता से मिजो को भी) सहायता और शरण देने लगे, चीन में उन्हें प्रशिक्षित करके भारत से लड़ाई करने के लिए वापस भेजा

जाता था, चीन ने पंचशील समझौते को उसका पालन करके नहीं बल्कि उसे तोड़कर सम्मान दिया।

चीनियों ने ऐसा क्यों किया? उससे उनको क्या लाभ मिलेगा? उन्होंने सिङ्‌किआङ्‌ को पश्चिमी तिब्बत से जोड़ने के लिए अक्साई चिन के बीच में से सड़क बना ही ली थी, पाकिस्तान के अधीन कश्मीर को गिलकट के बीच से सिङ्‌किआङ्‌ के साथ जोड़ने के लिए उन्होंने काराकोरम के ऊपर दो और सड़कों का निर्माण किया था, क्या यह संभव है कि उन्हें भय था कि रूस उनकी सहायता नहीं करेगा, बल्कि सिङ्‌किआङ्‌ और तिब्बत पर उसकी नजर है और इसी उद्‌देश्य से वह भारत से मैत्री बढ़ा रहा है? लेकिन ऐसा नहीं था, क्योंकि रूस के अधीन तो पहले ही काफी बड़ा क्षेत्र है, भारत सीमा विवाद में तो उलझा हुआ था लेकिन चीनी इलाके पर उसकी नजर नहीं थी, विशेष कर चीन से लड़ाई मोल लेकर तिब्बत जैसे विरोधी देश पर केवल मात्र प्रामाणिक, तर्कसंगत और उचित निष्कर्ष यही जान पड़ता है कि चीन के उग्रवादी अकेले पड़ गये थे और जिन अंदरूनी और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का उन्हें सामना करना पड़ रहा था उनसे जनसाधारण का ध्यान हटाने के लिए अन्य क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करना चाहते थे, वे चीन को साम्यवादी जगत के नेता और एशिया में 'बड़े भाई' के रूप में देखना चाहते थे, आसपास के देश जिसके पिछलग्गू बने रहे, उन्होंने अपने स्कूल की पाठ्य पुस्तकों में नक्शे छापे, उनमें लद्‌दाख, नेफा, मलय, ब्रह्मदेश, नेपाल, सिक्किम और भूटान को चीन का हिस्सा बताया गया। तीसरी दुनिया में भारत का महत्व बढ़ रहा था और चीन भारत की साख कम करने के लिए विकासशील देशों को तरह-तरह के प्रलोभन देने लगा, चीन के लिए एशिया पर अपनी धाक जमाने और उसके बाद तीसरी दुनिया का नेतृत्व संभालने के मार्ग में भारत ही सबसे बड़ी बाधा था।'

'लंबी छलांग' नाकामयाब रही, चीन की अर्थव्यवस्था जड़ हो गयी, उसका औद्योगिक उत्पादन लगभग ठप्प पड़ा हुआ था, रूसी सहायता और सहयोग के स्रोत लगभग सूख चुके थे, पश्चिम से सहायता उपलब्ध होने में चीन का अहंकार उसे प्राप्त करने में बाधक था, अमेरिका के साथ संबंध तब तक तनावपूर्ण थे, अंदरूनी समस्याओं की ओर से अपनी जनता का ध्यान हटाने के लिए चीन का लड़ाकू उग्रवादी नेतृत्व कहीं कोई 'फतेह' चाहते थे, नेहरू का भारत उनकी आकांक्षाओं के लिए प्रमुख बाधा थी इसलिए जाहिर है कि वही उसका लक्ष्य बना।

पहले चीन ने भारत के पड़ोसियों को अपने पक्ष में लेने की कोशिश की, उसने ब्रह्मदेश को तटस्थ बनाया, नेपाल को उकसाया और भारत के प्रति पाकिस्तान के शत्रुतापूर्ण रवैये को भड़काया और प्रोत्साहित किया, फिर उसने भारत को ऐसे किसी इलाके में जहां भारत को घोर कठिनाइयों का सामना करना पड़े और चीन के लिए वह स्थान सुविधाजनक हो, सैनिक कार्यवाही के लिए उकसाने के उद्‌देश्य से धीरे-धीरे भारतीय क्षेत्रों को काटना आरंभ किया, भारत के खिलाफ चीन की यह अग्रिम नीति थी, वह तीसरी दुनिया को दिखाना चाहता था कि सैनिक दृष्टि से भारत कमजोर है, उसका सामाजिक ढांचा चरमरा रहा है और आर्थिक सहायता के लिए वह पश्चिम पर निर्भर है।

चीन के भारतीय मित्रों ने भी उसमें यह गलतफहमी पैदा कर दी थी कि भारत क्रांति के लिए पूरी तरह तैयार है और चीन के माध्यम से किसी भी तरह की सैनिक कार्यवाही से वह ढह जाएगा; उत्तर पूर्वी क्षेत्र और पूर्वी प्रदेश पके हुए फल की तरह चीन की झोली में आ गिरेंगे; दक्षिण, तेलगाना की स्मृतियों के साथ, अलग हो जाएगा; कश्मीर पाकिस्तान को चला जाएगा और पंजाबी सूबा एक स्वतंत्र खालिस्तान सिख लोक-

तंत्र बन जाएगा। केवल हिंदी भाषी क्षेत्रों से बना भारत आकार में छोटा हो जाएगा— सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ होगा और सैनिक दृष्टि से उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाएगा। उसके बाद पूर्व और उत्तर-पूर्व के लड़ाकू चीन समर्थक प्रदेश ओडिसा, बिहार तथा उत्तर प्रदेश पर कब्जा कर लेंगे और समय आने पर गंगा की घाटी भी चीन समर्थक साम्यवादी प्रदेश बन जाएगा।

भारत के छिन्न-भिन्न होते ही नेपाल, ब्रह्मदेश, मलयेशिया, सिंगापुर, इंदोनेशिया, थाईदेश, फिलीपीन आदि भी ताश के पत्तों की तरह ढह जायेंगे। इन देशों में उस समय चीनियों की बहुत बड़ी संख्या मौजूद थी। जहां तक हिंद-चीनी देशों का सवाल था वे तो साम्यवाद का रास्ता अपना ही रहे थे या चीन के साथ उनकी निकटता से वे अनायास ही उसकी तरफ खिंचे चले आते। हांग-कांग, ताइवान और दक्षिण कोरिया अंततः कोई कठिन समस्या खड़ी करने वाले नहीं थे। जापान पर विजय पाना कठिन था लेकिन व्यापार और अन्य प्रलोभनों तथा सांस्कृतिक और जातीय खिंचाव से उस पर चीन समर्थक प्रभाव निश्चित ही पड़ेगा। हद-से-हद यदि चीन से किसी के संघर्ष की नौबत आएगी तो जापान तटस्थ रहेगा। इस तरह एशिया में चीन का प्रभुत्व कायम हो जाएगा।

चीनी विस्तारवादी ऐसा ही सपना देख रहे थे। उनकी खुशफहमी, नया उग्रवादी लड़ाकू नेतृत्व और एशिया में उनके 'मित्रों' के गलत अनुमानों ने उन्हें ऐसा सोचने के लिए बाध्य किया। यदि चीन की रूस के प्रति मैत्री शत्रुता में बदल सकती है तो भारत के लिए यह मौका कहां रह जाता है कि वह उसके साथ पंचशील के अनुसार शांतिपूर्ण तरीकों से मतभेदों का समाधान करे। तिब्बत से दलाईलामा के चले आने और भारत के खिलाफ चीन के 'अग्रिम' आंदोलन के बाद भारत के सामने यही प्रश्न था।

नेहरू ने सीधे टकराव से बचने की कोशिश की, लेकिन भारत का जनमत कुछ कार्रवाही चाहता था। चाऊ एन लाई भारत आना चाहते थे अतः नेहरू ने उन्हें आमंत्रित किया। अप्रैल 1960 में वह आये। 1954 और 1956 की उनकी यात्राओं से यह यात्रा बिल्कुल भिन्न थी। उस समय वह एक नायक, मित्र और भाई के रूप में उनका स्वागत किया गया था।

जिनेवा में हिंद-चीन पर आयोजित सम्मेलन से लौटते हुए जुलाई, 1954 में चाऊ की दिल्ली यात्रा मुझे याद है। नेहरू से उनकी बातचीत के दौरान मैं ही एकमात्र भारतीय सहायक वहां मौजूद था। जबकि चाऊ के सहायक के रूप में चिआओ, कुआन, हुआ वहां थे। चाऊ ने भारत के प्रति अपना आभार प्रकट किया और भारत की शांति तथा गुटनिरपेक्षता की नीति की प्रशंसा की। उन्होंने कहा कि भारत की नीति अन्य देशों के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करती है और वह चाहेंगे कि हिंद-चीनी देश इसी तरह की गुटनिरपेक्षता की नीति का अनुसरण करें। इसी यात्रा के दौरान पांच सिद्धांतों (पंचशील) की पुनर्स्थापना की गयी।

उनका 1956 का दौरा और भी सफल रहा। उन्होंने दलाई और पंचेन लामा को भारत आने की इजाजत दी, जिससे नेहरू में उनके विश्वास की पुष्टि हुई। जिस समय वह दक्षिण भारत का दौरा कर रहे थे, नेहरू ने एक विशेष संदेश के साथ मुझे उनके पास भेजा। उन्होंने संदेश का जवाब बड़ी हार्दिकता से दिया। उस समय ऐसा जान पड़ा कि चीन और भारत पंचशील को सफल बनायेंगे।

लेकिन 1956 और 1960 के बीच संबंध इतने बिगड़ गये कि उन्हें सुधारने के लिए न तो चाऊ और न ही नेहरू विशेष कुछ कर सके। सीमा समस्या को शांतिपूर्ण तरीके से सुलझाने का शायद एकमात्र उपाय 1960 में चाऊ की भारत यात्रा थी। भारत

ने महसूस किया कि उसके साथ अन्याय हुआ है इसलिए वह किसी भी प्रकार की रियायत देने की स्थिति में नहीं है। चीन इस स्थिति में था कि परंपरा, तथ्यात्मक स्थिति और आदान-प्रदान के आधार पर वह शांतिपूर्ण समझौते का प्रस्ताव रखे। लेकिन नेफा को भारत का और अक्साईचिन को चीन का हिस्सा मानते हुए, जैसा कि पहले बताया जा चुका था, किसी तरह के समझौते का सुझाव देने की बजाए चाऊ अपने 'छह सूत्रों' पर ही बल देते रहे और सीमा समस्या के पूरे मुद्दे पर नए सिरे से विचार करने का सुझाव दिया (चीन-रूस सीमा के बारे में भी उन्होंने ऐसा ही रवैया अपनाया था)। नेहरू इसे स्वीकार न कर सके। वह विशेष मुद्दों पर बातचीत करने के लिए तैयार थे, लेकिन पूरी सीमा को 'विवादास्पद' मानने को तैयार न थे। इस दौरे की एकमात्र उपलब्धि यही थी। दोनों पक्षों के अधिकारियों को लेकर एक संयुक्त दल का गठन किया गया जिसे तथ्यों और सबूतों की छानबीन करने के बाद उन पर विचार करके दोनों सरकारों के सामने एक संयुक्त रपट पेश करनी थी।

1959 में अपनी 'असली नियंत्रण की रेखा' का अतिक्रमण करके चीनियों ने हमें युद्ध के लिए उकसाया। ऐसा कुछ समय तक चलता रहा। आधिकारिक दल की बैठक हुई लेकिन उसने 'संयुक्त' रपट पेश नहीं की। जिन अधिकारियों को किसी भी मुद्दे पर, चाहे वह कितना भी छोटा क्यों न हो अपने विचार व्यक्त करने का राजनैतिक अधिकार न हो उनसे यही उम्मीद की जा सकती थी। कानूनी पेचीदगियों, ऐतिहासिक, पारंपरिक और सामरिक तथ्यों की कागजी व्याख्याओं को लेकर दोनों पक्ष एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश करते रहे।

1959 में नेहरू ने ईरान का दौरा किया। उस समय मैं वहां राजदूत था। मैंने उन्हें सुझाव दिया कि असली स्थिति को यथावत रहने देकर एक गैरसैनिक क्षेत्र स्थापित किया जाए और एक उच्च स्तरीय संयुक्त सीमा आयोग का गठन किया जाए, जो प्रमुख मुद्दों के बारे में तत्काल फैसला करके अंतिम समझौते के लिए दोनों सरकारों के सामने अपने सुझाव पेश करें। नेहरू सैद्धांतिक तौर पर तो सहमत हो गए, लेकिन उसे कार्य रूप देने में उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। ऐसा नहीं था कि दोनों ओर से राजनैतिक इच्छा के अभाव में इससे समस्या सुलझ सकती थी। लेकिन स्थिति और बिगड़ने से बचा जा सकता था, जिससे घोर संकट उत्पन्न हो सकता था। इतिहास में इसकी मिसालें मौजूद थीं। बहरहाल, इस सुझाव को कार्यान्वित नहीं किया जा सका। मैं इस बारे में भी निश्चित नहीं था कि चीनी इसे स्वीकार कर ही लेंगे। लेकिन इसका पता करना जरूरी था। दोनों देशों का वातावरण इतना तनावपूर्ण था कि इस तरह की कोई भी कोशिश नाकामयाब होती। केवल नेहरू या चाऊ ही ऐसा सुझाव दे सकते थे, लेकिन चीन और भारत के बीच और दोनों देशों में तनावपूर्ण वातावरण को देखते हुए उनके लिए भी ऐसा करना कठिन हो गया। आधिकारिक दलों ने अपनी-अपनी सरकारों को अलग-अलग रपटें पेश की।

नेहरू जब सितंबर, 1962 के प्रथम सप्ताह में राष्ट्रकुल प्रधान-मंत्रियों के सम्मेलन में भाग लेने के लिए लंदन आए तो मैं उस समय वहां उपउच्चायुक्त के पद पर था। मैंने उन्हें सुझाव दिया कि क्योंकि अधिकारियों की रपटें पेश की जा चुकी हैं इसलिए समय आ गया है कि इस दिशा में पहल की जाए और यह सुझाव दिया जाए कि रपटों पर विचार करने के लिए दोनों पक्षों के बीच उच्चस्तरीय वार्ता शुरू की जाए। नेहरू सहमत हो गए और इस बारे में दिए जाने वाले संदेश के प्रारूप को भी उन्होंने स्वीकृति दे दी। लेकिन चीनी सैनिक स्थिति बिगाड़ने में लगे रहे। 8 सितंबर, 1962 को समाचार मिला कि

उन्होंने नफा में थागला मार्ग पर अकारण ही आक्रमण कर दिया है। इसकी तैयारी वे कुछ समय से कर रहे थे। नेहरू ने इसे स्थानीय घटना करार देकर स्थिति को नियंत्रण में रखने का कोशिश की और घोषणा की कि चीनियों को (इस क्षेत्र से) खदेड़ दिया जाएगा। लेकिन जब चीनी सैनिक बड़ी संख्या में और आगे बढ़ने लगे तो इसे केवल एक स्थानीय घटना के रूप में देखा नहीं जा सका।

उग्रवादी, लड़ाकू चीनी भारत को नीचा दिखाने, पराजित करने और दुनिया की नजरों में उसकी छवि धूमिल करने के लिए बल परीक्षा करना चाहते थे। वे शायद सोचते थे कि भारत इससे पूरी तरह ढह जाएगा, उसके टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे और वह युद्ध-विराम चाहेगा। लेकिन इससे भारतवासी एक राष्ट्र के रूप में, एकजुट हो गए। लगभग सभी राजनीतिक दलों ने अपने मतभेद भुला दिए और एक होकर राष्ट्र को पुकारा कि अपनी सुरक्षा के लिए सब कमर कस लें। चीनी आगे बढ़ते रहे और हमारी सेना को, जिसके पास पर्याप्त साधन नहीं थे और जिसे जल्दबाजी में वहां भेजा गया था, आक्रमण किया और नफा में हमें शिकस्त दी। यद्यपि हमारे सैनिकों की तुलना में उनके अधिक सैनिक मारे गए (10,000 के मुकाबले 4000)। हमारे सैनिकों ने मुकाबला किया लेकिन संख्या में वे बहुत कम थे। लद्दाख में, जहां हमारे सैनिक अधिक समय तक रहने के कारण वहां के आदी हो गए थे, उन्होंने बेहतर लड़ाई लड़ी।

जब चीनियों को पता चला कि भारत डिगेगा नहीं और न ही सुलह के लिए वह गिड़गिड़ाएगा तथा उनके संचार के साधन बहुत विस्तृत और सुभेद्य हो गए हैं तो उन्होंने जरूरत का बहाना बनाकर 21 नवंबर को 'एकपक्षीय युद्धविराम' की घोषणा की। इसके पीछे शायद हमें निश्चितता का आभास दिलाने का मकसद था, लेकिन इसका प्रभाव विपरीत ही पड़ा। चीन ने 20 अक्तूबर को, और फिर 15 और 16 नवंबर को बड़े पैमाने पर आक्रमण किए। नेहरू ने सभी मित्र सरकारों को राजनैतिक और उपकरण आदि की सहायता के लिए लिखा लेकिन वह किसी सामरिक गुट या सैनिक गठबंधन में शामिल होने को राजी न हुए, जैसा कि कुछ लोगों ने साबित करने की कोशिश भी की थी। वह अपने गुटनिरपेक्षता की नीति पर अटल रहे, लेकिन जैसा कि उन्होंने कहा "आप अपने देश पर युद्ध के बादल मंडराते देख निरपेक्ष नहीं रह सकते।"

ब्रितानी-अमेरिकियों ने हमारी आवश्यकताओं का मूल्यांकन करने के लिए एक सैनिक दल भेजा, पहाड़ पर युद्ध करने के कुछ उपकरण दिए, लेकिन उनसे कोई खास फर्क नहीं पड़ा। दिसंबर, 1962 में जब डंकन सैंडीस और डीन रस्क भारत आए तो वे कश्मीर में पाकिस्तान को रियायतें देने और उसके साथ एक संयुक्त सैनिक समझौता करने के लिए भारत पर दबाव डालते रहे लेकिन नेहरू किसी दबाव के आगे झुकने वाले नहीं थे। जब दिसंबर, 1962 में चीन-पाकिस्तान अस्थायी समझौते के अंतर्गत पाकिस्तान ने पाक अधिकृत कश्मीर की लगभग 4000 वर्ग किलोमीटर भारतीय क्षेत्र चीन के सुपुर्द कर दिया तो नेहरू ने सैंडीस-रस्क के सुझावों को रद्दी की टोकरी में डाल दिया।

मुझे लंदन से वापस बुला लिया गया और भारत के राजदूत की हैसियत से मास्को जाने के लिए कहा गया। मैं अक्तूबर, 1962 के तीसरे सप्ताह में दिल्ली पहुंचा और दस दिन के भीतर ही मास्को के लिए रवाना हो गया। ये दस दिन सबसे मधुर लेकिन फिर भी सबसे दुखद दिन थे। चीन के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध की संभावना का नेहरू का स्वप्न चूरचूर हो चुका था। पंचशील समझौता एक कागज का टुकड़ा मात्र बनकर रह गया था। नेहरू बहुत उदास हो गए थे, और उनका मोह भंग हो चुका था। लेकिन वह शांत और धैर्यशील थे तथा कभी भी अपना संतुलन नहीं खोते थे। उन्होंने युद्ध के

आतंक पर नियंत्रण रखा। यद्यपि वह जनता और संसद के विचारों का मान करते थे लेकिन फिर भी उन्होंने ठंडे दिमाग से काम लिया। संकट के दौरान ही एक व्यक्ति और राष्ट्र की शक्ति का परीक्षण होता है। 1962 में नेहरू और नेहरू का भारत इस परीक्षा में सफल रहे। इसे एक नीचा दिखाने वाली पराजय के रूप में न लेकर नेहरू ने इसे एक युद्ध में अपनी हार माना। उन्होंने इसका उपयोग राष्ट्र को एकसूत्र में बांधने और जनता के उत्साह को वास्तविक तथा रचनात्मक दिशाओं में मोड़ने के लिए किया।

सुरक्षा को, जो अब तक बुरी तरह उपेक्षित पड़ी थी, आवश्यक महत्व दिया गया। राष्ट्र भर में संयम, परिश्रम और बलिदान का आंदोलन आरंभ किया गया। जनता ने पूरी तरह और सच्चे दिल से उनका साथ दिया।

यही था जिसने दुखद और कठिन दिनों में नेहरू को सक्रिय रखा। मास्को के लिए रवाना होने से पहले उन्होंने मुझे जो सलाह दी उसको मैं भुला नहीं सकता। अक्तूबर, 1962 के नेहरू उदास और यथार्थवादी थे, जो कि अक्तूबर 1950 के उस आशावादी और उल्लासी नेहरू के बिल्कुल विपरीत थे, जिन्होंने पीकिंग जाने से पहले मुझसे बातचीत की थी। वह चिंता की मुद्रा में थे और धीरे-धीरे लेकिन जानबूझ कर हल्के और नम्र स्वर में बात कर रहे थे। मैं ध्यान से सुन रहा था। संक्षेप में उन्होंने मुझसे यह कहा :

"तुम दुनिया के एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण देश में हमारे प्रतिनिधि बनकर जा रहे हो। तुम एक कठिन समय में जा रहे हो। अपना धैर्य कभी मत खोना और न ही दिल छोटा करना। रूसी नेता खुले तौर पर शायद हमारा समर्थन नहीं करेंगे, लेकिन उनकी सहानुभूति हमारे साथ है। इसी दिशा में काम करना और उन्हें तथ्यों से अवगत कराना। उनको हमारे लक्ष्य के औचित्य के बारे विश्वास दिलाने की कोशिश करना। उनके और हमारे बीच राष्ट्रीय हितों को लेकर कोई टकराव नहीं है, बल्कि इसके विपरीत बहुत सी बातें दोनों के मतलब की हैं। चीन की विस्तारवादी और आक्रामक [illegible]

हम रूस जैसे मित्र देश से यह आशा करते हैं कि वह हमारी मान्यताओं को समझेंगे और उनकी प्रशंसा करेंगे। भारत और रूस के बीच मैत्री और सहानुभूति एशिया में शांति और स्थिरता बनाए रखने में सहायक हो सकती है।"

मैंने यथासंभव अपनी याददाश्त से नेहरू के विचारों की धारा को दोबारा सामने लाने की कोशिश की है। उन्होंने मुझ से कुछ केबिनेट मंत्रियों से मिलने के लिए भी कहा। अचानक वह मुस्कराए, खड़े हुए और मेरे कंधों पर हाथ रखकर बोले, "जानते हो, कौन से तीन भारतीय रूस में सबसे अधिक लोकप्रिय हैं?" मैंने जवाब दिया, "गांधी, रवि ठाकुर और नेहरू।" वह हंस पड़े और बोले—"नहीं—सबसे पहले नर्गिस, फिर राजकपूर (जाने माने फिल्मी सितारे) और अंत में नेहरू।" मैंने भी उनकी हंसी में सहयोग दिया। मेरे प्रति उनके विश्वास और मुझ पर भरोसा रखने के लिए उन्हें धन्यवाद देकर अपनी क्षमता के मुताबिक अच्छे से अच्छा कार्य करने का वचन दिया। आवश्यकता पड़ने पर उनसे सीधे पत्र-व्यवहार करने की अनुमति ली।

मेरी यह दूसरी मास्को यात्रा थी। स्तालिन के रूस की मेरी स्मृतियां मिली-जुली थी और बहुत सुखद भी नहीं थीं। मैं सोचता रहा कि ख्रुश्चेव का रूस न जाने कैसा होगा। मैंने अपना दिमाग खुला रखा और किसी भी तरह पूर्वाग्रहों या पूर्व धारणाओं से मुक्त होकर वहां पहुंचा।

11
ख्रुश्चेव का रूस

2 नवंबर, 1962 को पालम से मास्को में शेरेमेतेवा हवाई अड्डे तक की उड़ान केवल छह घंटे की थी। दोनों जगहों की जमीनों के तापमान में +20 डिग्री सेंटीग्रेड से −20 डिग्री सेंटीग्रेड का अंतर था। मैं मास्को के शीतकाल के लिए पूरी तरह से तैयार था। क्योंकि उसका अनुभव मुझे पहले हो चुका था। दूतावास के मेरे कुछ सहकर्मी, प्रोटोकोल विभाग, कुछ मित्र देशों के प्रतिनिधि और कुछ भारतीय नागरिकों ने मेरा स्वागत किया। चुंगी विभाग से छुटकारा प्राप्त करना अब, 1947-49 की तुलना में आसान लगा।

स्तालिन के रूस में रूसियों, विदेशियों और विशेषकर राजनयिकों के लिए जीवन कठिन था। लेकिन हालात अब बेहतर लग रहे थे—वातावरण पहले से कम तनावपूर्ण था। लोगों के पहनावे बेहतर लग रहे थे, दुकान उपभोक्ता सामग्रियों से भरी पड़ी थीं, सड़कों पर कुछ निजी मोटरें और टैक्सियां थीं। बसों में ठेलमपेल कम थी, रिहायशी मकान, होटल और रेस्तराओं की संख्या भी अधिक हो गयी थी। जिसने स्तालिन का रूस नहीं देखा था उसको ये फर्क नजर नहीं आ सकते थे। अधिकांश राजनयिक ख्रुश्चेव के रूस के हालातों की तुलना सन् 60 के अमेरिका से करते थे जो कि सही नहीं था। अमेरिका ने, रूस की तरह, अपनी भूमि पर हुए युद्ध से कोई नुकसान नहीं उठाया। फिर किसी देश के विकास की तुलना उसके विगत दिनों से करनी चाहिए न कि अन्य किसी देश से। हालांकि ख्रुश्चेव कभी-कभी गर्व से कहा करते थे कि सात साल के अंदर वह अमेरिका से आगे बढ़ जायेंगे।

अपने दिमाग मे यही प्रथम धारणा लेकर मैं तत्काल ही दूतावास के काम में लग गया, जहां मुझे अगले साढ़े तीन वर्ष तक रहना था। रिखि जयपाल (राजनैतिक मंत्री), ओ० पी० मल्होत्रा (सेना सलाहकार) प्रथम सचिव एन० पी० जैन और बी० एस० दास, द्वितीय सचिव पुरुषोत्तम आदि मेरे सहकर्मियों ने मेरी सुविधाओं के लिए सभी आवश्यक इंतजाम कर दिये। 1947-49 के बाद अब एक तैयार घर पाकर बहुत बड़ी राहत महसूस हुई, जबकि इससे पहली बार महीनों तक होटल में रहना पड़ा था।

मेरे सभी सहकर्मी देश के हालत जानने के लिए उत्सुक थे। लोगों के उत्साह और चीन के आगे न झुकने के सरकार के दृढ़ निश्चय से मैंने उन्हें अवगत कराया। मास्को में हमें जो कुछ करना था उसका महत्व भी मैंने उन्हें समझाया। उन्होंने मुझे अपने पूर्ण सहयोग और कर्तव्यनिष्ठा का वचन दिया और मुझे उनकी देशभक्ति और मिलकर काम करने की इच्छा देखकर प्रसन्नता हुई। मैंने मास्को के भारतीय छात्रों और नागरिकों की एक बैठक बुलायी और भारत की तात्कालिक स्थिति का वर्णन किया। देश की घटनाओं ने उन्हें झकझोर दिया था और उनमें से कुछ स्वदेश लौट कर युद्ध में भाग लेने के इच्छुक थे। मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि भारत में पर्याप्त स्वयंसेवक हैं और वे मास्को में महत्वपूर्ण काम कर रहे हैं, जिसे उन्हें जारी रखना चाहिए।

मेरा सबसे महत्वपूर्ण काम रूसी अधिकारियों से संपर्क स्थापित करना था। मेरे पहुंचने के एक हफ्ते के अंदर-अंदर मैंने राष्ट्रपति ब्रेजनेव को अपना प्रत्ययपत्र पेश किया।

समारोह के बाद आधे घंटे की बातचीत के दौरान ब्रेजनेव बहुत भद्रता और नम्रता से पेश आए और उन्होंने मेरे लिए वातावरण बिल्कुल सहज बना दिया। मैं इससे पहले ब्रेजनेव से मिला नही था, लेकिन उनके मह्रदय व्यवहार और अट्टहास के बारे मे सुन रखा था। हमने संक्षेप मे दक्षिण एशिया, भारत, दक्षिण पूर्व एशिया और चीन के हालातों के बारे मे बातचीत की। उन्होंने दिसंबर, 1960 की अपनी भारत यात्रा का उल्लेख किया जब उन्होंने गोवा की मुक्ति के संदर्भ मे भारत को बधाई दी थी। उन्होंने भारत की शांति तथा गुटनिरपेक्षता की नीति की प्रशंसा की और कहा कि रूस हमेशा भारत का मित्र रहेगा। भारत-रूस मैत्री दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया की शांति और विकास की आधारशिला है, उन्होंने आगे कहा।

मैंने उल्लेख किया कि भारत की शाति और अखंडता को चीन के हाथों बहुत बड़े खतरे का सामना करना पड़ रहा है। पंचशील समझौते के बावजूद चीन राजनयिक सूत्रों से बातचीत करने के बजाय बडे पैमाने पर आक्रमण करने पर उतारू है। ब्रेजनेव ने इस बारे मे इससे अधिक कुछ नही कहा कि उन्हे आशा है कि यह मामला शातिपूर्ण तरीके से जल्दी ही सुलझ जाएगा। उस समय वह पार्टी के प्रथम सचिव नही बल्कि अध्यक्ष थे। ख्रुश्चेव प्रथम सचिव और प्रधानमत्री दोनो पद संभाले हुए थे और ज्यादा अधिकार के साथ बात कर सकते थे। मैंने इस मुद्दे को आगे नही बढाया और वापिस चला आया। मैं स्तालिन के दिनों की उदासीनता और औपचारिक रवैए की तुलना मे अब के मैत्रीपूर्ण वातावरण और ब्रेजनेव की सहृदयता से प्रभावित हुआ।

नेहरू की 1955 की रूस यात्रा के बाद, 1956 मे जब ख्रुश्चेव और बुल्गानिन भारत आए तो रूसी नेताओ को भारत की वास्तविकताओ का पता चला। उनकी आंखों पर से मताग्रही स्तालिनवाद का पर्दा हट गया था। जल्दी ही द्याकोव जैसे रूसी विद्वान जिन्होने भारत को "ब्रितानी-अमेरिकी साम्राज्यवाद के पीछे भागने वाला पिछलग्गू और कुत्ता" करार दिया था अब दूसरा स्वर अलापने लगे और भारत को 'महान, शातिपूर्ण, प्रगतिशील, लोकतंत्रीय और गुटनिरपेक्ष देश' कहने लगे। यहा तक कि रूस के इन्साइक्लोपीडिया ने भी गांधी और नेहरू के बारे मे अपनी धारणाएं बदल दी और भारत के स्वाधीनता सग्राम मे और उसके बाद उनकी महत्वपूर्ण भूमिका को मान्यता दी। जिस भारतीय ने स्तालिन के जमाने का मास्को नही देखा होगा उसका ध्यान ख्रुश्चेव के रूस मे विशेषकर भारत के प्रति, होने वाले परिवर्तन की ओर नही जा सकता।

मुझे 1963 की गर्मियो मे एक रविवार की दोपहर की याद है, जब मैं अपनी बेटी के साथ गाडी में मास्को के एक उपनगर से दूतावास लौट रहा था। मैं एक निजी गली मे से बडी सड़क की ओर जैसे ही मुडा, 150 गज की दूरी पर से एक बस आती दिखायी दी। पुलिस ने सीटी बजायी, मुझे रोककर सलाम किया और मेरे कागजातों के लिए पूछा। जब उसने मेरा परिचयपत्र देखा तो बोला, "आप नेहरू और गांधी के देश से आए हैं। यदि आप अपने देश मे यातायात के कानून तोड़ते तो वह भला आपसे क्या कहते?" मैंने माफी मांगी और खेद व्यक्त किया। लेकिन अपना शिष्ट लेकिन प्रभावी भाषण खत्म करने से पहले उन्होंने मुझे नही छोडा।

इस सीधी-सादी घटना से स्तालिन और ख्रुश्चेव के रूस मे अंतर पता चल जाता है। स्तालिन ने बेरिआ को उसकी गुप्त पुलिस और सेना के माध्यम से, भय, आतक तथा सदेह का वातावरण पैदा करके कडे हाथो से शासन करने की इजाजत दी थी। ख्रुश्चेव ने भी यही साधन अपनाए थे, लेकिन उन्होंने हर स्तर पर समझा-बुझाकर, शिक्षा देकर और विचार-विमर्श करके शासन किया। स्तालिन मताग्रही और निर्मम थे जब कि ख्रुश्चेव

समझदार थे और उनसे विचार-विमर्श करके उन्हें समझाया-बुझाया जा सकता था। स्तालिन ने लोगों को निष्कासित करके साइबेरिया भेजा था या कारागंडा की खानों में कठिन परिश्रम करवाया था, या अपहरण, बिना मुकदमे के कारावास, या संदेह मात्र पर खत्म कर देने जैसी सजाएं दी थीं। ख्रुश्चेव अपने विरोधियों के साथ अधिक मानवीय, लोकतंत्रीय और रूसी कानूनों के मुताबिक आचरण करते थे। स्तालिन ने लेनिनवाद-मार्क्सवाद का इस्तेमाल अपने फायदे और स्वयं को सत्ता में बनाए रखने के लिए किया। ख्रुश्चेव ने 1956 में स्तालिनवाद के घिनौने चेहरे पर से मुखौटा उतारने के लिए पार्टी कांग्रेस का इस्तेमाल किया। और हर देश में अधिक खुले, लोकतंत्रीय और शांतिपूर्ण साम्यवाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया।

ऐसा नहीं कि जो कुछ स्तालिन ने किया, गलत ही किया और जो ख्रुश्चेव ने किया वह सब कुछ सही था। स्तालिन की भाषायी और अल्पमत नीति ने रूस को एक करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने अपने अनुसार, रूस के राष्ट्रीय हितों को 'अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद' से भी ऊंचा स्थान दिया। उनके नेतृत्व में उनके लोगों ने एक ऐसे युद्ध में विजय प्राप्त की, शुरू में जो रूस के लिए बहुत कठिन दिखाई दे रहा था। लेकिन उन्होंने जालिम और तानाशाही, निर्मम और अमानवीय तरीके अपनाए। दूसरी ओर, ख्रुश्चेव ने सुरक्षा और विश्वास, आत्मसम्मान और मानवाधिकारों का वातावरण पैदा किया। ख्रुश्चेव ने भी गलतियां की हैं, लेकिन जान-बूझकर नहीं और न ही वे स्तालिन के समान जालिम और अमानवीय ही थे। अपने वरिष्ठ सहकर्मियों की खुले आम भर्त्सना करना, 1960 में संयुक्त राष्ट्र महासभा की बैठक के दौरान अपने जूते से मेज पर प्रहार करना, कुकुरोजोई (मकई) के लिए अनुपयुक्त जमीन पर भी उसे उगाकर दिखाने के लिए उनका जिद करना, एक किसान की तरह बुद्धिजीवियों और विद्वानों, कलाकारों और लेखकों को अवज्ञा की दृष्टि से देखना, अपने दामाद अदुजबोई को जरूरत से ज्यादा महत्व देना—ये उनकी कुछ गलतियां थी, जिन्होंने उनके पतन में सहयोग दिया। लेकिन ये तो समझ की भूलें थीं, जो कि असल और सच्ची थीं। इसलिए जब 24 अक्तूबर, 1964 को ख्रुश्चेव का पतन हुआ तो रूस के आम आदमी को दुख हुआ, जबकि स्तालिन की मृत्यु का, आशा और राहत के साथ, चुपचाप स्वागत किया गया था।

यही ख्रुश्चेव का रूस था जहां मुझे भारत का राजदूत बना कर भेजा गया। मैंने पहले ही मौके पर उनसे भेंट की और चीन-भारत सीमा की स्थिति से उन्हें अवगत कराया तथा तत्काल ही हमें कुछ आवश्यक सैनिक सामान बेचने के बारे में संकेत दिया। मैं इससे पहले उनसे मिला नहीं था। उनसे मेरी पहली भेंट 1 नवंबर, 1962 को हुई। उस समय क्यूबा का संकट अपने चरम पर था। ख्रुश्चेव और कैनेडी युद्ध के कगार पर से लौट आये थे। दोनों एक दूसरे की धैर्य परीक्षा कर रहे थे। लेकिन कोई भी युद्ध का जोखिम उठाना नहीं चाहता था। ऐसे समय में ख्रुश्चेव भारत की खातिर चीन से खुले आम झगड़ा भी मोल नहीं लेना चाहते थे। ख्रुश्चेव के साथ पहली भेंट में मैं इस बात के लिए तैयार होकर गया था कि वह मुझे कोई निश्चित जवाब देंगे।

यह बैठक कुछ तूफानी रही। मेरा स्वागत करने के बाद ख्रुश्चेव भड़क उठे: "मैं भारत और चीन के इस बेमानी युद्ध का मकसद समझ नहीं पा रहा। मेरे सहायकों ने मुझे सूचित किया है कि आप ऐसी जगह के लिए और ऐसी जगहों पर लड़ रहे हैं जहां ऐसे कड़ाके की ठंड पड़ती है कि जो भी वहां मलमूत्र त्यागने के लिए बैठता है उसके शरीर का पिछला भाग बर्फ की तरह जम जाता है।" यही उनके शब्द थे, जिनका हूबहू अनुवाद उनके दुभाषिये ने झिझकते हुए कर दिया।

संघर्ष के बारे में उनके अक्खड़ और स्पष्ट कथन को सुनकर मैं दंग रह गया। मैंने उनको नम्रता से लेकिन दृढ़ होकर उत्तर दिया कि भारतीय भूमि का चप्पा-चप्पा हमारे लिए उतना ही पावन है जितना रूसियों के लिए रूस की जमीन। हम सिर्फ झगड़ा करने के लिए लड़ाई नहीं लड़ रहे। हम पर युद्ध थोपा गया है। अपने देश की प्रभुसत्ता और अखंडता की रक्षा करना हमारा धर्म है। फिर मैंने नक्शों की सहायता से, जो मैं यहां से लेकर गया था, उनको भूमि की स्थिति समझायी।

ख्रुश्चेव ने धैर्यपूर्वक मेरी बात सुनी और फिर भड़क कर बोले, "आप ये नक्शे मेरे सहायकों को समझा सकते हैं। मेरी दिलचस्पी केवल शांति और समस्या के शांतिपूर्ण समाधान में है। यह युद्ध पूरी तरह बेमतलब है।" मैंने उन्हें बताया कि हमारी रुचि भी शांति और अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधानों में है। इसीलिए हमने 1954 में चीन के साथ पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर करने में पहल की थी। चाऊ एन लाई ने हमेशा हमें आश्वासन दिया था कि हमारी सारी मौजूदा समस्याओं का समाधान शांति के साथ सामान्य राजनयिक तरीकों से किया जा सकता है। हमने उस पर भरोसा किया था और अपनी सुरक्षा का कोई विशेष प्रबंध नहीं किया था। वही शायद एक भूल थी, क्योंकि चीन अपना सैन्य बल निरंतर बढ़ा रहा था और उसने हमारी कमजोरी का फायदा उठाया। हम आक्रमण का मुकाबला करने के लिए दृढ़ संकल्प थे और बल के आगे घुटने टेकने वाले नहीं थे। हम गुटनिरपेक्ष रहना चाहते थे। हम मित्र देशों से नैतिक, राजनैतिक और उपकरणों के रूप में समर्थन मांगेंगे, लेकिन अपनी लड़ाई हम खुद लड़ेंगे। क्या रूस हमें इस प्रकार का समर्थन देगा?

ख्रुश्चेव ने थोड़ी देर सोचा और फिर शांत, नर्म और विचारात्मक लहजे में पूछा, "आप हमारे मित्र हैं और चीन हमारा भाई है। हम किसी का पक्ष कैसे ले सकते हैं?"

मैं उनके बदले हुए लहजे से कुछ आश्वस्त हुआ और तुरत जवाब दिया, "यदि मेरा भाई मेरे मित्र पर प्रहार करता है तो मैं खड़ा-खड़ा देखता नहीं रहूंगा बल्कि कुछ-न-कुछ करूंगा।" फिर ख्रुश्चेव नर्म स्वर में बोले, "हमें इसका पता पहले ही चल गया था। हमने अपने 9 सितंबर, 1956 के तास के बयान में दोनों पक्षों को चेतावनी दी थी कि वे समस्याओं को शांति से सुलझा लें। आप याद रखिए चीन हमारा भाई है लेकिन छोटा भाई नहीं हम उसे बड़ा भाई समझ कर उस पर हाथ नहीं उठा सकते।"

मैंने कहा, "हम यह नहीं चाहते कि रूस चीन पर प्रहार करे। उसने चीन को बहुत से शस्त्र—टैंक, विमान आदि भारत में युद्ध करने के लिए नहीं बल्कि साम्राज्यवादी हमलों का मुकाबला करने के लिए दिये हैं। पश्चिमी देश पाकिस्तान को हथियार दे रहे हैं, जिसका इस्तेमाल भारत के विरुद्ध किया जा रहा है। हमें कहीं से तो हथियारों का प्रबन्ध करना होगा और आशा है कि रूस हमारी जरूरतों पर तुरंत ध्यान देगा।"

ख्रुश्चेव ने कहा कि मैं इस बारे में रक्षामंत्री मालिनोवस्की से मिलूं। उन्होंने फिर इस बात पर जोर दिया कि समस्या को युद्ध से नहीं बल्कि शांति से हल करने की आवश्यकता है।

मैंने उनसे विदा ली और कहा कि जल्दी ही शायद फिर मुझे उनसे मिलना पड़ेगा। उन्होंने कहा कि हर समय मेरा स्वागत है। मैं ख्रुश्चेव की सामान्य बुद्धि और असलियत को स्वीकार करने की क्षमता से प्रभावित हुआ। क्यूबा को लेकर उन पर बहुत दबाव था और वह खुल्लमखुल्ला चीन जैसे साम्यवादी बिरादरी के देश का विरोध करके भारत जैसे मित्र लेकिन गैरसाम्यवादी देश का समर्थन नहीं कर सकते थे। उन्होंने

दरवाजा खुला रखा, जैसा कि हमें क्यूबा के संकट के दौरान उम्मीद थी।

25 अक्तूबर, 1962 को प्रावदा ने भारत विरोधी और चीन समर्थक संपादकीय शित किया। क्यूबा का संकट टल गया था और रूसियों को चीन-भारत संघर्ष को परिप्रेक्ष्य में देखने का समय नहीं मिला। चीन और रूस के बीच कुछ समय से स्तर पर अंदरूनी मतभेद दिखाई देने लगे थे। यद्यपि दोनों देशों के बीच दूरी होने बावजूद उनके संबंध ठीक वैसे ही थे। रूसी सरकार आखिर कितने दिनों तक वास्त-कताओं और अपने हितों को नजरअंदाज कर सकती थी जो कि चीन-भारत संघर्ष से ड़े हुए थे? साम्यवादी एकता का अर्थ क्या यही था कि, गलत हो या सही, एक साम्य-ादी देश को किसी गैरसाम्यवादी देश के साथ संघर्षरत साम्यवादी देश की सहायता करनी ही पड़ेगी? क्या साम्यवादी चीन के हाथों गुटनिरपेक्ष भारत की पराजय रूस के हित में होगी? क्या इससे चीन साम्यवादी जगत के रूसी नेतृत्व के प्रति और अधिक उद्दंड और उसका विरोधी नहीं हो जायेगा? क्या इससे पाकिस्तान और तीसरी दुनिया में चीन का प्रभाव बढ़ता नहीं जायेगा, जिससे दक्षिण रूस के निचले भाग के लिए अतिरिक्त खतरा पैदा हो जायेगा। यदि पाकिस्तान की तरह भारत भी पश्चिमी या चीनी या दोनों खेमों में शामिल हो जाता है तो क्या मध्य एशिया और उसके एशियाई गणतंत्रों में रूस की स्थिति कमजोर नहीं हो जाती?

ये कुछेक प्रश्न रूसी नेताओं के मन में निश्चित ही थे। यह संभावना भी बनी हुई थी कि यदि रूस भारत की सहायता नहीं करता है तो उसे मजबूर होकर पश्चिमी खेमे में शामिल होना पड़ेगा। इससे यूरोप से पूर्व एशिया तक रूस के चारों ओर पश्चिमी घेरे को बल मिलेगा। रूसी वास्तविकताओं को स्वीकार करते हैं। वे क्यूबा संकट के खत्म होने की प्रतीक्षा कर रहे थे। इस दौरान चीन भारत सीमा की स्थिति और भी स्पष्ट हो जाती। वे देख रहे थे कि भारत एकतरफा पीछे हटने और युद्धबंदी की चीनी घोषणा के सामने घुटने टेक देता है या संघर्ष जारी रखता है। चीनियों ने एक बार 20 अक्तूबर और फिर 15-16 नवंबर की रात को भारी हमले करके स्थिति को और विस्फोटक बना दिया था। हमारे मुकाबले को देखकर रूसी प्रभावित हुए।

मैं मालिनोवस्की और उनके सहयोगियों से कई बार मिला। और उन्हें मान चित्रों की सहायता से विस्तृत रूप से स्थिति को समझाया। उन्होंने अपने दिल्ली दूतावास और मास्को तथा दूर- -पूर्व के विशेषज्ञों की मार्फत अपना मूल्यांकन किया था मालिनोवस्की छेड़खानी करने में माहिर थे। मेरे साथ एक भेंट के दौरान उन्होंने मुझ पूछा कि मैं अंग्रेजी जैसी विदेशी साम्राज्यवादी भाषा में उनसे बातचीत क्यों कर रहा मैंने कहा यदि मैं अपनी भाषा, हिंदुस्तानी बोल सकता तो मुझे बहुत खुशी होती, लेकि अफसोस तो यह है कि न वह स्वयं और न ही उनका दुभाषिया यह भाषा बोल सकते वह हंस पड़े और उस दिन से मित्र हम बन गये।

24 नवंबर को ख्रुश्चेव से मेरी दूसरी भेंट पहली भेंट की तुलना में कुछ तूफानी और अधिक लाभदायक रही, जैसी कि मुझे उम्मीद थी। रूसी फैसला क बहुत संयम बरतते हैं, विशेष कर जहां अन्य देशों का सवाल होता है। जहां संयुक्त में सुस्लोव जैसे मतवादी, ख्रुश्चेव जैसे राजनीति, कोसिगिन जैसे तकनोशिय मालिनोवस्की जैसे सैनिक शामिल हों, वहां ऐसी स्थिति को विभिन्न नजरियों जाता है और सर्वसम्मति तक पहुंचने में समय लग ही जाता है। मेरे विचार से पर हमारे प्रति ख्रुश्चेव का रवैया सहानुभूतिपूर्ण था; मालिनोवस्की तो पूरी त पक्ष में थे लेकिन औरों के बारे में मैं निश्चित नहीं था।

क्यूबा संकट के टल जाने पर मैंने ख्रुश्चेव को बधाई दी। उन्होंने मुझे इस बारे में रूस के फैसले का औचित्य समझाते हुए एक भाषण दिया और फिर अचानक झुककर [illegible]

[illegible]

आवश्यकता है तो 20 अक्तूबर और उसके बाद 15-16 नवंबर को उनके भारी आक्रमण उनके उद्देश्य के प्रमाण हैं—विश्व की नजरों में वह भारत को पराजित करना और नीचा दिखाना चाहता था, अपने छोटे पड़ोसियों को आतंकित करना चाहता था और एशिया पर अपना प्रभुत्व कायम करना चाहता था। हम उनके आगे कभी नहीं झुकेंगे। चाहे कुछ भी क्यों न हो जाये और चाहे हम अकेले भी हों, भारत एक महान् देश है और हमें उसके इतिहास और संस्कृति पर नाज है। किसी भी देश के लिए चाहे वह छोटा हो या बड़ा भारत पर विजय प्राप्त करना सहज नहीं होगा। अपार असुविधाओं के बावजूद हमने लद्दाख में जैसे मुकाबला किया वह इसका सबूत है। यदि रूस चाहता है कि जल्दी ही युद्ध खत्म करके शांति स्थापित की जाये तो उसे चीन को स्पष्ट तौर पर बताना होगा कि गलती उसी की है और भारत के खिलाफ सैनिक असंतुलन को उसे सुधारना ही होगा। रूस की तरफ से किसी भी प्रकार की हिचकिचाहट युद्ध की गति को तीव्र बनाने में चीन को प्रोत्साहित करेगी।

ख्रुश्चेव आंखों में चमक और होंठों पर मुस्कराहट लेकर मेरी बात सुनते रहे। वह मेरी परीक्षा ले रहे थे। मुझे लगा कि मैं उन्हें यह विश्वास दिलाने की परीक्षा में [illegible] और वे बहादुरी से लड़ेंगे [illegible] "राजदूत साहब, आपके [illegible]? सैनिक साज-सामान [illegible] पत्रों को पूरा करने की कोशिश करेंगे और सामान पहुंचाने के बारे में खोजबीन करेंगे। कैरेबियाई संकट के समाप्त होने से संभावनाएं पैदा हो गयी हैं, क्योंकि युद्ध की तैयारी में ढील दी जा सकती है। मैं समझता हूं आप इस बारे में मालिनोवस्की और अन्य लोगों से बातचीत करें तथा आवश्यकता पड़ने पर फिर मुझसे मिलें।"

मैंने उन्हें तत्काल आवश्यक वस्तुओं की सूची दी और वहीं बात खत्म कर दी। अब जब उन्होंने इजाजत दे दी थी तो मुझे मालिनोवस्की तथा अन्य लोगों से विस्तृत बातचीत करनी थी। मैं यह उम्मीद नहीं करता था कि वह उसी समय अपनी सहमति व्यक्त करेंगे। अफसरशाही स्कात्त्वकोव की अध्यक्षता में विदेशों से आर्थिक सहयोग की राज्य समिति कितनी तेजी से हमारी मांगों को पूरा करेगी, इस बारे में मैं निश्चित नहीं था लेकिन एक बाधा तो हम लांघ ही चुके थे। रूसी विस्तार में बातचीत करने के लिए तैयार थे। निकट भविष्य में न सही लेकिन सुदूर भविष्य में इसका फल मिलना ही था। धैर्य और अध्यवसाय की आवश्यकता थी। विदा लेते समय ख्रुश्चेव ने मुझसे कहा, "मैंने सुना है कि आपके देश में बड़ी संख्या में साम्यवादियों की धरपकड़ जारी है।" मैंने मुस्करा कर जवाब दिया, "वे स[illegible]।" वह हंस पड़े और हम एक दूसरे को समझ गये। अफसरशाही के [illegible] वाले विलंब के बारे में मेरी धारणा की [illegible]। मालिनोवस्की और उसके सहकर्मियों का रवैया सहानुभूतिपूर्ण था। राज्य समिति के अफसर सतर्क,

ान और धीरे-धीरे काम करते थे। रूसी विदेश कार्यालय व्यवहारकुशल और ंचित था। इसलिए हमने पोलिटब्यूरो और सरकार के विभिन्न स्तरों पर बड़े पर अभियान शुरू किया। हमने रूसी प्रेस को समझाने के लिए और भारत-रूस गोष्ठियों में बोलने का एक अपरंपरागत तरीका अपनाया। हमने वह तरीका अपनाया हमारी समझ में ख्रुश्चेव को प्रिय था। इसका कुछ असर होता दिखाई पड़ा, क्योंकि ाधिकारियों तक सारी जानकारी पहुंचने लगी।

मेरे सहकर्मियों ने और मैंने बहुत मेहनत की और हम हर स्तर के रूसी अधि-रियों और गैर अधिकारियों से मिलते रहे। वे ध्यान से और सहानुभूतिपूर्वक हमारी त सुनते थे, जिससे हम प्रभावित हुए। उन्हें विश्वास दिलाना नहीं पड़ता था। उन्हें लूम था कि उनकी सहयोगिता और सहायता का बदला चीन ने कैसे चुकाया था। नका चीन के बारे में मोहभंग हो चुका था। भारत की एकजुट रहने की क्षमता के बारे ं वे निश्चित नहीं थे। पहले से ही उनके अपने विचार और मत थे। जिससे वे अब तक स्वयं को मुक्त नहीं कर पाये थे। हमने महसूस किया कि वक्त हमारे साथ है।

फिर नेफा के कुछ अग्रिम क्षेत्रों से चीन के अपने आप ही पीछे हटने की खबर आयी। रूस 'चीन की इस उदारता' से प्रभावित नहीं हुआ, बल्कि भारत को झुकाने में उसकी अक्षमता का उसे पता चला। चीन या पश्चिम के दबाव के आगे न झुकने पर भारत के साहस और दृढ़ता की प्रशंसा की गयी। चीन केवल आवश्यकता को शक्ति के रूप में पेश कर रहा था, क्योंकि भारत के अंदर लंबे संचार मार्ग को बनाये रखना उसके बस की बात नहीं थी। फिर भारत के किसी भी वर्ग के लोगों से उसे समर्थन नहीं मिला था, जो रातों-रात एकजुट हो गये थे। रूस इससे प्रभावित हुआ।

12 दिसंबर, 1962 को रूस की सर्वोच्च सभा का वार्षिक अधिवेशन था। मैं 15 दिसंबर को ख्रुश्चेव से मिला। चीनी नेतृत्व और उनकी साम्राज्यवादी तथा विस्तार-वादी नीतियों के खिलाफ उनकी निष्कपट, फटकार काफी दिलचस्पी थी। उन्होंने उन्हें 'हंसता हुआ बुद्ध' करार दिया, वे अन्य लोगों की भावनाओं की बात तो दीगर अपने लोगों की भावनाओं से भी अछूते और उसके प्रति उदासीन रहते हैं, उन्होंने बात को गोलमोल नहीं किया और मुझे बताया कि रूस ने अपने इन विचारों को चीनी नेताओं तक पहुंचा दिया है कि भारत पर उसका आक्रमण अन्यायपूर्ण था। रूस इसे अलग खड़ा देखता नहीं रहेगा बल्कि साज-सामान देकर और राजनैतिक दृष्टि से भारत की सहायता करेगा। वह व्यक्तिगत रूप से इस पर निगरानी रखेंगे। उनके सहकर्मी उनसे सहमत थे और इस बारे में कोई मतभेद नहीं था लेकिन, भारत को सावधानी बरतनी होगी और युद्ध को लंबा नहीं खींचना है। लड़ाइयां बहुत मंहगी पड़ती हैं और लोगों पर इसका भार पड़ता है। वह इसी लहजे में आधे घंटे से अधिक समय तक बोलते रहे और मैं उनकी बातों में रुचि लेता रहा। सर्वोच्च सभा में दिया गया उनका भाषण मैं पढ़ चुका था, जिसमें उन्होंने कहा था, "वैसे कुछ कहेंगे कि चीनी लोकतंत्र अब अपनी सेनाओं को उस रेखा तक पी हटा रहे हैं जहां से यह संघर्ष आरंभ हुआ था। क्या उससे भी अच्छा न होता कि ए समय सेना जहां खड़ी थी, वहीं उसको रहने दिया जाता?...हम इस बात को बिल्कु स्वीकार नहीं कर सकते कि भारत चीन के साथ युद्ध आरंभ करना चाहता था।"

हवा का रुख बदल गया था। रूसी खामोशी से जिस बात को कहने में विश्व करते थे उसे ही वे खुले आम कहने लगे थे। भारत को जैसे एक ऐसा मित्र मिल गया जिस पर वह निर्भर कर सकता था। हमारे हित एक-दूसरे के अनुरूप थे; लेकि टकराये नहीं। एक शक्तिशाली, स्थिर, लोकतंत्रीय, गुटनिरपेक्ष भारत के साथ रूस

मित्रता एशिया मे स्थिरता और शांति को मजबूत बनायेगी और चीन के आधिपत्य और विस्तारवाद पर अंकुश लगायेगी, लेकिन किसी देश के लिए खतरा पैदा नही करेगी। इससे पश्चिमी देशों की गुटनिरपेक्ष दुनिया पर धाक जमाने की चेष्टा पर भी रोक लगेगी। भारत पर चीनी आक्रमण से शायद कुछ भला भी होगा और भारत वास्तविकता का [illegible] रे.। तथा सुरक्षा के लिए अपनी आवश्यकताओ के बारे मे अधिक सचेत हो गा[illegible]। शक्तिशाली, स्थिर, गुटनिरपेक्ष और स्वतंत्र भारत एशिया और सारे विश्व मे एक सुनिश्चित, रचनात्मक और प्रगतिशील भूमिका निभा सकता है।

ख्रुश्चेव से मिलने के बाद यही विचार मेरे मन मे आये। यदि स्तालिन का दृष्टिकोण भी ऐसा ही होता तो आज चीन, भारत, रूस और सारी दुनिया के हालात ही और होते। लेकिन कटु अनुभवो से ही शिक्षा मिलती है। 1962 का चीन-भारत संघर्ष भारत को झकझोर देने वाली घटना थी, जिससे अंदर और बाहर वह अपनी वास्तविक [illegible] को पहचान सके। कभी-कभी अपने विदेश कार्यालय मे भी व्यवहार-कुशल होना पडता है। लेकिन मैंने नेहरू को व्यक्तिगत पत्र भी लिखे और मैं जानता था कि यह बात उन्हें पसद आयेगी। उनसे अविलंब उत्तर पाकर मैं प्रसन्न होता था और उनसे मुझे 1962-63 के मास्को के कठिन और अंधेरे दिनो और सर्दी की रातो मे ढाढस मिलता था। दिसंबर, 1962 को ऐसे ही एक व्यक्तिगत पत्र मे नेहरू ने नयी दिल्ली मे ख्रुश्चेव और उपराष्ट्रपति राधाकृष्णन की भेंट के बारे मे लिखा। बातचीत के दौरान ख्रुश्चेव ने अमेरिका के खिलाफ बहुत कुछ कहा, लेकिन अंत मे यह भी कह दिया कि अगले दस वर्षों मे सबसे बडा दुश्मन चीन ही होगा। यह बात 1956 की है—ख्रुश्चेव ने सच ही कहा था।

नेहरू को लिखे अपने एक पत्र मे मैंने ख्रुश्चेव के बारे मे अपनी धारणाएं व्यक्त की थी। अन्य सरकारो के अध्यक्षों की अपेक्षा ख्रुश्चेव के साथ ज्यादा आसानी से निजी समीकरण बैठाया जा सकता है। वह चतुर अभिनेता होने के बावजूद स्पष्टवादी और बहिर्मुखी है तथा अपनी इच्छानुसार गभीर रहने के साथ-साथ स्वच्छंद हंसी भी हंस सकते हैं···रूसी साम्यवादी होने के बावजूद अधिक मानवीय होते हैं, जब कि चीनी साम्यवादी न होते हुए भी कम सवेदनशील होते हैं। दिसंबर, 1962 मे यह लिखा गया था।

12
रूसी नेता और जनता

1947-48 में मैंने रूसी भाषा की थोड़ी बहुत जानकारी हासिल कर ली थी और उस भाषा को व्याकरण की दृष्टि से तो बहुत सही नहीं बोल पाता था लेकिन धाराप्रवाह बोल लेता था। मैंने कई राष्ट्रीय दिवस समारोहों में और क्रेमिलिन में जहां लोग रूसी नेताओं तक जाकर उनसे दुभाषिये की सहायता लिए बिना ही, अनौपचारिक तौर पर बातचीत कर सकते थे, इसका इस्तेमाल किया। कुछ लोग अन्य लोगों की तुलना में अधिक खुल कर बात करते थे, विशेष कर जब आसपास कोई दुभाषिया नहीं होता था। पोलित ब्यूरो के लगभग सभी सदस्यों के साथ मेरी मामूली जान-पहचान तो थी ही और इनमें सरकारी तंत्र के साथ जुड़े हुए वे लोग भी थे, जैसे ख्रुश्चेव, ब्रेजनेव, कोसिगिन, पोदगोर्नी, पोलिआंस्की, माजुरोव, शेलीपन, मोलिनोवस्की और वोरोनोव, उनसे मैं आधिकारिक तौर पर मिला करता था। ब्रेजनेव और पोदगोर्नी तथा सुस्लोव आंद्रोपोव, पोनोमोरोव, किरिलेंको जैसे पार्टी सचिव हमारे निमंत्रण स्वीकार करते थे और दोपहर और रात के खाने पर या स्वागत समारोहों में शामिल होने के लिए दूतवास आते थे। कुछ ने तो मुझे अपने 'व्यक्तिगत' टेलीफोन के नंबर तक बता दिये थे, जहां आवश्यकता पड़ने पर, मैं उनसे संपर्क कर सकता था।

स्तालिन के रूस में ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता था। सरकार और पार्टी, दोनों के काम करने का ढर्रा प्रत्यक्ष रूप से बदल चुका था। नयी व्यवस्था में ख्रुश्चेव सबसे अधिक स्पष्ट वक्ता और विशिष्ट व्यक्ति थे।

अपने अपरंपरागत व्यवहार और दृष्टिकोण की वजह से वह यद्यपि बुद्धिजीवियों, कलाकारों, लेखकों, विद्वानों में अधिक लोकप्रिय नहीं थे लेकिन जनसाधारण में वह बहुत प्रिय थे। उन्होंने लोगों को स्तालिन के आतंक और बेरिआ के अत्याचारों से निजात दिलायी थी।

कुछ लेखकों और बुद्धिजीवियों ने मुझे बताया कि वे अपने कपड़ों की एक गठरी हमेशा तैयार रखते थे, जिसे वे रात को दरवाजे पर दस्तक होते ही कहीं भी ले जा सकें। लेकिन इसके लिए वे स्तालिन को नहीं बल्कि बेरिआ को जिम्मेदार ठहराते थे। स्तालिन केवल अपने विरोधियों या संभावित प्रतिद्वंद्वियों की खबर लेते थे। बुद्धिजीवी वर्ग लेनिन के बाद, स्तालिन को ही देश का उद्धारक मानते थे। उन्होंने उनकी मौत पर यह सोच कर आंसू बहाये कि उनका उत्तराधिकारी न जाने कौन होगा। 20वीं पार्टी कांग्रेस के दौरान जो भेद खोले गये थे उन्हें जानकर वे स्तब्ध रह गये। ख्रुश्चेव तथा अन्य लोगों को स्तालिन के शासनकाल में इल्या एहरेनबर्ग के शब्दों में 'चुप रहने की साजिश' के लिए जिम्मेदार ठहराया, लेकिन यह भी स्वीकार किया कि उन दिनों में किसी के लिए ज्यादा कुछ बोलने की गुंजाइश भी नहीं थी। सबको आदेश मानकर उनका पालन करना पड़ता था। स्तालिन आसानी से मिलते नहीं थे और एक दो को छोड़कर सबके प्रति शंकालु थे। बेरिया ने इसका पूरा फायदा उठाते हुए और स्तालिन ने अनजाने में अपनी कई व्यक्तिगत दुश्मनियों का बदला लिया। ख्रुश्चेव ने मेरे सामने एक भारतीय उच्चाधिकारी

था, "स्तालिन ने हम सबको चेतावनी दी थी कि उनके बाद अमेरिकी हमारी गर्दन चूजे की गर्दन की तरह मरोड़ने लगेंगे। स्तालिन तो नहीं रहे, लेकिन ऐसा कुछ नहीं।"

बुद्धिजीवी वर्ग कहता था कि ख्रुश्चेव ने उन्हें मुक्त किया। अब वे मध्य रात्रि में की दस्तक से डरे बिना आपस में मिल सकते हैं, खुलकर बातचीत कर सकते हैं। ालिन के दिनों में और बेरिया के शासन काल में मित्र और शत्रु में भेद करना कठिन तथा वे व्यक्तिगत रूप से भी विचार विमर्श नहीं कर सकते थे। अब संदेह मात्र पर गों को साइबेरिया या ारागढा खानों में नही पहुचा दिया जाता था। वैसे साहित्य, ा, संगीत, कृषि आदि के बारे में ख्रुश्चेव की अपनी दृढ़ धारणाएं थीं। जो कि वैज्ञानिक 'रिमाजित' (नेकुलतुर्नी) नहीं हैं; वे आपस मे खुलकर ऐसी बातें कर सकते थे और उनका ाक उड़ाते थे। बहरहाल, वे अपनी इच्छानुसार कुछ भी प्रकाशित नहीं कर सकते थे। बार पार्टी जब कोई विशेष नियम बना देती थी तो उससे हटना संभव नहीं होता था, केन उन्हें इतनी छूट थी कि निर्णय लिये जाने से पहले वे उस पर विचार-विमर्श और आलोचना कर सकते थे।

स्तालिन के जमाने के बाद यह एक बहुत बड़ा परिवर्तन था, जब ज्दानोव खड़े हुए विश्व नागरिकों के खिलाफ अपने बदनाम आदेश जारी किया करते थे। अन्य स्वम देशों की तरह, वहा भी यहूदियों के बारे में 'चुटकले' प्रचलित थे, लेकिन उनमें मजाक निहित था और जातिवाद या विद्वेष की गंध नहीं थी। मालिनोवस्की ने मुझे ाया कि एक बार एक शिक्षित यहूदी युवक स्थानीय पार्टी अध्यक्ष के पास पहुंचा और ला कि वह पार्टी में शामिल होना चाहता है। अध्यक्ष ने जवाब दिया, "नौजवान पार्टी सदस्य बनने के लिए तुम्हें बहुत से बलिदान देने होंगे। तुम्हें धूम्रपान, मद्यपान और का साथ भी छोड़ना पड़ सकता है।" नौजवान ने कहा कि वह इसके लिए तैयार अध्यक्ष ने कहा, "तुम्हें अपनी जान तक देनी पड़ सकती है।" नौजवान ने जवाब दिया पान, मद्यपान और स्त्रियों का साथ छोड़ देने के बाद जिंदगी जीने के काबिल नहीं जाती।"

ो चलाया
रत से ज्य
म करते थे
थी।

यद्यपि रूसी नागरिकों और विदेशियों के मिलने-जुलने पर प्रतिबंध उस समय भी , लेकिन स्तालिन के रूस की तुलना में उसका पालन उतनी सख्ती से नहीं बल्कि भावनाओं को ध्यान में रखकर किया जाता था। राजनयिकों को हमेशा शक की से देखा जाता था और बहुतों पर तब भी नजर रखी जाती थी, लेकिन पहले की ा अधिसंख्य रूसियों को उनसे मिलने-जुलने दिया जाता था। यदि आप रूसी भाषा हैं तो आप किसी रूसी से सड़क पर या बगीचे में या अन्य कहीं भी बातचीत कर कते हैं और वह विगत दिनों की तरह आपसे बच निकलने की कोशिश नहीं करेगा। किन यदि कोई रूसी नागरिक किसी दूतावास में जाता है तो उसे प्रवेश करने से हले अपना निमंत्रण पत्र या परिचय पत्र दिखाना पड़ता था। इनमें से अधिकांश नाकातियों से यह उम्मीद की जाती थी कि वह राजनयिकों या विदेशियों से अपनी भेंट बातचीत की पूरी रपट पेश करेगा। जब तक कि रूसी विरोधी कार्रवाई के सबूत ी मिल जाते थे या किसी रूसी नागरिक से गुप्त सूचना नहीं मिलती थी तो उसे दंडित

नहीं किया जाता था। बहरहाल जो लेखक अपनी रचनाओं में या विदेशियों के मार्फत रूस विरोधी प्रचार करते थे उनकी धरपकड़ होती थी। जो पार्टी की मान्यताओं से सहमत नहीं थे, वे रूस में अपनी रचनाएं प्रकाशित नहीं कर सकते थे।

कुछ दूतावास अन्य दूतावासों की तुलना में अधिक लोकप्रिय थे, जो कि उनके देश और रूस के तात्कालिक संबंधों पर निर्भर करता था। हमें अपनी छोटी और बड़ी दावतों में रूस के कई जाने-माने लेखकों, कलाकारों, वैज्ञानिकों और अध्यापकों का स्वागत करने का अवसर प्राप्त हुआ। उनमें इल्या एहरेनबर्ग, मदाम केंपे (टिगा की) और उनके पति यव्तुशेंको, उनकी प्रथम पत्नी कवयित्री बेल्ला अहमदुदलिना और उनके द्वितीय पति यूरी नागिबिन, विख्यात अणु भौतिक विज्ञान अध्यापक कापित्जा, बोलशोई बैले स्कूल के निदेशक सिमिरनोवा तथा बोलशोई की कई नर्तकियां, मास्को राजकीय विश्वविद्यालय के प्राध्यापक (जहां मेरी बेटी अल्पकालिक पाठ्यक्रम के अंतर्गत रूसी भाषा सीख रही थी), संग्रहालयों के अध्यक्ष आदि शामिल हैं। वे नाचते-गाते, खाते-पीते या गंभीर विषयों पर बातचीत करते रहते थे। हमें भी सभी मंत्रालयों के ऊंचे और नीचे पदाधिकारियों के साथ काम करने का अवसर प्राप्त हुआ था। उन्होंने हमें सरकारी पत्र 'इज़वेस्तिया' और पार्टी के पत्र 'प्रावदा' के बीच चल रही होड़ के बारे में बताया। उस समय एक मजाक प्रचलित था कि "इजवेस्तिया में कोई प्रावदा (सत्य) नहीं और प्रावदा में कोई इज़वेस्तिया (समाचार) नहीं।"

1947-49 के मास्को से यह कितना भिन्न था। हमारे यहां अधिकारिक और अनधिकारिक दोनों तरह के बहुत से भारतीय मुलाकाती और मेहमान आते थे, विशेषकर ग्रीष्म और वसंत ऋतुओं में, जब भारत में गर्मी होती है और कभी-कभी पतझड़ के मौसम में भी लोग आते थे, लेकिन सर्दियों में बहुत कम। इनमें से अधिकांश रूसी होटलों में ठहरने की बजाय दूतावास में ठहरना अधिक पसंद करते थे, क्योंकि होटलों की सेवा धीमी और असंतोषजनक थी। एकांत बहुत कम मिलता था और भारतीय खाने का सर्वथा अभाव था।

मैंने एक बार ख्रुश्चेव और पातोलिचोव को सुझाव दिया कि मास्को में एक भारतीय रेस्तरां खोला जाना चाहिए। भारतीय मसाले, रसोइये, आदि मंगवाने में मैं उनकी सहायता करूंगा, लेकिन इस योजना को कार्यान्वित नहीं किया जा सका। चीन-रूस मैत्री के दिनों में होटल पीकिंग में एक चीनी रेस्तरां खोला गया था। जब दोनों के संबंध बिगड़ने लगे तो चीनी रसोइये वापस लौट गये और वहां के खाने में चीनी स्वाद से रूसी स्वाद ज्यादा रहने लगा। हम भारतीयों के लिए विशेषकर सबसे रुचिकर जार्जिया और उजबेक के रेस्तरां थे, जहां खाना खूब मसालेदार और हमारी पसंद का होता था। आराग्वी रेस्तरां जार्जिया के प्रफुल्ल संगीत और वहां के 'तलवार नृत्यों' के कारण सभी विदेशियों और रूसियों में लोकप्रिय था। जब भी हम वहां जाते थे वहां के साजिंदे आकर्षित करने वाली भारतीय धुनें बजाते थे, जो कि नरगिस और राजकपूर की फिल्मों के प्रदर्शन से रूस भर में लोकप्रिय हो गयी थी। जैसे आवारा फिल्म का गाना 'आवारा हूं···' या 'ईचक दाना बीचक दाना···' आदि। कुछ समय बाद जब वातावरण मैत्रीपूर्ण हो जाता था तो पास की मेज पर बैठे जार्जिया के लोग हमें आमंत्रित करते थे और जार्जिया की परंपरा के अनुसार हमारे स्वास्थ्य, फिर हमारे परिवारों, देश आदि के लिए शुभकामनाओं के साथ असंख्य बार जाम का प्याला होंठों से लगाते थे। स्तालिन के जमाने में भी आराग्वी था, लेकिन उस समय वह रेस्तरां कम और मकबरा अधिक लगता था। हमने 1963 के ग्रीष्म में एक भारतीय औद्योगिक प्रदर्शनी का आयोजन किया था, जिसका

उद्घाटन ख्रुश्चेव ने किया। यहां सबसे लोकप्रिय दुकान मोतीमहल थी, जहां तंदूरी मुर्गे बेचे जा रहे थे। दुकान के अंदर जाने के लिए मोटी लंबी कतार लगी हुई थी। शायद यही कारण था कि हमारा एक भारतीय रेस्तरा चलाने का प्रस्ताव फलीभूत नही हुआ। वह आराग्वी से भी अधिक लोकप्रिय हो सकता था।

कुछ मौसम की वजह से और कुछ अपने जीवन की ऊब को कम करने के लिए [illegible] कोनिआक और [illegible] उसके बाद वे कुछ [illegible] या बोलने लगते हैं। मुझे एक शाम की याद है जब स्कात्चोव की राज्य समिति के आठ रूसी सेनाध्यक्ष मेरे घर आये थे और उनके साथ ओ० पी० मल्होत्रा, जयपाल और मैं थे। मौके की बात थी कि आठों सेनाध्यक्ष उक्रेनवासी थे। मैंने बताया कि मुझे उक्रेन के विदेशमंत्री से अभी-अभी गोरिल्का (दो हरी या लाल मिर्च युक्त उक्रेन का वोदका) की एक पेटी मिली है, वे खुशी से उछल पड़े, क्योंकि मास्को मे गोरिल्का आसानी से उपलब्ध नही था। एक के बाद एक बारह बोतलें खोली हो गयी और तीन घंटे में उन्हें खत्म कर दिया गया। मद्यपान के बाद भी उनके स्वाभाविक बने रहने की मैं दाद देता हूं। किसी पर भी नशा नही छाया था और किसी ने भी अशोभनीय कुछ नही किया और समझदारी से बातचीत करते रहे। पुरानी घटनाएं याद करते रहे और बीच-बीच में कामकाज की बातचीत भी करते रहे। उस शाम को हमने कई समस्याओं का समाधान किया और ऐसी बहुत सी बाधाएं पार कर गये जो हम तक सैनिक साज सामान पहुचने में अड़चन डाल रही थी। शायद वे अपने जवाब तैयार करके ही लाये थे और सिर्फ उत्सव मनाने आये थे।

ब्रितानियों के विपरीत रूसी केवल पानी या सोडा मिश्रित व्हिस्की के गिलास को ही पकड़े नही रहते, या खान पान के बिना ही मद्यपान करते हैं। वे पीने के साथ साथ खाते भी हैं। रूस का ज़ाकस्का एक जरूरी चीज है और स्वीडन के स्मोरगेसबार्ड के समान ही रंग-बिरंगा होता है। शराब के असर को कम करने के लिए यह पेट की दीवारों को चर्बी से ढक देता है। कुछ तो मद्यपान की दावत पर आने से पहले मक्खन खा लेते हैं या जैतून का तेल पीते हैं। वे शराब बदल बदल कर नही पीते और जो कुछ पीते है वह निखालिस ही होता है। वोदका वे एक घूट में पीकर खनिजयुक्त पानी (नार्जान या बोरजोम) तथा काली रूसी 'राइ' की डबल रोटी लेते हैं, जिसे खाने से पहले वे हमेशा सूघते हैं।

मैं रूसियों की इन आदतों को आसानी से सीख नही पाया और इनके साथ मद्यपान करने के लिए मैंने अपने ही तरीके निकाले। मैं शराब के साथ चर्बीदार पकवान लेना पसंद नही करता था, मैं एक गिलास पानी या सोडा में अल्का सेल्टजर की एक गोली डाल देता था और दावत से पहले, उसके दौरान और बाद में उसे पी लेता था।

श्रीमती ख्रुश्चेव बहुत ही दयालु, नम्र, समझदार और मातृवत् थी। उनकी मधुर मुस्कान में दुख कष्ट और हर मुसीबत को झेलकर भी मानवीय भावनाओं का बना रहना निहित था। वह अपने ही बूते पर एक महान नेत्री बन सकती थी और अन्य किसी भी देश में वह एक वीरांगना बन जाती। लेकिन एक विनयशीला पत्नी, माता और दादी बने रहने में ही उन्हें संतोष मिलता था तथा वह सदा अपने पति के पीछे रहती थी। पति के रूसी बिरादरी में सर्वप्रथम हो जाने पर भी वह एक स्कूल में पढ़ाती रही।

ख्रुश्चेव राजनयिक और पत्रकारिता के क्षेत्रों में निहायत लोकप्रिय थे। कद में ठिगने, गोल-मटोल, घुटा हुआ सिर, ढीले-ढाले कपड़े और एड़ी से घिसे हुए जूते पहने, पीछे हाथ रख कर, अगूठा हिलाते हुए वह खड़े होते थे, बिना तैयारी के बोलते थे और

वेधड़क प्रश्नों का उत्तर देते थे जिससे उनके कुछ सहकर्मी तो भौचक्के और आश्चर्यचकित रह जाते थे तथा सुनने वालों का उससे मनोरंजन होता था। उनकी भाषा सहज लेकिन प्रभावित करने वाली थी, उनमें एक किसान की तरह मजाक करने की क्षमता थी। वह अपने शब्दों को घुमा फिराकर नहीं कहते थे, और इधर उधर की बातें नहीं करते थे। वह सीधे मुख्य बात पर पहुंचते थे और जैसा ठीक समझते थे, कह डालते थे। लेकिन वह मूर्ख भी नहीं थे। उनकी सहज बुद्धि बहुत तीव्र थी और विदेशी मेहमानों के पक्ष में क्या और विपक्ष में क्या कहना चाहिए, वे भली प्रकार जानते थे। वह स्थिति या व्यक्ति को झटपट पहचान लेते थे और दूसरों की प्रतिक्रिया जानने के लिए उनका मन टटोलते थे, नजर आने पर नोट करते थे या जहां दुविधा होती थी प्रश्न को टाल जाते थे। 1961 में वीयना में कैनेडी के साथ जो उनका आमना सामना हुआ, वह अमेरिका के नये युवा राष्ट्रपति का मन जानने के लिए एक कसरत थी। क्यूबा के संकट में हस्तक्षेप करके कैनेडी के धैर्य की परीक्षा ले रहे थे। उन्होंने कैनेडी को अपने ही समान दृढ़ पाया और इसके लिए वह उनका सम्मान करते थे। मुझे याद है कि कैनेडी की हत्या के बाद मास्को के एक गिरजे में दिवंगत आत्मा की याद में आयोजित अनुष्ठान में योगदान देने के लिए आये हुए ख्रुश्चेव की आंखों में आंसू थे।

ख्रुश्चेव में ऐसा कुछ था, जिससे वह अपने लोगों और उनके संपर्क में आने वाले विदेशियों के प्रिय पात्र थे। उनमें एक मात्र कमी शायद यह थी कि वह अपने कुछेक सह-कर्मियों के प्रति अपनी उपेक्षा की भावना को जाहिर करने में जरूरत से ज्यादा आगे बढ़ जाते थे और अपने भद्दे और मनमाने ढंग से काम करने के तरीकों की वजह से उनकी ईर्ष्या, शत्रुता और नाराजगी मोल लेते थे। वह जन्म से ही तानाशाह नहीं थे और न ही बनना चाहते थे। दिल से वह मजदूर वर्ग के लोकतंत्री थे और उनकी सहानुभूति हमेशा साधारण जन के साथ होती थी। उनमें धैर्य कम था और अफसरशाही के कारण होने वाले विलंब और विशेषज्ञों की हर विवरण को जानने की आदत को वह सहन नहीं कर सकते थे। उनका लोगों के साथ पेश आने का तरीका बहुत उग्र और कभी-कभी भद्दा होता था और इसी के कारण अंत में उन्हें सत्ता से हाथ धोना पड़ा।

ख्रुश्चेव की प्रथम साइबेरिया यात्रा के बारे में मैंने एक कहानी सुनी। वह एक नब्बे वर्षीय वयोवृद्ध से मिले और उनसे पूछा, "दादा जी, क्या आप महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति से पहले की तुलना अब ज्यादा खुश हैं?" बूढ़े व्यक्ति ने जवाब दिया, "मैं पहले या बाद की खुशी के बारे में नहीं जानता, लेकिन क्रांति से पहले मेरे पास दो जोड़ी जूते, दो बड़े कोट, दो सूट, लोम की दो टोपियां और दो जोड़े लाम के दस्ताने थे। अब मेरे पास केवल ये चीजें एक ही एक हैं और वे भी फटे पुराने।" ख्रुश्चेव ने बिना कुछ सोचे समझे कह दिया: "कोई बात नहीं दादाजी, क्या आपको मालूम नहीं कि चीन, भारत, एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका में लोगों के पास इतना भी नहीं होता और वे नग्न घूमते हैं?" बूढ़े ने सिर खुजलाते हुए कहा, "फिर तो उनकी महान समाजवादी क्रांति हम लोगों से बहुत पहले हो चुकी होगी।" पहली बार ख्रुश्चेव के पास जवाब देने के लिए शब्द न थे।

कोसिगिन, ख्रुश्चेव के सर्वथा विपरीत थे—शालीन, सावधान, हर शब्द को नाप तोलकर बोलने वाले। हर विवरण की जानकारी रखने वाले, अपनी क्षमता से अधिक कुछ करने का दावा न करने वाले और उतना ही करने वाले जितने का उन्होंने वचन दिया हो। वह चोटी के तकनीशियन थे और लेनिनग्राद में वस्त्र इंजीनियर की हैसियत से काम कर चुके थे। वह ख्रुश्चेव से विपरीत चतुर, काम से मतलब रखने वाले और मजाकिया

तबीयत के थे। वह हंसते कम थे, लेकिन कोई टिप्पणी पसंद आने पर मुस्कराने का आभास देते थे। वह उन चंद रूसी नेताओं में से थे जो 1946 में मंत्री और स्तालिन की पोलित-ब्यूरो के स्थानापन्न सदस्य रहे और वहां से बेदाग बच निकले। कभी-कभी मुझे उनसे किसी विषय पर पूर्ण सहमति प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती थी। हालांकि वह हमेशा द्वार खुला रखते थे, कभी ना नहीं करते थे और बीचोबीच आकर हमसे सहमत होते थे। वह एक कुशल प्रशासक थे, अपना काम समझते थे और रूस के सरकारी कर्मचारी उनसे तथा उनके काम करने के तरीके से खुश थे। वह जरूरत से ज्यादा एक शब्द भी नहीं बोलते थे, धैर्य से दूसरे की बात सुनते थे, हर मुद्दे पर सावधानी से विचार करते थे, उसकी पूर्ण छानबीन करते थे और फिर उसके बारे में राजी होते थे।

अनास्तास मिकोयान अक्लमद आर्मिनियावासी थे। विदेश व्यापार के विशेषज्ञ, चतुर, हिसाब से चलने वाले तथा व्यक्तियों और घटनाओं के पारखी थे तथा सख्त लेकिन प्रीतिकर वार्ताकार थे। कोसिगिन की तरह वह कभी चोटी पर नहीं पहुंच पायेंगे, लेकिन वह हमेशा चोटी के पद पर आसीन व्यक्ति के करीब रहे, चाहे स्तालिन हो, ख्रुश्चेव हो या ब्रेजनेव हो। उन्हें हमेशा कठिन से कठिन काम के लिए भेजा गया, जैसा कि जापान के काम से भेजा गया था। यद्यपि वह जापानियों को अपने विचारों से सहमत करवाने में सफल नहीं हुए, लेकिन उनके बहुत निकट पहुंच गये थे। चार उत्तरी द्वीपों के बारे में उन्होंने जापानियों के सामने जो प्रस्ताव रखे शायद उन्हीं से इस नाजुक समस्या का समाधान हो सकता था। यदि जापान तटस्थ रहना और जापानी-अमेरिकी सैनिक समझौते को रद्द करना न चाहे तो दक्षिण के दो द्वीप जापान के अधीन होने चाहिएं और उत्तर के दोनों द्वीप, जिन्हें रूस कमचटका की खाड़ी की सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण मानता है, उन्हीं के पास रहने दिया जाये। सुदूर पूर्व की तेजी से बदलती हुई स्थिति को देखते हुए भविष्य के बारे में क्या कहा जा सकता है?

जब राष्ट्रपति राधाकृष्णन् आर्मिनिया की राजधानी एरेवान की यात्रा पर आये, मैं उनके पीछे गाड़ी में था। सड़क के दोनों ओर एकत्रित भीड़ ने मुझे देखते ही चिल्लाना शुरू किया 'वोत मिकोयान।' (मिकोयान जा रहे हैं) मैंने मिकोयान को यह बात बतायी और वह सुनकर खूब हंसे। मैंने ख्रुश्चेव के संदर्भ में मिकोयान की एक कहानी सुनी। वे दोनों पोप से मिलने वैटिकन गये और पोप ने उनके सम्मान में आयोजित भोज के दौरान अपनी सबसे बढ़िया सोने और चांदी की तश्तरियों में खाना परोसने के लिए कहा। खाने के दौरान बातचीत मसीही धर्म और साम्यवाद पर पहुंची। पोप ने कहा, "हम ईसाई धर्मावलंबी चमत्कार में विश्वास करते हैं। क्या आप साम्यवादियों के पास ऐसा कोई चमत्कार है जिसमें आप विश्वास रखते हों?" ख्रुश्चेव ने झट जवाब दिया, "जरूर है। मैं अभी आपको दिखाता हूं। मैं आपका सबसे बढ़िया सोने का चम्मच लेकर अपनी जेब में डाल लेता हूं। आप ध्यान से देखिए—वह मिकोयान की जेब में पहले से ही पहुंच गया है।"

सारी दुनिया में आर्मिनियावासी व्यवसाय और पैसे बनाने में बहुत चतुर माने जाते हैं और इसी बात को लेकर ख्रुश्चेव अपने मित्र और सहकर्मी पर फब्तियां कसने का अवसर कभी नहीं गवाते थे। एक बार दूतावास में दोपहर के भोजन पर मैंने अलफेंसो आम परोसे, जो मुझे एयर इंडिया के सौजन्य से प्राप्त हुए थे। मिकोयान और ख्रुश्चेव दोनों इस मौके पर मौजूद थे। ख्रुश्चेव ने अपना कोट उतार दिया। कमीज की बांह ऊपर कर ली और बिल्कुल भारतीय अंदाज में आम खाने लगे। शायद उन्होंने 1956 में अपनी भारत की यात्रा के दौरान सीखा था। मिकोयान झिझके और ख्रुश्चेव ने उनसे मजाक

ा : "अनास्तास, आप अपने आम को रख लीजिये। घर पहुंचते-पहुंचते यह शायद ा हो जाये।" यह बात शुद्ध मजाक में कही गई थी और मिकोयान कभी ख्रुश्चेव की ों का बुरा नहीं मानते थे। वह स्तालिन के साथ रह चुके थे और बहुत कष्ट झेलकर जीवित थे।

विदेशमंत्री आंद्रे ग्रोमिको अत्यधिक कुशल राजनयिक हैं। मैंने उन्हें पहली बार 947 में संयुक्त राष्ट्र अधिवेशन में देखा, जब वह चेहरे पर एक गंभीर और अप्रसन्न द्रा लिए हुए थे। साठ वर्षीय ग्रोमिको ज्यादा अनुभवी राजनयिक थे, वह आवश्यकता हने पर मुस्कराते थे और मजाक तथा व्यंग्य की समझ उनमें थी, वह बढ़िया अंग्रेजी लते थे। और मैं रूसी अच्छी तरह बोल नहीं पाता था। एक बार उन्होंने सुझाव दिया क औपचारिक बातचीत रूसी भाषा में करें और दुभाषिये का इस्तेमाल न करें। मैंने प्रस्ताव रखा कि हम अंग्रेजी में बातचीत करें, क्योंकि वह बढ़िया अंग्रेजी जानते थे और मुझे रूसी भाषा के व्याकरण का ज्ञान नहीं था, मैं उनसे यह बात सुनकर दंग रह गया कि "व्याकरण तो केवल दुभाषिये के लिए जरूरी है, राजदूतों के लिए नहीं।" मैंने उसमें जोड़ा, "विदेशमंत्रियों के लिए भी नहीं।" और हम दोनों खूब हंसे। वह कभी-कभी बहुत गंभीर हो जाते थे, मुंह लटका लेते थे और ऐसी चिंतित मुद्रा बना लेते थे जैसे किसी भी क्षण युद्ध छिड़ने वाला है। कुल मिलाकर उनके साथ काम करना एक सुखद अनुभव रहा। वह व्यवहार कुशल, अकाट्य काम की बात करने वाले और समझदार थे। यदि वह 'हां' नहीं कह पाते थे तो 'नहीं' न कहकर वह कहते थे कि "मैं अपने नेताओं को बताऊंगा।" इसका मतलब था, "हम सोच विचार करेंगे। मामला यहीं पर खत्म नहीं कर दिया गया है।" वे दिन लद गये थे जब वह संयुक्त राष्ट्र में हमेशा 'नेयत' (नहीं) कहा करते थे।

उपविदेशमंत्रियों में मुझे कुजनेत्सोव सबसे प्रीतिकर और जानकार मालूम हुए। जेकाब मलिक सबसे दिलचस्प व्यक्ति थे जिनमें मजाक और व्यंग्य समझने की क्षमता थी। मैंने 1950 में मलिक को सुरक्षा-परिषद के अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए देखा था। छह बज चुके थे, जब ब्रितानी प्रतिनिधि ग्लैडविन जेब ने खड़े होकर भारी और गंभीर स्वर में कहा : "अध्यक्ष महोदय, मुझे एक ऐतिहासिक बात कहनी है।" दिन भर के बाद सब थके हुए थे, मलिक सबकी मनःस्थिति समझ गये और बोले, "यदि भविष्य के लिए हानिकारक न हो तो मैं ब्रिटेन के सम्माननीय प्रतिनिधि से निवेदन करूंगा कि वह अपना ऐतिहासिक वक्तव्य कल तक के लिए स्थगित रखें।" सब हंस पड़े और 'जेब' बैठ गये। एक कहानी मलिक ने स्वयं मुझे सुनायी कि जब लंदन में वे रूसी राजदूत थे तो रूसियों ने तभी अपना पहला स्पुतनिक छोड़ा था। एक दावत पर राजकुमारी मार्ग्रेट ने उनसे पूछा : "रूसी भाषा में स्पुतनिक का अर्थ क्या होता है?" मलिक ने जवाब दिया कि इसका प्राचीन अर्थ "एक लड़की का पीछा करने वाला लड़का" है, लेकिन आज के अर्थ मे यह अंतरिक्ष में छोड़ा गया एक यान है। राजकुमारी मार्ग्रेट ने कहा, "मुझे तो आज के अर्थ से प्राचीन अर्थ ही ज्यादा अच्छा लगता है। आपको क्या अच्छा लगता है?"

निकोलाई फिरयूबिन सबसे सहज व्यक्ति थे। उन्हें अभिनेता बनना चाहिए थ और उस कार्य को शायद वह और भी अच्छा करते। लेकिन एक उपविदेशमंत्री की हैसियत वह दक्षिण-पूर्व एशिया के मामलों की देखभाल भी बहुत अच्छी तरह कर रहे थे। श्रीमत ग्रोमिको और श्रीमती कोसिगिन को अपने पद का कोई घमंड नहीं था तथा उन व्यवहार भी सरल था और जब भी वे अपने को घरेलू जिम्मेदारियों से मुक्त कर पा थी, जरूर आती थीं। स्तालिन के रूस में पत्नियां अपने पतियों के साथ आधिकारि दावतों में बहुत कम शरीक होती थीं और अपने बूते पर आमंत्रित होकर आती थीं। लेि

ख्रुश्चेव के रूस में इस नियम को माना नहीं जाता था। दूतावास में सबसे सुखद शाम वह थी जब मैंने विदेश कार्यालय के लगभग आधे दर्जन दुभाषियों को वालीबाल खेलने के लिए और उसके बाद रात के खाने पर आमंत्रित किया था। उनकी पत्नियां भी साथ आयी थीं। ये सभी गुणसंपन्न स्त्रियां, नाचती गाती रहीं और निहायत अक्लमंदी से बातचीत करती रहीं। नये रूसी राजनयिक दुनिया भर के किसी भी राजनयिक का मुकाबला कर सकते हैं।

रूसी राजदूतों में मुझे निम्नलिखित व्यक्ति सबसे ज्यादा पसंद थे : पेगोव, जो ईरान में मेरे साथ थे और बाद में भारत में राजदूत बने; मेनशिकोव (जिन्हें अमेरिकी मुस्कराने वाला माइक कहते थे), जो पहले भारत में और फिर अमेरिका में राजदूत बने; आनातोले दोब्रिनिन, जो मेरे अमेरिका में निवा [illegible] तक वहीं हैं। उनके सहायक चोरोत्स [illegible] संपादक जामिआतिन, जिनसे मेरा [illegible] राजनयिक थे, जिनसे मैं मिला था, एक दूसरे से भिन्न, लेकिन सभी बुद्धिमान, सुसंस्कृत, प्रीतिकर, मैत्रीपूर्ण, सहायता करने को तत्पर और बातचीत करने में माहिर थे।

विदेशों में आर्थिक संपर्क की राज्य समिति के अध्यक्ष स्कार्चकोव जरूरत से ज्यादा सावधान, सतर्क और 'रूढ़िवादी' थे। जब तक वह उच्चपदस्थ लोगों की सहमति प्राप्त नहीं कर लेते थे, तब तक किसी भी बात के लिए राजी नहीं होते थे। वह एक भले, ईमानदार व्यक्ति थे लेकिन उनके वरिष्ठ लोगों के पास जाये बिना उनसे कोई काम हासिल करना कठिन था। मुझे एक से अधिक बार ऐसा करना पड़ा, जब मामले को आगे बढ़ाने के लिए मुझे ख्रुश्चेव, कोसिगिन और मालिनोवस्की को हस्तक्षेप करने के लिए कहना पड़ा। दिल्ली के रूसी दूतावास में स्कार्चकोव और उनके प्रतिनिधिमंडल के लिए आयोजित एक प्रीतिभोज के दौरान मैंने 'दुनिया के महानतम और सर्वोत्तम दफ्तरशाह' के लिए शुभकामना का जाम पेश किया, जिसका मजा उनके सहकर्मियों ने तो लिया, लेकिन उन्हें शायद अपनी यह तारीफ पसंद नहीं आयी।

उपप्रधानमंत्रियों में डिमशित्स का भारत के प्रति सबसे अधिक मैत्रीपूर्ण रवैया था। उन्हीं ने कुछ वर्ष पहले भिलाई इस्पात संयंत्र के लिए गठित रूसी दल की अध्यक्षता की थी।

पोलित ब्यूरो के जिन अन्य सदस्यों से मैं मिला था उनमें से मुझे ब्रेजनेव 'ख्रुश्चेव का परिमार्जित रूप' मालूम देते थे। उनमें ख्रुश्चेव के सारे सद्गुण थे। लेकिन उनका कोई भी दुर्गुण उनमें नहीं था। चौड़ी भौंहों वाले, मधुर मुस्कान लिए हुए, खुल कर हंसने वाले और गंभीर भर्रायी आवाज में बोलने वाले ब्रेजनेव मित्र बनाने में माहिर थे। वह शराब पीना पसंद करते थे और लगातार धूम्रपान करते थे और गाड़ियां तेज चलाना पसंद करते थे। ख्रुश्चेव के पतन के बाद, एक बार एक गोष्ठी में उन्होंने ग्रोमिको की उपस्थिति में मुझसे कहा, "भारत मुझे हमेशा आकर्षित करता रहा। मैं 15 वर्ष की उम्र में घर से भाग गया और सुदूर रहस्यों से भरे भारत में पहुंचना चाहता था। मेरे पिता मुझे वापस ले आये। वह चाहते थे कि मैं रूसी राजनयिक सेवा में योग देने की तैयारी करूं। मैं इंजीनियरी करने के लिए अड़ गया, अन्यथा मेरी भी वही हालत होती जो ग्रोमिको की हुई थी। मैंने अक्लमंदी से काम लिया या नहीं, आप ही बताइये ?" मई, 1965 में जब शास्त्री जी रूस आये तो ब्रेजनेव ने उन्हें बताया, "हमारे बीच कोई औपचारिकता नहीं होनी चाहिए, जब भी आप का मन चाहे आप हमारे साथ चाय पीने के लिए मास्को या ताशकंद पधारें और अगले दिन भारत लौट जायें। हम भी ऐसा ही करेंगे।" ख्रुश्चेव ने 1956 में भारत में

जो कुछ कहा था, वह उसी बात को दोबारा चतुराई से कहने का एक तरीका था। "जब भी आप को हमारी जरूरत हो अपने कश्मीर के पहाड़ों पर से हमें आवाज़ दे दिया करें।"

ब्रेज़नेव में एक नेता के स्वाभाविक गुण थे और अक्तूबर, 1964 में ख्रुश्चेव के सत्ताच्युत होने पर वही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो पोलितब्यूरो के सभी सदस्यों को मान्य थे। घोषणा करने में थोड़ी देर भले ही हो गयी थी लेकिन कोसिगिन को प्रधानमंत्री और ब्रेजनेव को प्रथम सचिव नियुक्त करके समझौता कर लिया गया था।

सुस्लोव, शांत, मृदुभाषी, ऊंचे कद के और मताग्रही सिद्धांतवादी की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक थे। ख्रुश्चेव के समय और उसके बाद भी उन्होंने चीनी नेतृत्व की जैसी कटु और वैज्ञानिक आलोचना की उससे उनका मार्क्सवाद-लेनिनवाद में दृढ़ विश्वास होने का सबूत मिल जाता है। उनके विश्लेषण में सदा संगति रहती थी। ख्रुश्चेव के पतन के बाद नये सम्मिलित नेतृत्व ने चीन से संबंध सुधारने की कोशिश की, लेकिन अपनी ओर से प्रयास करने में कमी रह जाने के कारण नहीं, बल्कि चीन की हठधर्मिता और शायद नयी स्थिति के गलत आकलन की वजह से वे असफल रहे।

मुझे याद है जब ख्रुश्चेव के पतन के पंद्रह दिन बाद चाऊ एन लाई अपने प्रतिनिधिमंडल के साथ 7 नवंबर के उत्सव में भाग लेने के लिए एक विजेता के अंदाज में मास्को पधारे थे। मैं वीएतनामी प्रतिनिधिमंडल के नेता फाम वान डांग से मिलने वानुकोवो हवाई अड्डे पर गया था। चाऊ-एन-लाई पहले उतरे, राजदूतों की पंक्ति में मुझे देखकर उन्होंने पहचान लिया और मेरे साथ हाथ मिलाया। फाम वान डांग अधिक नम्र तथा मिलनसार थे और उन्होंने मुझसे दो-चार मिनट की बात की। विशेष कर विदेशी संवाददाताओं की नजरें टिकी हुई थीं। वह उस नायक की तरह आचरण कर रहा था जो रूसी राष्ट्रीय दिवस की नहीं बल्कि ख्रुश्चेव के सत्ताच्युत हो जाने की खुशी मनाने आया था।

सारे राजदूत सामने की पंक्ति में चाऊ एन लाई और फाम वान डांग के सामने खड़े हुए थे। मैं फाम के पास गया, तकरीबन पांच मिनट तक उनसे वीएतनाम के बारे में बातचीत करता रहा और फिर वापस अपने स्थान पर आ गया। चाऊ मेरी ओर देखते रहे पर मैंने उन तक पहुंचने की कोशिश नहीं की। बहरहाल जब राजदूतों से कहा गया कि वे बारी-बारी से प्रमुख अतिथि के गिलास के साथ अपना गिलास टकरायें तो मैंने चाऊ के स्वास्थ्य की कामना की और वहां से हटने ही वाला था कि उन्होंने मुझे कलाई से पकड़ लिया और पूछा, "आप मुझसे बचने की कोशिश क्यों कर रहे हैं?" मैंने जवाब दिया कि वह प्रमुख अतिथि हैं और मैं उनके तथा औरों के बीच पड़ना नहीं चाहता। वह हंसे और बोले "वोमुन लाओ फुंगम्येओ" (हम पुराने मित्र हैं) फिर आगे कहने लगे, "क्या आप बीते हुए दिनों को भूल गये हैं?" मैंने पूछा, "कौन से बीते हुए दिन? पंचशील समझौता?" फिर उन्होंने पूछा, "आइये हम लोग भविष्य की ओर देखें।" और मैंने पूछा, "कौन सा भविष्य, कैसा भविष्य?" उन्होंने जवाब दिया, "बात को टालने की कोशिश मत कीजिए। आप जानते हैं मेरा मतलब क्या है।" मैंने कहा, "मैं नहीं जानता।" तब तक विदेशी संवाददाता हमारे पास तक आ पहुंचे थे और उन्होंने हमें घेर लिया था। चाऊ मुझे एक तरफ ले जाकर बोले, "मेरा मतलब अल्जीयर्स में होने वाले अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन से है। हम वहां मिलकर बात कर सकते है।" मैंने कोई जवाब नहीं दिया। हमारे संबंध तनावपूर्ण थे। हम उनके द्वारा पंचशील समझौता तोड़े जाने और हमारी सीमा पर भारी आक्रमण किये जाने पर दुखी थे। मेरे

जो कुछ कहा था, वह उसी बात को दोबारा चतुराई से कहने का एक तरीका था। "जब भी आप को हमारी जरूरत हो अपने कश्मीर के पहाड़ों पर से हमें आवाज दे दिया करें।"

ब्रेजनेव में एक नेता के स्वाभाविक गुण थे और अक्तूबर, 1964 में ख्रुश्चेव के सत्ताच्युत होने पर वही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो पोलितब्यूरो के सभी सदस्यों को मान्य थे। घोषणा करने में थोड़ी देर भले ही हो गयी थी लेकिन कोसिगिन को प्रधानमंत्री और ब्रेजनेव को प्रथम सचिव नियुक्त करके समझौता कर लिया गया था।

मुस्लोव, शांत, मृदुभाषी, ऊंचे कद के और मताग्रही सिद्धांतवादी की अपेक्षा व्यावहारिक अधिक थे। ख्रुश्चेव के समय और उसके बाद भी उन्होंने चीनी नेतृत्व की जैसी कटु और वैज्ञानिक आलोचना की उससे उनका मार्क्सवाद-लेनिनवाद में दृढ़ विश्वास होने का सबूत मिल जाता है। उनके विश्लेषण में सदा संगति रहती थी। ख्रुश्चेव के पतन के बाद नये सम्मिलित नेतृत्व ने चीन से संबंध सुधारने की कोशिश की, लेकिन अपनी ओर से प्रयास करने में कमी रह जाने के कारण नहीं, बल्कि चीन की हठधर्मिता और शायद नयी स्थिति के गलत आकलन की वजह से वे असफल रहे।

मुझे याद है जब ख्रुश्चेव के पतन के पंद्रह दिन बाद चाऊ एन लाई अपने प्रतिनिधिमंडल के साथ 7 नवंबर के उत्सव में भाग लेने के लिए एक विजेता के अंदाज में मास्को पधारे थे। मैं वीएतनामी प्रतिनिधिमंडल के नेता फाम वान डांग से मिलने वानुकोवो हवाई अड्डे पर गया था। चाऊ-एन-लाई पहले उतरे, राजदूतों की पंक्ति में मुझे देखकर उन्होंने पहचान लिया और मेरे साथ हाथ मिलाया। फाम वान डांग अधिक नम्र तथा मिलनसार थे और उन्होंने मुझसे दो-चार मिनट की बात की। विशेष कर विदेशी संवाददाताओं की नजरें टिकी हुई थीं। वह उस नायक की तरह आचरण कर रहा था जो रूसी राष्ट्रीय दिवस की नहीं बल्कि ख्रुश्चेव के सत्ताच्युत हो जाने की खुशी मनाने आया था।

सारे राजदूत सामने की पंक्ति में चाऊ एन लाई और फाम वान डांग के सामने खड़े हुए थे। मैं फाम के पास गया, तकरीबन पांच मिनट तक उनसे वीएतनाम के बारे में बातचीत करता रहा और फिर वापस अपने स्थान पर आ गया। चाऊ मेरी ओर देखते रहे पर मैंने उन तक पहुंचने की कोशिश नहीं की। बहरहाल जब राजदूतों से कहा गया कि वे बारी-बारी से प्रमुख अतिथि के गिलास के साथ अपना गिलास टकरायें तो मैंने चाऊ के स्वास्थ्य की कामना की और वहां से हटने ही वाला था कि उन्होंने मुझे कलाई से पकड़ लिया और पूछा, "आप मुझसे बचने की कोशिश क्यों कर रहे हैं?" मैंने जवाब दिया कि वह प्रमुख अतिथि हैं और मैं उनके तथा औरों के बीच पड़ना नहीं चाहता। वह हंसे और बोले "बोमुन लाओ फुंगम्येओ" (हम पुराने मित्र हैं) फिर आगे कहने लगे, "क्या आप बीते हुए दिनों को भूल गये हैं?" मैंने पूछा, "कौन से बीते हुए दिन? पंचशील समझौता?" फिर उन्होंने पूछा, "आइये हम लोग भविष्य की ओर देखें।" और मैंने पूछा, "कौन सा भविष्य, कैसा भविष्य?" उन्होंने जवाब दिया, "बात को टालने की कोशिश मत कीजिए। आप जानते हैं मेरा मतलब क्या है।" मैंने कहा, "मैं नहीं जानता।" तब तक विदेशी संवाददाता हमारे पास तक आ पहुंचे थे और उन्होंने हमें घेर लिया था। चाऊ मुझे एक तरफ ले जाकर बोले, "मेरा मतलब अल्जीयर्स में होने वाले अफ्रीकी-एशियाई सम्मेलन से है। हम वहां मिलकर बात कर सकते है।" मैंने कोई जवाब नहीं दिया। हमारे संबंध तनावपूर्ण थे। हम उनके द्वारा पंचशील समझौता तोड़े जाने और हमारी सीमा पर भारी आक्रमण किये जाने पर दुखी थे। मेरे

पोलितब्यूरो के युवा सदस्यों में सबसे महत्त्वाकांक्षी और विशिष्ट शेलेपिन थे, जिन पर मजदूर संस्थाओं, सुरक्षा और पार्टी के मामलों की भी जिम्मेदारी थी, उनके बात करने के अंदाज से ऐसा लगता था कि वह शक्ति, प्रभाव और अधिकारों से लैस हैं। उनके पास बहुत सारे विभागों का काम था, वह अत्यधिक महत्त्वाकांक्षी थे और अपने सहकर्मियों की ईर्ष्या और संदेह का पात्र बन गये थे। अंततः उनको बहुत सारे दायित्वों से बरी कर दिया गया था और केवल मजदूर संस्थाओं में ही उनकी जगह बची रह गयी थी। क्या यह संभव है कि वह फिर आगे आयेंगे? मुझे संदेह है।

बाकी पोलितब्यूरो के सदस्य—वोरोनोव, पानोमोरीव किरिलेंको तथा अन्य से मेरी मामूली जान-पहचान थी और ज्यादा संपर्क नहीं था। पोदगोर्नी ने, ब्रेजनेव के बाद राष्ट्रपति बनने वाले पोदोगोर्नी ने, मुझे एक और ख्रुश्चेववादी के रूप मे प्रभावित किया, यद्यपि वह प्रफुल्लित कम रहते थे, रूखे थे और स्पष्टवादी थे। मेरे विचार में ख्रुश्चेव के पतन के बाद के मुकाबले वह ख्रुश्चेव के समय में अधिक प्रभावशाली थे। ब्रेजनेव ने स्वयं को पार्टी का चोटी का सदस्य साबित किया और अंततः उन्होंने राष्ट्रपति और प्रथम सचिव दो पदों को एक साथ संभाला। नये और युवा नेता उभर रहे हैं और यह भविष्यवाणी करना कठिन है कि ब्रेजनेव का उत्तराधिकारी कौन बनेगा। चाहे जो भी उनके बाद आये, इससे सामूहिक नेतृत्व की तरफ रुझान निश्चित ही बढ़ेगा।

जिन दसियों रूसी अधिकारियों और सैकड़ों सेनाधिकारियों से मेरी मुलाकात हुई थी, उनमें से कुछ का उल्लेख मैं यहां करना चाहूंगा। उनकी सूची में मालिनोवस्की सबसे ऊपर है। एक बार मैंने उनसे पूछा कि पूर्ण निशस्त्रीकरण के बाद सैकड़ों रूसी सेनाधिकारियों का क्या होगा। छेड़खानी करते हुए मैंने आगे जोड़ा, "क्या वे बेरोजगार न हो जायेंगे।" उन्होंने झिझके बिना फौरन जवाब दिया, "ऐसा कोई डर नहीं है क्योंकि निशस्त्रीकरण को सफल बनाने और उसे नियंत्रण रखने के लिए हमें हजारों उच्चपदस्थ अधीक्षकों और निरीक्षकों की आवश्यकता होगी।" वह उक्रेन के रहने वाले थे, कद में छोटे, स्थूलकाय और मजाकिया तबियत के थे और उनकी मुस्कान मधुर थी। एक बार मैंने ख्रुश्चेव से पूछा कि चीन की धमकी का मुकाबला करने के लिए हमें सुरक्षा का कैसा प्रबंध करना चाहिए। उन्होंने जवाब दिया, "मैं विशेषज्ञ नहीं हूं। मैं यह नहीं बता सकता कि धूप निकलेगी, वर्षा होगी, बादल गरजेंगे या बिजली चमकेगी और आपको छतरी, मोमजामा, या सर्दियों के बड़े कोट की आवश्यकता है। आप मालिनोवस्की से क्यों नहीं पूछते?" सो मैंने उनसे पूछा। मालिनोवस्की ने कहा कि भारत को सशक्त, चल और आधुनिक शस्त्रों से लैस थलसेना, वायुसेना और नौसेना की आवश्यकता है। प्रतिष्ठित लेकिन पुराना, मरम्मत किया हुआ ब्रितानी विमान वाहक (जिसे उन्होंने एक कुत्ते की पांचवीं टांग और सहज लक्ष्य बताया) की बजाय हमें विस्तृत तटों की सुरक्षा के लिए पनडुब्बियों का इस्तेमाल करना चाहिए। ये शब्द मालिनोवस्की जैसे व्यावहारिक सिपाही के थे, जो अक्लमंदी की बातें करते थे और सब कुछ स्पष्ट शब्दों में कह देते थे।

मेरी रूस के सैनिकों से अच्छी बनती थी और आमतौर पर वे मुझे अच्छे जानकार लगते थे और भारत के प्रति उनका रवैया अच्छा था तथा वे गैरसैनिकों से ज्यादा स्पष्टवादी थे।

नेताओं को देखते हुए साम्यवादी जगत के बारे में गलतफहमी हो सकती है। स्तालिन के शासन में, जब रूसी लोगों को अपने मामलों में भी कुछ बोलने का हक नहीं था, ऐसा संभव हो सकता था लेकिन आज यह बात सच नहीं है। रूसी लोगों ने अंदरूनी स्वतंत्रता का स्वाद चख लिया है, जो उन्हें पसंद आया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की

पीढ़ी और विशेषकर युवा वर्ग को स्तालिन की तानाशाही का कोई अनुभव नहीं और न ही उसकी उन्हें याद है। हर जगह के युवा वर्ग की तरह वे भी अच्छा संगीत सुनने, अच्छा खाने, पहनने, यात्रा करने, आमोदप्रमोद और खेलकूद के शौकीन हैं। वे अपने से पहली पीढ़ी के बारे में इज्जत से और उससे भी कम श्रद्धा की भावना से बात नहीं करते, बल्कि उसकी आलोचना करते हैं। निरंतर किये जाने वाले पार्टी के प्रचार और एक ही स्वर में बोले जाने वाले और ऊब पैदा करने वाले भाषणों में वे तंग आ जाते हैं। अन्य देशों के लोगों के संपर्क में आना और विदेशों की यात्रा करना वे पसंद करते हैं। 1962 और 1966 के दौरान इसके बहुत से सबूत मिले हैं। इससे रूस की बढ़ती हुई शक्ति और स्थिरता, उसके नेतृत्व में परिपक्वता और लोगों में अधिक आत्मविश्वास के संकेत मिलते हैं। वे अमेरिकी साम्राज्यवाद से आतंकित नहीं हैं। वे चीन की अंध देशभक्ति का मजाक उड़ाते हैं और सबसे बढ़कर अपने ऊपर हंसने की क्षमता रखते हैं। वे अपने नेताओं की तुलना में कुछ कम गुणवान और देशभक्त नहीं है, लेकिन तनाव नहीं पालते। वे केवल युद्धविहीन शांति की ही कामना नहीं करते बल्कि प्राचुर्य, सपन्नता और विकास के अर्थ में वास्तविक शांति चाहते हैं। वे अन्य देशों में विज्ञान और टेक्नालाजी की प्रगति में गंभीर रुचि लेते हैं। वे विदेशी संगीत सुनते हैं, उपलब्ध होने पर विदेशी पत्रिकाएं पढ़ते हैं, नये खेल और फैशन का अध्ययन करते हैं और अपने पूर्वाधिकारियों की तुलना में ज्यादा अंतर्राष्ट्रीय भावनाएं रखते हैं।

येव्तुशेंको, वोजनेसेंकी, बेल्ला, अहमदल्लिना, अकजावा तथा अन्य उनकी पसंद के कवि और संगीतकार हैं, नीज्वेस्तनी उन की पसद के मूर्तिकार हैं और ग्लाजुनोव, विवादास्पद होने के बावजूद, उनके लोकप्रिय कलाकार हैं। और भी बहुत हैं, लेकिन मैं जिनसे मिला, उनमें से कुछ का उल्लेख यहां किया है।

अमेरिका, पश्चिमी और पूर्वी यूरोप, रूस, अफ्रीका, लातीनी अमेरिका, भारत, दक्षिण पूर्व और दक्षिण पश्चिम एशिया और जापान—सभी देशों की युवा पीढ़ी भविष्य की आशा है। चीन का युवा वर्ग भी अब सिर उठाने के संकेत दे रहा है, लेकिन अपने को प्रभावी बनाने को उन्हें और समय लगेगा। जब इन देशों का वर्तमान नेतृत्व युवा पीढ़ी के हाथ में पहुंच जायेगा, तब शायद आपसी सम्मान और आपसी मेलजोल के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय समझदारी और शांति की संभावना और अधिक बढ़ जायेगी।

1948 में मैं कुछ रूसी बुद्धिजीवियों से यह सुनकर दंग रह गया था कि उन्हें मित्र गंवाना मंजूर है, बनिस्बत यह जोखिम लेने के कि उनमें से शायद कोई शत्रु हो जाये। लेकिन 1962-66 में मैंने पाया कि यद्यपि सभी विदेशियों, विशेषकर राजनयिकों को संदेह की दृष्टि से देखा जाता है, लेकिन खुलेआम उनमें उनके प्रति शत्रुता की भावना नहीं थी। तब संपर्क ज्यादा और भय कम था। हजारों की संख्या में विदेशी पर्यटक और छात्र रूस आते थे, प्रत्येक देश के युवा वर्ग में संपर्क विस्तृत होना लाजिमी है और उससे ज्यादा विश्वास और भरोसे की संभावना बढ़ेगी, भय और संदेह कम होगा और इस तरह शांति और अंतर्राष्ट्रीय समझौते के अवसर मिलेंगे। इसमें समय लगेगा, लेकिन सारे विश्व में इस प्रवृत्ति को कोई रोक नहीं सकता।

मैंने देखा कि अन्य देशों को जानने और अन्य लोगों के करीब आने की यह बढ़ती आकांक्षा रूस के कोने-कोने में—रीगा और कीव से तिबलिसी और ऐरेवान, मास्को से ताशकंद तथा दुशानबे से इर्कुत्स्क और खबारोव्स्क तक-व्याप्त थी। 1962 से 1966 के दौरान मुझे रूस के 28 में से 20 राज्यों की यात्रा करने का मौका मिला था और एकता, स्थिरता और संपन्नता की ओर उनके विकास को देखकर मैं प्रभावित हुआ था।

समय या स्तालिन के रूस की तुलना में शिक्षा, संस्कृति, विज्ञान और उद्योग के क्षेत्र में असाधारण प्रगति हुई थी। कृषि के विकास की गति उतनी तेज नहीं थी लेकिन सिंचाई की बढ़ी हुई सुविधाओं, उत्तर से दक्षिण तक लंबी नहरों की खुदाई, विभिन्न नदियों और भीतरी सागरों को दक्षिण पूर्व से दक्षिण पश्चिम की ओर मोड़ देने से कृषि के क्षेत्र में निश्चित ही प्रगति होगी। साइबेरिया में ऊर्जा और उद्योग के विकास को देखकर मैं बहुत प्रभावित हुआ, विशेषकर बैकल—इर्कुत्स्क, ब्रात्स्क क्षेत्र में मैं अक्सर ही उलनबतोर जाते हुए जहां का मैं इसी दौरान राजदूत नियुक्त किया गया था, मैं अक्सर ही इस क्षेत्र का दौरा करता था।

ब्रात्स्क के नये शहर के निवासियों की औसत आयु 29 वर्ष थी और इसका संचालन उन युवक युवतियों के हाथ में था जो नये रूस के निर्माण के लिए पश्चिमी प्रांतों से आये थे। उन्हें अतिरिक्त और आकर्षक वेतन दिया जाता था। वे इस विशाल देश के लिए रीढ़ की हड्डी के समान थे।

रूस का क्षेत्रफल दुनिया में सबसे अधिक है। उसकी जनसंख्या ऊपर से तीसरे नंबर पर है। प्राकृतिक संपदा की दृष्टि से शायद वह सबसे धनी है, लेकिन अभी तक उसका पूरा उपयोग नहीं किया गया है। विज्ञान और टेक्नोलाजी की प्रगति को देखते हुए यह निश्चित कहा जा सकता है कि इस शताब्दी के अंत तक वह विश्व का अग्रणी देश बन जायेगा—केवल अस्त्रशस्त्रों में ही नहीं बल्कि ऊर्जा और इस्पात, लकड़ी, गैस और अलौह धातुओं आदि के उत्पादन में वह सबसे आगे निकल जायेगा। युद्ध के विरुद्ध शांति में उसका निजी हित निहित है, जैसा कि अमेरिका, भारत और सारे विश्व का है। लेकिन सारी मानवता की भलाई और संपन्नता के लिए सबको एकजुट होकर काम करने में अभी समय लगेगा। भारत जैसे देश इस लक्ष्य की ओर पहुंचने के लिए एक प्रेरणा देने वाले देश की हैसियत से रचनात्मक भूमिका अदा कर सकते हैं। यही भारत-रूस मैत्री और आपसी हितों का एक आधार है। भौगोलिक और भूराजनैतिक दृष्टि से एक दूसरे के करीब होने के कारण, वे एक-दूसरे से दूर नहीं जा सकते और अपने हितों तथा एशिया और विश्व की शांति के लिए एक-दूसरे के उन्हें निकट आना ही होगा। भारत-रूस मैत्री ने युद्ध को रोका है और दक्षिण एशिया में शांति कायम की है तथा दक्षिण पूर्व और दक्षिण पश्चिम एशियाई क्षेत्रों के देशों के सहयोग से वहां भी यही भूमिका निभा सकती है। क्या चीन और अमेरिका इस बात को समझेंगे और उनके साथ योगदान देंगे या एशिया को विभिन्न प्रभावों के अंतर्गत विखंडित कर देंगे? भारत बराबरी और आदान-प्रदान के आधार पर सब देशों से मित्रता बनाये रखना चाहता है तथा किसी भी देश का, चाहे वह कितना भी बड़ा और शक्तिशाली क्यों न हो, पिछलग्गू नहीं बन सकता। लेकिन दोस्ती दोतरफा होती है, एकतरफा नहीं। इसका विकास शांति की ओर ले जाने वाले बहुमार्गीय पथ के रूप में किया जा सकता है।

13
नेहरू, शास्त्री और ताशकंद

रूस में जवाहरलाल नेहरू सबसे लोकप्रिय विदेशी थे। 1955 में उनकी रूस यात्रा ने उन्हें जनसाधारण का प्रिय बना दिया था। मताग्रही साम्यवादियों तक ने मेरे सामने स्वीकार किया था कि, "यद्यपि नेहरू वैज्ञानिक मार्क्सवादी नहीं हैं लेकिन उनका मानवतावाद सैद्धांतिक बाधाओं को पार कर जाता है और अलग-अलग सिद्धांतों में विश्वास रखने वालों को आपस में मिला देता है।" रूसी नेता और लोग उनके बिगड़ते हुए स्वास्थ्य के बारे में सचमुच चिंतित थे और अक्सर ही पूछा करते थे "नेहरू के बाद कौन ?" और "नेहरू के बाद क्या ?" अधिकांश भारतवासी तथा अन्य विदेशी भी यही प्रश्न पूछते थे।

मैं फरवरी, 1964 में सलाह-मशवरे के लिए दिल्ली लौटा था और नेहरू से मेरी कई बार मुलाकात हुई। 1962 के चीनी आक्रमण ने न केवल उनके वर्षों से संजोये हुए एक स्वप्न को चूर-चूर कर दिया था, बल्कि उनका स्वास्थ्य भी टूटने लगा था। वह स्वास्थ्य-लाभ करने के लिए साहसिक प्रयास कर रहे थे। उनके घर एक दिन दोपहर के खाने पर मैंने देखा कि अपना बायां हाथ मेज तक लाने में उन्हें कष्ट हो रहा था। खाने के बाद मैंने उस बात का उल्लेख किया जो रूस के कुछ जाने माने चिकित्सकों ने मुझे बताई थी, "नेहरू को दो-तीन महीने तक बिस्तर पर लेट कर आराम करना चाहिए।" सुनकर उन्हें क्रोध आ गया; "उन सबको भाड़ में जाने दो। मुझे मालूम है कि अगर हफ्ते भर के लिए भी मैं बिस्तर पर लेट गया तो फिर कभी उठ नहीं पाऊंगा।" शायद वह ठीक ही कह रहे थे। उन्होंने कारावास के दिनों को छोड़कर, जीवन भर आराम नहीं किया था। अपने लक्ष्य की तलाश उनके लिए एकमात्र 'आराम' था। यही उनके लिए 'जीवन का मतलब' था, जैसा कि उन्होंने प्रधानमंत्री बनने से कई वर्ष पहले अमेरिकी दार्शनिक विल ड्यूरांट की एक प्रश्नावली के उत्तर में कहा था।

मैं कुछ दिनों के बाद उनसे फिर मिला। वह अकेले सोफे पर बैठे हुए पढ़ रहे थे। वह उदास लेकिन शांत थे। उन्होंने मुझे बात करने को प्रोत्साहित किया। मैंने संक्षेप में उन्हें चीन-भारत, चीन-रूस और हिंद-रूस के संबंधों के बारे में बताया, उन्होंने धैर्यपूर्वक सुना। उन्होंने भारत और उसके भविष्य के बारे में अपने विश्वास की फिर से पुष्टि की। मैंने उनसे यह पूछने की हिम्मत की कि "अपना भार कम करने के लिए उन्होंने कोई उत्तराधिकारी चुना या सुझाया क्यों नहीं है और उनका स्थान लेने के लिए किसी को तैयार क्यों नहीं किया, तथा आगे कहा कि सारी दुनिया यही प्रश्न पूछ रही है कि नेहरू के बाद कौन और क्या ?" ऐसा लगा कि उन्हें मेरा प्रश्न पसंद नहीं आया और तीक्ष्ण दृष्टि से मेरी ओर ऐसे देखा जैसे कह रहे हों, "तुम्हारी हिम्मत बहुत बढ़ गयी है" लेकिन उनके चेहरे पर नर्मी आ गयी और दार्शनिक अंदाज में बोले, "मैं उत्तराधिकारी नियुक्त करने में विश्वास नहीं करता। लालबहादुर शास्त्री मेरे लिए बिना मंत्रालय के मंत्री की हैसियत से काम कर रहे हैं, जिससे मेरा बोझ हल्का हो गया है। उनको नियुक्त करने से उनके अवसर कम हो जायेंगे। याद है जब चर्चिल ने ईडन को नियुक्त किया था तो उनका क्या हाल हुआ था ? लोकतंत्र को अपने ही तरीके से काम करने देना चाहिए। जनता उसी को

यह सोचती है। किसी का तो उदय होगा ही और लोकतंत्री प्रक्रि
ही जाएगा।"

कर्मठ, हमेशा एक युवक की-सी फुर्ती लिए हुए नेहरू को बूढ़ा होते देख हुए
ोन नहीं सकता था कि उनका अंत इतना करीब है। 27 मई, 1964 को
ांत हो गया। मैं मास्को लौट गया था। हम सब स्तब्ध और भौचक्के रह गए
समय हमने नेहरू के चित्र पर माला डाल कर उसे टांग दिया और दूतावास के
ा में एक मेज पर शोक पुस्तिका रख दी।

विदेशी उच्चाधिकारियों में ख्रुश्चेव सबसे पहले आए। जब वह नेहरू के चित्र के
गिर झुककर खड़े हुए, उनकी आंखों से आंसुओं की धारा बहने लगी। उन्होंने मुझे
ना देने की कोशिश की, "कोसिगिन के नेतृत्व में एक विशेष प्रतिनिधि मंडल अंत्येष्टि
ा में शामिल होने जा रहा है। यदि चाहें तो उसी हवाई जहाज से आप भी जा सकते
उन्होंने मुझसे कहा। मैंने उनका निमंत्रण स्वीकार किया और दिल्ली को सूचित
ा कि उनकी अनुमति की प्रतीक्षा किए बिना ही मैं प्रतिनिधि मंडल के साथ पहुंच रहा
। अनुमति लेने का समय नहीं था और वैसे भी वे अन्य अधिक महत्वपूर्ण मुद्दों को लेकर
स्त थे। कोसिगिन, उनके सहकर्मी और मैं एक इल्युशिन-18 विमान में रवाना हो गए।
कोसिगिन ने मुझे अपने विशेष कक्ष में अपने साथ बैठने के लिए आमंत्रित किया और मुझसे
कुछ सूक्ष्म प्रश्न पूछे। वे यह जानने के लिए उत्सुक थे कि नेहरू की नीति चलती रहेगी या
नहीं, जैसा कि बाद में हम भी यह जानने के लिए उत्सुक थे कि ख्रुश्चेव के सत्ताच्युत होने
पर उनकी नीति चलेगी या नहीं। लेकिन दोनों में एक फर्क था। समाजवाद, धर्म-
निरपेक्षता और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की अंदरूनी नीति के निर्माणकर्ता की हैसियत से
भारत में नेहरू की स्थिति अद्वितीय थी। हालांकि ख्रुश्चेव कुछ मामलों में अपने मन की
करते थे लेकिन फिर भी वह एक दल का एक हिस्सा मात्र थे। नेहरू के उत्तराधिकारी
भारत की नीति में रूस को दी जाने वाली अहमियत को खत्म कर सकते थे। रूसियों को
इसी बात की चिंता थी और यही वे जानना चाहते थे—विशेष कर चीन के साथ उनके
बिगड़ते हुए संबंधों के कारण। मैं इतना शोकमग्न था कि इन सूक्ष्म और गूढ़ प्रश्नों का
जवाब विस्तार से न दे सका। मैंने उन्हें संक्षेप में बताया कि नेहरू की नीति को गांधी का
सहारा प्राप्त था और भारतीय जनता उसका समर्थन करती है। नेहरू का उत्तराधिकारी
चाहे कोई भी बने, हमारी नीति में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आ सकता। बहरहाल
आवश्यक यह है कि वे भी भारत को इस बात का आश्वासन दें कि रूस की नीति में भ
कोई फेरबदल नहीं किया जाएगा।

फिर कोसिगिन ने मुझसे विभिन्न राजनैतिक दलों के बारे में पूछा कि उ
शक्ति कितनी है, प्रभाव कितना है। और कितने लोग उनका समर्थन करते हैं। मैंने
उन्हें संक्षेप में बताया कि हमारे यहां बहुदलीय प्रणाली है, जो बाहरी खतरे के मौ
एकजुट हो जाते हैं। उन्होंने मुझसे पूछा कि चीन के प्रति हमारे रवैये या अमेरिका
हमारे संबंधों में फर्क आने वाला है या नहीं। मैंने उन्हें बताया कि दूर-दूर तक
की कोई संभावना नजर नहीं आती, लेकिन भारत-रूस संबंधों की स्थिति पर ब
निर्भर करेगा। इसलिए उनका अधिक महत्व है। मैं सोचता हूं उन्हें मेरी बात
आ गयी।

अगले दिन तड़के ही हम पालम पहुंच गए। वीसा और अन्य औपचारि
हमें मुक्ति दे दी गयी। मैं वहां से सीधा तीनमूर्ति भवन (नेहरू का आधिका
स्थान) पहुंचा और कोसिगिन तथा उनका दल रूसी दूतावास चला गया। मैं

के नश्वर शरीर को अपनी अंतिम श्रद्धांजलि अर्पित करने गया, जो छात्र जीवन और बाद में भी हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत था। उनका शव राजकीय प्रतिष्ठा के साथ रखा हुआ था। नेहरू के चेहरे पर पीलापन था लेकिन वह शांत था—ठीक वैसा ही जैसा मैंने दो महीने पहले देखा था। उनकी आंखों की चमक और ओंठो पर मधुर मुस्कान का अभाव महसूस हो रहा था। ऐसा लग रहा था कि वह गंभीर चिंता मे मग्न हैं और "सो जाने से पहले उन्हें कई वचन पूरे करने हैं और मीलो चलना है"—(रॉबर्ट फ्रॉस्ट से लिए गए एक उद्धरण का अनुवाद, जो वह अपने बिस्तर के पास रखा करते थे) उनके शव पर फूल माला चढाने के लिए कई देशो से प्रतिनिधिमंडल आए थे। मोरारजी देसाई, टी० टी० कृष्णमृचारी और गुलजारीलाल नंदा जैसे काबीना मंत्री अपना-अपना 'उचित' स्थान लेने के लिए एक दूसरे से होड़ और धक्कमधक्का कर रहे थे। हमेशा की तरह विनम्रता की प्रतिमूर्त्ति लालबहादुर शास्त्री पृष्ठभूमि में ही रहे। मैं ऊपर के बरामदे से नेहरू के नश्वर शरीर को एक आनुष्ठानिक तोपगाड़ी मे रखकर उस घर से ले जाने का दृश्य देखता रहा जहां उन्होने भारत के प्रधानमंत्री की हैसियत से, 17 वर्ष तक निवास किया था। दुख भरे संगीत के साथ 'जवाहरलाल अमर है' की गूंज सुनकर रोती-सिसकती भीड़ को देख आखों मे आंसू आ गए।

अगली सुबह मैं नंदा, शास्त्री और अन्य नेताओं को यह बताने के लिए मिला कि कोसिगिन उनसे भेंट करने आने वाले हैं। कोसिगिन जब शास्त्री जी से मिले तो शास्त्री जी की आंखों मे आसू थे और गला रुंधा हुआ था। वह कुछ क्षणों के लिए बोल न पाए, फिर कोसिगिन, उनकी सरकार और जनता के प्रति उनकी सहानुभूति के लिए आभार प्रकट किया और उन्हे आश्वासन दिया कि नेहरू की नीतियां बराबर चलती रहेंगी।

नंदा ज्यादा सभले हुए थे और उन्होने बहुत से विषयो पर बातचीत की। मैंने कोसिगिन को सचेत कर दिया था कि वह कश्मीर पर बातचीत न छेड़ें, क्योंकि इससे अकारण ही भारतीय मन मे संदेह उत्पन्न होगा। लेकिन अपने दूतावास की सलाह पर कोसिगिन ने नंदा के सामने उसका उल्लेख किया और कश्मीर को 'अधिक स्वायत्तता' प्रदान करने के बारे में उनकी राय मांगी। मैंने पहले ही नदा को सचेत कर दिया था। उन्होंने कोसिगिन को सही और दो टूक जवाब दिया। कोसिगिन तुरंत ठंडे पड़ गए और बोले, यह उनके अपने विचार नही हैं बल्कि अन्य लोगों ने उन्हे जो कुछ बताया उसी का उल्लेख कर रहे हैं। यह कुछेक रूसी सलाहकारो का वैसा ही भद्दा प्रयास था जैसा कि डंकन सैंडीज और डीन रस्क ने दिसंबर, 1962 मे चीन-भारत सघर्ष के दौरान नेहरू पर दबाव डालने के लिए किया था। इसकी भी वही परिणति हुई; अंतर केवल इतना ही था कि रूसियो को मालूम था कि कैसे और कब उन्हें इज्जत के साथ पीछे हट जाना चाहिए। जब कि ब्रितानी-अमेरिकी 1965 तक इस बात पर अड़े रहे।

नेहरू की तरह शास्त्री ने भी मुझे मास्को मे रहने के लिए प्रोत्साहित किया और मुझसे कहा कि आवश्यकता पड़ने पर मैं सीधे उनसे पत्रव्यवहार करू। बहरहाल, मुझे इससे फायदा उठाने की जरूरत नही पड़ी, क्योंकि उनके मुख्य सचिव, एल० के० झा से मेरी अच्छी जान-पहचान थी। हम दोनों एक ही वर्ष सरकारी सेवा मे भर्ती हुए थे। यद्यपि कुछ विषयों पर हम दोनो मे मतभेद थे, लेकिन हम एक दूसरे के विचारो को मान देते थे और अक्सर ही विचारों का आदान-प्रदान करते थे।

मैं मास्को के लिए रवाना होने से पहले कोसिगिन के साथ इदिरा गांधी से मिला। शास्त्री के सुझाव पर मैंने उनसे आग्रह किया कि वह उनके मत्रिमडल मे शामिल हो जाए ताकि नेहरू की नीतियो को केवल कागज पर नही बल्कि वास्तविक रूप दिए जाने के बारे

मे निश्चिन्त हो सकें। देश में भारत की साख और विदेशों में उसके संपर्क सूत्रों को बनाए रखने के लिए यह जरूरी था। कुछ हफ्ते बाद, सूचना और प्रसारण मंत्री की हैसियत से वह मंत्रिमंडल में शामिल हो गयी।

मेरे मास्को लौटने के बाद नेहरू की पुण्यस्मृति में कई सभाएं हुईं। मुझे हाल आफ कामंस में होने वाली मुख्य सभा को संबोधित करने के लिए कहा गया, जहां केवल रूस और समाजवादी देशों के महानतम नेताओं की स्मृति में सभाएं आयोजित की जाती हैं। कोसिगिन ने अध्यक्षता की। मैं इस सभा की गरिमा, गंभीरता और प्रतिनिधि रूप को देखकर और रूसी नेताओं द्वारा नेहरू को अर्पित शानदार भावभीनी श्रद्धांजलि से प्रभावित हुआ।

नेहरू के न रहने से एक अभाव जरूर था, लेकिन शास्त्री के उनके उत्तराधिकारी के रूप में उभरने से उस अभाव की गहराई कुछ कम हो गयी थी। नेहरू की नीति से हटकर चलने की कोई बात मेरी नजर में नहीं आयी। कुछ लोगों ने चेष्टा की कि नेहरू जिस पर बल देते थे उससे हटकर चला जाए लेकिन शास्त्री ने उनका कहा न माना। रूस में भी ऐसा ही एक प्रयास किया गया था, विशेषकर पाकिस्तान से मतभेद खत्म करने के लिए, लेकिन अप्रैल, 1965 में राष्ट्रपति अय्यूब खां की रूस यात्रा से कुछ महीने पहले तक इससे भारत में कोई परिवर्तन नहीं आया।

रूस और पाकिस्तान के बीच विशेषकर संसदीय और सांस्कृतिक प्रतिनिधि मंडलों का आदान-प्रदान हुआ। पाकिस्तानियों ने रूसियों को बताया कि चीन से उनकी मैत्री रूस से मैत्रीपूर्ण संबंध विकसित करने में आड़े नहीं आएगी और सीएटो तथा सेंटो में उनकी सदस्यता नाममात्र की है और वह रूस के विरुद्ध कोई भी आचरण सहन नहीं करेंगे। उन्होंने अमेरिका से प्राप्त पैटन टैंकों का उल्लेख किए बिना याचना की कि भारत के लिए दिए जाने वाले रूसी टैंक उनके लिए खतरा हो सकते हैं। कुछ रूसी नेता पाकिस्तानी दलीलों से प्रभावित हुए और मुझे वापस लौटने पर बताया। उन्होंने कहा कि उनका मुख्य उद्देश्य अपने सामने रास्ते खुले रखकर पाकिस्तान को चीन से अलग करना है। मैंने उन्हें निहायत स्पष्ट और मैत्रीपूर्ण तरीके से चेतावनी दी कि हम पाकिस्तानी नेताओं को उनसे ज्यादा अच्छी तरह पहचानते हैं। यदि रूस उनके प्रचार से प्रभावित होगा तो इससे न केवल भारत के साथ उसकी मैत्री कमजोर पड़ जाएगी बल्कि उसके पश्चिमी खेमे में शामिल होने की संभावना भी बढ़ जाएगी। यह उनके सोचने की बात थी कि वह किसको अधिक महत्व देते हैं—गुटनिरपेक्ष लोकतंत्रीय भारत की मैत्री को या पाकिस्तान की अस्थिर और डांवाडोल उस तानाशाही के संदिग्ध वचनों को जिसका पश्चिम के साथ भी सैनिक गठबंधन था और वह चीन के भी करीब थी।

राष्ट्रपति अय्यूब अप्रैल, 1965 को मास्को आए। उनका व्यक्तित्व बहुत आकर्षक था और उनके बारे में पहली धारणा अच्छी ही बनती थी तथा वह सही व्यक्तियों से सही समय पर सही ढंग से सही बात करते थे। उन्होंने पार्टी, सरकार और सेना में रूसी नेतृत्व के कुछ अंशों की सहानुभूति अर्जित की। उन्होंने एक शांति दूत होने का भ्रम पैदा किया और गैरसैनिक विमान, हलिकाप्टर और कुछ परिवहन ट्रकों के रूप में छोटी-छोटी सहायता प्राप्त की। जो कुछ उन्हें मिला उसका इतना महत्व नहीं था बल्कि महत्व इस बात का था कि चीन और पश्चिम दोनों के साथ दोहरे गठबंधन होने के बावजूद वह रूसी मानस को प्रभावित करने में सफल हो सके थे।

भारत में दो विचारधाराएं थीं—एक के अनुसार पश्चिमी खेमे में शामिल होना चाहिए था और दूसरी रूस के साथ पाकिस्तान की पैंतरेबाजी का पर्दाफाश करना चाहती

थी। मैं विचार-विमर्श करने भारत गया और शास्त्री को रूसी निमंत्रण के जवाब में रूस की यात्रा के लिए राजी किया। उन्होंने मेरी बात समझी और अन्य लोगों के समर्थन और सलाह पर मेरे प्रस्ताव को स्वीकार किया।

मई, 1965 में शास्त्री की सपत्नीक रूस यात्रा एक से अधिक मायनों में महत्वपूर्ण थी। रूस का नेतृत्व शास्त्री की शालीनता और सौम्यता तथा नेहरू की मूल नीति में उनके अटूट विश्वास से प्रभावित हुआ। शास्त्री भी रूसी नेताओं की मित्रता और दोनों के आम हितों से उपजे इस विश्वास से प्रभावित हुए कि भारत के साथ संबंधों को कमजोर नहीं बल्कि दृढ़ बनाना है। कुछ लोगों ने रूस के विरुद्ध शास्त्री के कान भरने की कोशिश की थी। मैं उत्सुक था कि वह खुद सब कुछ देखभाल कर अपने निष्कर्षों पर पहुंचें, जैसा कि रूसी नेताओं के लिए भी यह जरूरी था कि वह भारत के नए नेता से मिलकर अपना मूल्यांकन करें।

यह योजना काम कर गयी और हम भारत-रूस मैत्री को फिर से दृढ़ आधार प्रदान कर सके। रूसियों को जल्दी ही पता चल गया कि पाकिस्तान का प्रमुख लक्ष्य भारत को कमजोर बनाना और हमारे कच्छ तथा कश्मीर के इलाकों को हथियाना था। पहले वे यह देखकर निराश हुए कि हमने पाकिस्तानियों की हालत खराब नहीं की। मालिनोवस्की ने स्पष्ट शब्दों में मुझसे कहा था कि "अल्प समय की लड़ाई में झटपट विजय प्राप्त करना बहुत मायने रखता है।" मैंने उन्हें बताया कि हम पाकिस्तान का नाश नहीं करना चाहते और उसकी जमीन पर कब्जा भी नहीं करना चाहते; फिर हमें चीन की सीमा पर भी सेना का पर्याप्त इंतजाम रखना था। इसलिए हम लोग जल्दी विजय प्राप्त नहीं कर सके। पश्चिमी शक्तियां, विशेषकर अमेरिका और ब्रिटेन अपनी हमेशा की चाल चल रहे थे। हम लोग कुछ ही दिनों में पाकिस्तानियों को मार भगाएंगे। एक सैनिक होने के नाते उन्हें मेरी बात पसंद नहीं आयी। उन्होंने कहा, "आपको एक बड़ी भारी भरकम सेना की बजाय सशक्त, साज सामान से अच्छी तरह लैस, अधिक सचल सेना की जरूरत है। आपको अधिक प्रभावशाली लड़ाकू अवरोधक और बमवार तथा आधुनिक तोपों और शस्त्रों की आवश्यकता है।" मैंने उनके शब्दों पर यकीन करके उनसे पूछा, "ये सब कुछ प्राप्त करने में आप हमारी सहायता क्यों नहीं करते?" हाथ ऊपर उठाते हुए उन्होंने कहा, "यह तो आपका काम है, राजदूत महोदय, आपको हमारे राजनैतिक नेतृत्व के सर्वोच्च व्यक्ति से बात करनी चाहिए। वही फैसला कर सकते हैं, मैं नहीं।"

मैं थलसेनाध्यक्ष जाखारोव, नौसेनाध्यक्ष गोरोश्कोव और वायुसेनाध्यक्ष वर्शिनिन से मिला। वे सब मैत्रीपूर्ण सहानुभूतिपूर्ण और समझने वाले व्यक्ति थे और उन्होंने भी लगभग मालिनोव्स्की की बात को ही दोहराया, हालांकि इतने रूखे शब्दों में नहीं कहा। मेरे दो प्रमुख सहायक रिखि जयपाल और ओ० पी० मल्होत्रा अन्य लोगों से मिले और हमने बात आगे बढ़ायी। आवश्यकताओं को सर्वोच्चस्तरीय रूसी नेतृत्व तक पहुंचाने में हमें शास्त्री की यात्रा से बहुत मदद मिली। यदि भारत सरकार मसले को और गंभीरता से आगे बढ़ाती तो हमें और भी बहुत कुछ मिल जाता। हमेशा की तरह हम देर लगाते और आनाकानी करते रहे, जिसका नतीजा यही हुआ कि हमने कुछ अच्छे सौदे और अवसर खो दिए।

1965 में भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध की आग भड़क उठी। अप्रैल से ही कच्छ के रन में यह आग सुलग रही थी। युद्ध मुश्किल से दो सप्ताह चला। हमारी स्थिति पाकिस्तान से अच्छी रही, लेकिन हम पूर्ण विजय प्राप्त नहीं कर सके। पश्चिम से दलीलें, रूस के सुझाव और अफ्रो-एशियाई दुनिया के विचारों का दबाव तथा हमारा

अपना यह मूल्यांकन कि संघर्ष को आगे बढ़ाने से हमारे साधन खाली होते जाएंगे, क्योंकि पाकिस्तान के किसी क्षेत्र पर हमारी नजर नहीं है, इन सबके कारण हम 20 सितंबर, 1965 को युद्धविराम के लिए राजी हो गए।

ब्रितानी प्रधानमंत्री हैरल्ड विल्सन की उस घोषणा के बारे में, जिसमें उन्होंने उद्देश्य की ओर संकेत देकर हमें आक्रामक करार दिया था, भारत में प्रतिक्रिया हुई। अमेरिका पाकिस्तान के जख्मों को सहला रहा था और पाकिस्तानी सैनिकों के हाथों उनके पैटन टैंकों की असफलता का दुख मना रहा था। रूसी नेताओं ने सोचा कि पाकिस्तान को पश्चिम से दूर करने का और अपनी सद्भावनाओं से भारत औरपाकिस्तान में फिर से मेल कराने का यह एक अच्छा मौका है। कोसिगिन ने मुझे बुलाया और यह आधिकारिक प्रस्ताव सामने रखा कि दोनों एशियाई देशों को आमंत्रित किया जाए कि वे रूस की धरती पर आकर मिलें और आपस में बातचीत करें। आवश्यकता पड़ने पर हमारी मदद करने के लिए रूसी वहां मौजूद रहेंगे। यह प्रस्ताव सद्भावना के रूप में पेश किया गया था, मध्यस्थता करने के लिए नहीं।

कुछ चोटी के रूसी नेताओं ने मुझे व्यक्तिगत तौर पर आश्वस्त किया था कि इसे भारत के प्रति रूस की नीति मे परिवर्तन नही समझा जाना चाहिए बल्कि पाकिस्तान को पश्चिमी और चीनी प्रभाव से मुक्त करने की एक चेष्टा मात्र है। यदि भारत और पाकिस्तान एक होकर रूस की सहायता से अपनी समस्याओं को सुलझा सकें, तो उससे चीन की उग्रता कम करने में सहायता मिलेगी। रूस की भूमि पर यदि ऐसा कोई समझौता हुआ तो उसे रूस का पूरा समर्थन प्राप्त होगा। यह उनकी अपनी प्रतिष्ठा का भी सवाल था और वह सहायता देने में कोई कसर नहीं छोड़ते। यदि कोई समझौता न भी होता फिर भी इस प्रयास का मूल्य था। इससे पश्चिम की जकड़न से पाकिस्तान मुक्त हो सकता था और चीन के लिए भी यह एक चेतावनी हो सकती थी कि वह मुसीबतों से खेलने की हिम्मत न करे। लेकिन दोनों ओर से सद्भावना और ईमानदारी रहते हुए सम्मेलन के सफल न होने का कोई कारण न था। वे नहीं चाहते थे कि भारत कश्मीर के मामले में या अन्यत्र पाकिस्तान को कोई छूट दे। यह एक निर्णायक युद्ध था, यद्यपि पाकिस्तान से भारत की स्थिति बेहतर थी। भारत-पाक के बीच एक और युद्ध दोनों देशों के हित में नहीं होता, बल्कि दोनों की अर्थव्यवस्था को ध्वस्त कर देता। अपनी सद्भावनाएं पेश करके जोखिम मोल ले रहा था, लेकिन शांति के विस्तृत हितों और इस क्षेत्र में अपनी सुरक्षा के लिए यह जोखिम उठाने के काबिल था।

मैं इन तर्कों से प्रभावित हुआ। मुझे पता चला कि वे साथ-ही-साथ पाकिस्तान का मन टटोल रहे थे, लेकिन उसने तब तक कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की थी। मैंने पूछा कि क्या इसका अर्थ यह होगा कि वे भारत को दिए जाने वाले सैनिक साज-सामान में कटौती करेंगे या देना ही बंद कर देंगे या पाकिस्तान को बेहतर किस्म के या अधिक साज सामान देना आरंभ करेंगे। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि ऐसी कोई मंशा नहीं है, भारत अपेक्षाकृत बड़ा देश है, उसकी जरूरतें भी ज्यादा हैं, वह किसी सैनिक गठबंधन में शामिल नहीं है और चीनी हमले से अपनी जमीन की रक्षा के लिए उसे तैयार रहना होता है। मैंने पूछा कि क्या रूस, भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाले समझौते की जिम्मेदारी लेगा? उन्होंने कहा कि वे उसके गवाह रहेंगे, उसका समर्थन करेंगे और दोनों पक्षों के चाहने पर उसकी जिम्मेदारी भी लेंगे।

ये सारी बातें मुंह-जुबानी थी और दोनों पक्षों में से किसी ने भी कोई लिखा-पढ़ी नहीं की। दोनों एक दूसरे की टोह ले रहे थे। सारा कुछ राजनीति के उच्च स्तर पर हो

रहा था और मैं पोलितब्यूरो के विभिन्न सदस्यों से बार-बार पूछताछ करता रहा कि वे पूरी तरह इसका समर्थन कर रहे हैं या नहीं।

असल में इस मामले में सोवियत नेताओं की निजी दिलचस्पी थी। यह उनके लिए एक सफलता होगी और पश्चिम तथा चीन पर उनकी धाक जमेगी। रूस के दक्षिणी छोर पर एक मैत्रीपूर्ण और नर्म इलाका स्थापित हो जाएगा। इससे उनके एशियाई देश होने के दावे को बल मिलेगा और उन्हें एशियाई मामलों में बोलने का अधिकार मिल जाएगा। इससे उन्हें भारत और पाकिस्तान का पक्ष लेने की निरंतर समस्या से मुक्ति मिल जाएगी और दोनों को सीधे एक दूसरे से बातचीत करने में प्रोत्साहन मिलेगा। यदि उन्हें आपस में सीधे बातचीत करने में सफलता न मिली तो रूस उनकी सहायता करने के लिए तैयार रहेगा। इससे पाकिस्तान पर से पश्चिमी, विशेष कर अमेरिकी प्रभाव कम हो जाएगा और चीन भी अलग पड़ जाएगा।

ये सब कुछ सम्मेलन के सफल होने पर ही संभव हो सकता था। उसके असफल होने पर क्या होगा? असफलता के लिए भारत और पाकिस्तान को जिम्मेदार ठहराया जा सकता था। इससे यह साबित हो सकता था कि रूस दोनों का सच्चा मित्र है और दोनों को करीब लाने के लिए उसने अपनी इज्जत दांव पर लगा दी थी। दोनों का झुकाव पश्चिम की ओर होगा, इसकी संभावना कम थी—पाकिस्तान के लिए ऐसा संभव हो सकता था लेकिन भारत के लिए नहीं। कुल मिला कर पाकिस्तान तो पश्चिम के पक्ष में था ही, इसलिए इससे कोई नुकसान नहीं होने वाला था। जहां तक भारत का सवाल था वह तटस्थ रह सकता था या सबसे समान दूरी बनाए रख सकता था, लेकिन वह पश्चिम पर निर्भर नहीं कर सकता था क्योंकि विगत दिनों में उसने पाकिस्तान के माध्यम से भारत को धोखा दिया था और अब या अदूर भविष्य में उसका पक्ष लेने की कोई संभावना नहीं दीखती थी। यदि भारत चीन का विरोध करने के लिए पश्चिम की सहायता लेना चाहता तो उससे कोई क्षति नहीं होती। इससे रूस को कुछ चिंताओं से मुक्ति मिल सकती थी। शायद इसी तरह का कुछ सोच-विचार रूसियों के मन में रहा होगा।

इससे रूस के लिए कुछ जोखिम था जरूर, लेकिन यह जोखिम सोच-समझ कर ही उठाया गया था, क्योंकि सब कुछ उनके पक्ष में ही था। भारत के लिए इसमें क्या रखा था? भारत इसके लिए क्यों राजी होता? मैंने जब रूस के प्रस्ताव को भारतीय मंत्रिमंडल तक पहुंचाया तो इन्हीं प्रश्नों पर वहां सोच-विचार किया गया। पाकिस्तान के मंत्रिमंडल में भी इस पर बहस-मुबाहसा हो रहा था। रूसी दोनों पक्षों की प्रतिक्रियाओं का उत्सुकता से इंतजार कर रहे थे।

पहले भारत की प्रतिक्रिया कुछ नकारात्मक थी और पाकिस्तान की 'यदि' और 'लेकिन' लिए हुए थी। पहले चरण में रूसियों के पल्ले कुछ नहीं पड़ा। लेकिन उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। उनके द्रुतगामी राजनय को देख मुझे कुछ-कुछ आश्चर्य हुआ और मैंने उनसे कहा कि यदि पाकिस्तान शर्तें रखता है तो हम उन्हें स्वीकार नहीं करेंगे। यह नहीं हो सकता कि वे विजेता के रूप में और हम पराजित के रूप में उभरें। रूसियों ने कहा कि भारत आकार में बड़ा है, उसके भयभीत होने के कम कारण हैं और विजय आदि में वह 'उदार' और 'दानी' हो सकता है। मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया कि ऐसा नहीं चलेगा। यदि वे पाकिस्तान से बिना शर्त के स्वीकृति पत्र प्राप्त कर सकते हैं तो मैं भी अपनी सरकार से ऐसा ही करने की सिफारिश करूंगा।

मैंने तब तक रूसी पक्ष के सामने अपनी प्रतिक्रिया पेश नहीं की थी क्योंकि मैं पाकिस्तान की प्रतिक्रिया जानना चाहता था। मैंने अपनी सरकार से आग्रह किया

इस मामले पर पुनर्विचार करे और उसके पक्ष और विपक्ष में मैंने अपने तर्क सामने रखे। कुल मिलाकर मेरा विश्वास था कि यह जोखिम मोल लिए जाने के काबिल है। यदि हम अपनी स्वीकृति दे देते हैं और पाकिस्तान नहीं देता तो वे गलती में पड़ सकते थे या इसका विपरीत भी हो सकता था। यदि हम बिना शर्तों के उसे स्वीकार करते तो उनकी सशर्त स्वीकृति भी उनके लिए एक भूल साबित हो सकती थी। यदि हम इस निमंत्रण को पूरी तरह अस्वीकार कर देते और पाकिस्तान शर्तों के साथ उसे स्वीकार कर लेता तो वह भी हमारे लिए क्षतिकर होता, और यदि दोनों शर्त रखते तो हम पाकिस्तान के बराबर ही हो जाते, जिससे हमारी शक्ति नहीं बल्कि कमजोरी ही उजागर होती। दोनों ही यदि रूसी प्रस्ताव को ठुकरा देते तो उससे चीन और पश्चिम को मौके का फायदा उठाने का अवसर मिल जाता, जैसा कि उसने पहले भी किया है।

इस सबके अलावा एक अन्य महत्वपूर्ण सोच यह थी कि इसके साथ रूसी प्रतिष्ठा जुड़ी हुई थी। विगत दिनों में हमने पश्चिमी देशों के ऐसे ही प्रस्तावों को अस्वीकृत नहीं किया था। उदाहरण के लिए कच्छ के बारे में मध्यस्थता करने के ब्रितानी प्रस्ताव को हमने स्वीकार किया था, यद्यपि अंततः वह हमारे लिए हानिकारक ही साबित हुआ। इससे पहले 1949 में हम, ब्रितानी-अमेरिका दलीलों पर ही कश्मीर में युद्ध-विराम समझौते के लिए राजी हुए थे। इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ था कि दो गैर-साम्यवादी एशियाई देशों को रूसी एशियाई जमीन पर मिलने का निमंत्रण देकर रूस ने अपनी सद्भावना व्यक्त की थी। इससे अमेरिका और यूरोप पर से ध्यान हटकर एशिया पर टिक सकता थी। यूरोप और अमेरिका में एशियाई समस्याओं को सुलझाने की जरूरत नहीं रह जाती। कुछ समय बाद भारत और पाकिस्तान इस बात के लिए प्रेरित हो सकते थे कि वे किसी तीसरे पक्ष की मध्यस्थता के बिना ही सीधे, एक दूसरे से बातचीत करें।

लेकिन किसी भी हालत में, अपने ही हितों को देखते हुए रूस का यह लक्ष्य नहीं रहा कि वह भारत के खिलाफ पाकिस्तान की तरफदारी करे। ताशकंद में वह तटस्थ रहने की कोशिश करते और पाकिस्तान के नासमझ होने पर वह उस पर दबाव भी डाल सकता था। गुटनिरपेक्ष भारत से मैत्री बनाए रखना रूस के ही हित में था। वह पश्चिम और चीन की ओर झुकाव वाले पाकिस्तान की संदेहास्पद दोस्ती से फायदा उठाने के लिए यह जोखिम उठाना नहीं चाहता था। वे पाकिस्तान को पश्चिमी और चीनी प्रभाव से मुक्त करने के बारे में आशावान थे। यही उनकी आशा की किरण थी। सम्मेलन होने पर एशिया में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती। यदि वह सफल होता तो उपमहाद्वीप में शांति कायम होती और वह चीन-रूस और रूस-अमेरिकी प्रतिस्पर्द्धा का अखाड़ा न बनता। भारत को इससे कुछ खोना नहीं था, शायद कुछ लाभ ही होता। विशेषकर चीनी धमकी और पश्चिम का पाकिस्तान की ओर रुझान देखते हुए भारत के लिए रूस की मैत्री बहुत जरूरी थी।

और कुछ अन्य कारण रहे होंगे जिनसे भारत सरकार का मन इस ओर झुका और अंततः उन्होंने ताशकंद सम्मेलन के लिए अपनी सैद्धांतिक सहमति व्यक्त कर दी। पाकिस्तान को पता चल गया कि वह आगे और टालमटोल नहीं कर सकता तथा उसने अंततः बिना शर्तों के अपनी स्वीकृति दे दी। पश्चिम को कुछ आश्चर्य हुआ लेकिन उसने अपने मित्र पाकिस्तान और भारत के रूस की जमीन पर मिलने का विरोध नहीं किया। उन्होंने शायद सोचा था कि सम्मेलन असफल हो जाएगा और भारत और रूस के बीच संबंध तनावपूर्ण हो जाएंगे तथा भारत और पाकिस्तान उनकी तरफ झुकते जाएंगे।

ऐसी पृष्ठभूमि में 1966 की 4 से 10 जनवरी तक ताशकंद सम्मेलन हुआ।

14
ताशकंद सम्मेलन

मेरे प्रमुख सहकर्मी और मैं कुछ दिन पहले ही ताशकंद के इनटूरिस्ट होटल में जाकर ठहर गए। पाकिस्तान के दूतावास के लोग और रूसी अधिकारी भी पास ही आकर ठहर गए। रिधि जयपाल, एस० के० मलिक, जे० एम० तेजा और एन० पी० जैन हमारे दूतावास के दल के सदस्य थे। उन सबने रूसी अधिकारी वर्ग और प्रेस से अपना-अपना संबंध बना रखा था और वे अपने-अपने परिचितों की देखभाल करते थे। दिल्ली से आया हुआ हमारा प्रतिनिधिमंडल काफी जोरदार था। प्रधानमंत्री और उनके निजी कर्मियों के अलावा रक्षा-मंत्री वाई० बी० चव्हाण, विदेशमंत्री स्वर्ण सिंह, विदेश सचिव श्री एस० झा, प्रधानमंत्री के मुख्य सचिव एल० के० झा और जनरल कुमार मंगलम् इसमें शामिल थे।

पाकिस्तानी प्रतिनिधि मंडल में राष्ट्रपति अय्यूब खां, विदेशमंत्री भुट्टो, सूचना और प्रसारण मंत्री तथा उनके विभागीय सचिव और मास्को दूतावास के सदस्य शामिल थे। रूसी प्रतिनिधि मंडल के अध्यक्ष कोसिगिन थे और उसमें विदेशमंत्री ग्रोमिको, रक्षामंत्री मालिनोवस्की, मार्शल साकालोव तथा अन्य भी शामिल थे। रूसी, पश्चिमी, भारतीय और पाकिस्तानी प्रेस का वहां पूरा प्रतिनिधित्व था और अन्य एशियाई और पूर्व यूरोपीय प्रेस के कुछ लोग भी मौजूद थे। ताशकंद का हर होटल खचाखच भरा हुआ था।

भारतीय और पाकिस्तानी प्रतिनिधिमंडल एक अहाते के दो अलग-अलग बंगलों में ठहरे हुए थे। बीचोंबीच एक 'तटस्थ' बंगला था, जहां आवश्यकता पड़ने पर दोनों प्रतिनिधि मंडलों के अध्यक्ष एक दूसरे से या रूसी प्रतिनिधि मंडल से मुलाकात कर सकते थे।

मौसम बहुत अच्छा था—ठंडा, उज्ज्वल और सुहावना। मास्को के—20 डिग्री तापमान के विपरीत ताशकंद का तापमान 20 डिग्री+था। और वहां का वातावरण भी एशियाई था। रूसी, इससे बेहतर किसी स्थान का चयन नहीं कर सकते थे। रूसी प्रेस ने शुरू से ही स्पष्ट और आशावादी रवैया अपनाया था, जबकि पश्चिमी प्रेस ने केवल कठिनाइयों की ओर ही संकेत किया और सम्मेलन की असफलता के बारे में भविष्यवाणी की। एक सप्ताह तक काफी भगदड़ मची रही। सबने बहुत मेहनत की लेकिन कोसिगिन और ग्रोमिको ने सबसे ज्यादा मेहनत की। हर सुबह और रात को सबसे बाद में दोनों प्रतिनिधि मंडलों के मन जानने की कोशिश करते थे। वे बड़ी सावधानी, नर्मी और ईमानदारी से एक के विचार अन्य तक पहुंचाते थे और दोनों के दृष्टिकोण को करीब-से-करीब लाने की कोशिश करते थे। उनमें धैर्य था, वे कोशिश में लगे रहते थे और शालीन थे और कभी ऐसा नहीं लगने देते थे कि वे किसी भी प्रतिनिधि मंडल पर दबाव डाल रहे हैं। मैंने केवल एक बार अपने बंगले से ग्रोमिको को दूरभाष पर भुट्टो के साथ सख्ती से पेश आते हुए सुना। ऐसा तब हुआ जब भुट्टो ने इस बात की जी तोड़ कोशिश की कि अय्यूब अपने हाथ से लिखे हुए उस वायदे से मुकर जायें जिसमें उन्होंने बल प्रयोग का सहारा न लेने की बात कही थी। मैंने ग्रोमिको को दूरभाष पर भुट्टो से यह कहते हुए सुना कि "मुझे खेद है, लेकिन आप सच नहीं बोल रहे हैं। आप अपने राष्ट्रपति के शब्दों

झुठला रहे हैं।" भुट्टो को बात माननी पड़ी, लेकिन वह नाखुश रहे और अन्य कठिनाइयां पैदा करने की कोशिश करते रहे।

अधिकांश बातचीत रूसी प्रतिनिधिमंडल के सौजन्य से, पर्दे के पीछे ही होती रही। जब दोनों प्रतिनिधिमंडल किसी कठिन मुद्दे को लेकर अड़ जाते थे तो वे सुझाव देते कि प्रधानमंत्री शास्त्री और राष्ट्रपति अय्यूब आपस में बैठकर फैसला कर लें। 'तटस्थ' बंगले में ही दोनों के बीच पहली बैठक हुई, जिससे बल प्रयोग की शरण न लेने वाली पहली बाधा खत्म हुई। पाकिस्तानी "युद्ध नहीं समझौते" के लिए तैयार नहीं हुए, लेकिन बल प्रयोग न करने को राजी हो गये। यह 7 जनवरी, 1966 को बातचीत के चौथे दिन हुआ। 8 जनवरी को जम्मू और कश्मीर में नयी युद्धबंदी रेखा से पुरानी युद्धबंदी रेखा तक पीछे हटने की बात को लेकर घोर संकट उत्पन्न हुआ। पाकिस्तानी अपना जीता हुआ क्षेत्र छंब अपने पास रखना चाहते थे और साथ ही हाजी पीर क्षेत्र वापस चाहते थे, जिस पर हमने कब्जा कर लिया था। ऐसा लग रहा था कि इसी मुद्दे को लेकर सम्मेलन असफल हो जायेगा। कोसिगिन ने पहले अय्यूब खां को समझाने की कोशिश की। जब वह इसमें असफल हो गये तो शास्त्री से अनुरोध करने लगे कि हम हाजी पीर पर अपना दावा छोड़ दें। शास्त्री अडिग रहे और उनसे पूछा कि "इस बात को मनवाने के लिए आपको भारत के लिए किसी अन्य प्रधानमंत्री की तलाश करनी होगी। मैं ऐसा नहीं करूंगा। मैं ऐसा कर नहीं सकता।" कोसिगिन ने अपनी बात को बदलते हुए कहा कि उनके दिमाग में ऐसा कुछ नहीं था; वह तो केवल हम तक वह बात पहुंचा रहे थे जो अय्यूब ने उनसे कही थी। वह इस बात की पूरी कोशिश करेंगे कि अय्यूब हाजी पीर के बदले छंब पर अपना अधिकार छोड़ने के लिए तैयार हो जायें। शास्त्री ने कहा कि वह केवल शांति बनाये रखने के लिए इस बात पर राजी हो सकते हैं, बशर्ते अय्यूब बल न प्रयोग करने के अपने पक्के वायदे की खिलाफत न करें।

वह 8 जनवरी की दोपहर थी। उस शाम को ताशकंद होटल में एक संवाददाता सम्मेलन का आयोजन किया गया था। लगभग 300 पत्रकार वहां मौजूद थे। सी० एस० झा और मैं उनके सामने विवरण पेश करते थे। एक पश्चिमी संवाददाता ने पूछा, "क्या यह सच है कि बातचीत असफलता के कगार पर है?" मैंने उत्तर दिया, "आप पहाड़ की चोटी के जितने करीब पहुंचते जाते हैं चढ़ाई उतनी ही कठिन होती जाती है।" यह बातचीत की स्थिति का सही चित्रण था। पाकिस्तान या भारत दोनों में से कोई भी बातचीत तोड़ नहीं सकते थे। भारत पर दबाव डालने के लिए पाकिस्तान जानबूझ कर कठिनाइयां पैदा कर रहा था। लेकिन शास्त्री बहुत कड़े वार्ताकार थे।

वह हाजी पीर के मसले को लेकर तब तक हथियार न डालने पर दृढ़ता से कायम रहे तब तक पाकिस्तान छंब पर अपना अधिकार छोड़ने पर राजी न हुआ। उन्होंने यह फैसला विदेश और रक्षामंत्री तथा जनरल कुमार मंगलम् से सलाह मशविरा करने के बाद लिया। उन्होंने न केवल प्रतिनिधिमंडल के हम सब सदस्यों से विचार-विमर्श किया बल्कि इस बारे में भारतीय प्रेस के भी मत प्राप्त किये।

उन्होंने अगली सुबह भारतीय प्रेस को आगाह किया कि यदि छंब प्राप्त करके हाजी पीर दे दिया जाये तो इस बारे में उनकी प्रतिक्रिया क्या होगी। एक को छोड़कर सभी ने यह कहा कि यदि पाकिस्तान बल प्रयोग न करने का आश्वासन देता है तो यह अदला-बदली समझौते का अच्छा मुद्दा हो सकता है।

एक लोकतांत्रिक नेता इसी तरह अपनी बातचीत चलाता रहा। उन्होंने अपने निर्णय किये थे, लेकिन अपने दल को अपने साथ रखना चाहते थे। ताकि उन्हें अपने पूर्ण

योगदान का अहसास हो। हमें कभी ऐसा नहीं लगा कि हम पर हुक्म चलाया जा रहा है या अन्य किसी के विचार थोपे जा रहे हैं। हम उन्हें अपने में से ही एक समझते थे और हमारे प्रेम, आदर और सम्मान के पात्र थे।

उस दिन दोपहर को अय्यूब खां शास्त्री के बंगले पर गये। उनके साथ खाना खाया और भुट्टो की बात अमान्य करके शास्त्री के सुझावों से सहमति व्यक्त की। उस दिन तीनों खेमों में खुशी मनायी गयी, लेकिन भुट्टो मायूस थे। बहरहाल, जब तक अन्य सारे मुद्दों पर खुलकर बातचीत न हो उसको अंतिम रूप दिये जाने की सम्भावना न थी। आखिरी घड़ी में कोई-न-कोई अड़चन डालने में भुट्टो काफी माहिर थे। 10 जनवरी की सुबह ताशकंद घोषणा के अंतिम प्रारूप की अदलाबदली हुई और दोपहर को हस्ताक्षर की रस्म अदा की गयी, जिससे पश्चिमी प्रेस को काफी हैरत हुई।

हस्ताक्षर की रस्म अदायगी काफी शानदार रही। कोसिगिन ने सारे दृश्य पर छाये रहने की कोशिश नहीं की और न ही समझौते का श्रेय लेना चाहा। उन्होंने अय्यूब खां और शास्त्री की मुख्य भूमिकाएं अदा करने दी और सारा श्रेय उन्हीं को दिया। कोसिगिन दस्तावेज पर हस्ताक्षर किये जाने के अवसर पर केवल एक 'साक्षी' की हैसियत में उपस्थित रहे। अय्यूब और शास्त्री ने प्रेमपूर्वक एक दूसरे से हाथ मिलाया, जिसे देख कर ऐसा लगा कि भारत-पाक संबंधों का एक नया अध्याय शुरू होने वाला है। अय्यूब खां ने सुझाव दिया कि लौटते हुए शास्त्री पाकिस्तान होते हुए लौटें। शास्त्री ने बड़ी भद्रता के साथ इसे अस्वीकार किया क्योंकि उन्हें अगली सुबह काबुल में काम था।

उस शाम को रूसी सरकार ने एक स्वागत समारोह और प्रीतिभोज का आयोजन किया था। उससे घंटा भर पहले कोसिगिन के साथ शास्त्री की एक जरूरी बैठक हुई थी। मैं भी वहां उपस्थित था। उन्होंने चीन, पाकिस्तान, भारत और रूस आदि के बारे में विचारों का आदान प्रदान किया। कोसिगिन ने शास्त्री से पूछा कि हम विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग और सहायता के रूप में क्या कुछ चाहते हैं। जहां तक कुछ मांगने का सवाल था शास्त्री बहुत गर्वपूर्ण और शालीन थे। उन्होंने केवल इतना कहा, "हमारे राजदूत आपसे समय-समय पर मिलते रहेंगे। हम आपकी मित्रता पर निर्भर करते हैं और इस सम्मेलन को सफल बनाने में आपके प्रयासों की सराहना करते हैं। यदि आप न होते तो सब कुछ बहुत कठिन होता।" यह सच बात थी और शास्त्री ने सच्चे दिल से कहा था।

बदले में कोसिगिन ने शास्त्री को "उनकी बुद्धिमत्ता, राजनीतिमत्ता और मेल-मिलाप की भावना" के लिए बधाई और धन्यवाद दिया। उन्होंने आशा व्यक्त की कि भारत और पाकिस्तान अब एक दूसरे से सीधे बातचीत करके अपनी समस्याओं को आपस में सुलझाना शुरू करेंगे।

यह एक चिरस्मरणीय घड़ी थी। दो एशियाई पड़ोसी (भारत और पाकिस्तान), एक ही सी जातीय, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाले दो जन, जिन्हें विदेशी साम्राज्यवादी शक्ति ने उपमहाद्वीप छोड़ने से पहले विभाजित कर दिया था, साम्राज्यवाद की जकड़न से स्वयं को मुक्त करने की कोशिश में जुटे हुए थे। उनकी समस्याएं एक जैसी थीं, वे एक ही जैसी भाषाएं (पंजाबी, बंगला, उर्दू) बोलते थे, एक ही सा खाना खाते थे, एक ही सी उनकी वेषभूषा थी, एक ही जैसा संगीत सुनते थे, लेकिन विदेशी शक्तियों की चालबाजियों में फंसकर एक दूसरे के दुश्मन बन गये थे। दो हिंसक लड़ाइयों ने उनकी अर्थव्यवस्थाओं को तहस-नहस कर दिया था। शस्त्रों की होड़ से उनका धन बर्बाद हो रहा था। ऐसा कितने दिनों तक चल सकता था? दोनों के लिए यही मौका था कि वे नयी

शुरुआत आरंभ करते। ताशकंद इस दिशा में पहला कदम था, शुरुआत थी। क्या ताशकंद की भावना जीवित रहेगी या उसका भी वही हश्र होगा जो चीन के साथ हमारे पंचशील समझौते का हुआ था ?

मैं स्वागत समारोह से शास्त्री के साथ लगभग रात के दस बजे लौटा, उन्हें उनके बंगले पर छोड़ा और फिर एल० के० झा के साथ कुछ संवाददाताओं से मिलने गया। हम मध्यरात्रि के करीब लौटकर सो गये। रात को कोई डेढ़ बजे के करीब एल० के० ने मुझसे टेलीफोन पर कहा कि उन्हें बंगले से अभी-अभी खबर मिली है कि शास्त्री को भयानक दिल का दौरा पड़ा है। मैं तुरंत बंगले पर पहुंचा और शास्त्री की देह को उनके व्यक्तिगत चिकित्सक डाक्टर चुग की गोद में पाया, जो रो रहे थे। मैंने ग्रोमिको को टेलीफोन पर यह दुखद समाचार दिया। इसी बीच रूसी चिकित्सकों की एक टोली वहां आ पहुंची और उनके पीछे-पीछे कोसिगिन, ग्रोमिको, मालिनोवस्की आदि भी पहुंच गये। आंखों में आंसू भरे हमारे प्रतिनिधिमंडल के सदस्य भी वहां मौजूद थे। उसके बाद अय्यूब खां और उनका प्रतिनिधिमंडल भी आ गया। रूसी चिकित्सकों की टोली और डा० चुग ने शास्त्री के शरीर की जांच की और सर्वसहमति से रपट लिखी कि उनकी मृत्यु जबर्दस्त दिल का दौरा पड़ने से हुई। विमान द्वारा दिल्ली पहुंचने तक उनके शरीर को ठीक रखने के लिए उन्हें दवाइयों के इंजेक्शन दिये गये।

जननेताओं के लिए मैंने केवल तीन बार आंसू बहाये हैं—पहली बार गांधी जी की हत्या पर और दूसरी बार नेहरू की मृत्यु पर और तीसरी बार शास्त्री के लिए। तीनों एक दूसरे से भिन्न थे। लेकिन तीनों ही अपनी-अपनी जगह महान थे। गांधी अपने जैसे एक ही थे। नेहरू आधुनिक भारत के निर्माता थे। यदि शास्त्री जीवित रहते तो वह नेहरू के बाद के भारत के निर्माता होते। भद्र, शालीन, मृदुभाषी और शर्मीले, लेकिन सिद्धांतों और राष्ट्रीय हित के मामलों में चट्टान की तरह दृढ़, वह शांति के हिमायती थे। समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण वास्तविक और व्यावहारिक था। जब वह किसी बात से प्रसन्न होते थे तो उनकी मुस्कान बहुत मधुर होती थी। वह कभी ऊंचा नहीं बोलते थे और गुस्सा नहीं दिखाते थे। उनका असहमति या अस्वीकृति व्यक्त करने का तरीका बहुत नम्र और अधिक प्रभावशाली था। या तो वह बिल्कुल चुप्पी लगा जाते थे या उनके माथे पर शिकन पड़ जाते थे, जो कि शब्दों से भी अधिक उनके मन को अभिव्यक्त करते थे।

शास्त्री, गांधी और नेहरू दोनों के विचारों में आस्था रखते थे और नये भारत के निर्माण में दोनों का समन्वय करना चाहते थे। नेहरू के बाद के भारत में शायद वही एकमात्र ऐसे नेता थे जो यह काम कर सकते थे। उनका आकस्मिक और असमय निधन भारत के लिए एक ऐसी क्षति थी जो कभी पूरी नहीं हो सकती थी। उन्होंने शांति की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी। यदि वह न होते तो ताशकंद में सफलता नहीं मिलती। उस समय शांति की रक्षा और युद्ध रोकने की खातिर भारतीय प्रधानमंत्री को जोखिम मोल लेने के लिए साहस और दृढ़ विश्वास जुटाना पड़ा। उनकी जगह यदि अन्य कोई होता तो शायद वह घबरा जाता और समझौते पर हस्ताक्षर करने से इनकार भी कर देता। लेकिन शास्त्री साहसी थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि 1965 के भारत-पाक संघर्ष के बाद जो गतिरोध आ गया था उसे देखते हुए, शांति बनाये रखने और युद्ध रोकने का सबसे अच्छा तरीका ताशकंद समझौता ही था। भारत के लिए यह दुर्भाग्य की बात थी कि वह ताशकंद के बाद इस 'कद में छोटे, लेकिन महान् पुरुष' के नेतृत्व से वंचित रह गया।

ताशकंद का दृश्य दुख से भरा हुआ था। रूसियों ने भारत और उसके महान नेता के प्रति अपने [illegible]
नेताओं ने उन्हें [illegible]
और जवान, पु[illegible]
कतारों में बगल में हवाई अड्डे के मार्ग के दोनों ओर खड़े थे। कुछ ही घंटों में ताशकंद की आधी से भी अधिक जनसंख्या इस महान भारतीय को अपनी अंतिम श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए वहां एकत्रित हो गयी।

इतिहास में शास्त्री का नाम शांति के दूत के रूप में लिखा जायेगा। भारत और पाकिस्तान के बीच संबंधों को सुधारने के लिए, दोनों के बीच युद्ध रोकने के लिए, संघर्ष और झगड़े की बजाय समझौते और मेल-मिलाप के युग की शुरुआत करने के लिए उन्होंने अपने जीवन की बलि चढ़ा दी। लेकिन, शांति और मैत्री तो दोतरफा होती है। क्या ताशकंद और शिमला समझौतों के बाद भारत और पाकिस्तान अच्छे पड़ोसियों की तरह रहना सीखेंगे? दोनों के लिए अपना सर्वनाश करने के सिवाय और कोई चारा नहीं है। ताशकंद पहला कदम था। शिमला दूसरा था। हमें आशा करनी चाहिए कि तीसरा कदम दोनों के वास्तविक, स्थायी और लंबे अरसे तक चलने वाली शांति और सहयोग की दिशा में उठाया जायेगा।

हमें इसके लिए गांधी, नेहरू और शास्त्री तथा भारत और पाकिस्तान के उन करोड़ों लोगों का आभार मानना चाहिए जिन्हें जीवन काल में ही अपनी आकांक्षाओं और सामान्य हितों की पूर्ति के लक्ष्य तक पहुंचने के लिए काम करना चाहिए। ऐसा न हो कि आने वाली पीढ़ियों को हमें कोसने का मौका मिले कि हमने इस दिशा में कोई प्रयास ही नहीं किया। गांधी और नेहरू की तरह शास्त्री भी सदा हमारे लिए बलिदान और शांति की भावना, ताशकंद की भावना और पड़ोसियों के साथ शांतिपूर्ण और मैत्रीपूर्ण तरीके से रहने की घोर आवश्यकता के प्रतीक बने रहेंगे।

15
इंदिरा गांधी का आविर्भाव और उत्थान

11 जनवरी, 1966 की सुवह हम शास्त्री के नश्वर शरीर को लेकर ताशकंद से रवाना हुए और तीन घंटे वाद पालम पहुंच गए। हवाई अड्डे पर गंभीर, दुखी और शोकग्रस्त लोगों का वड़ा जमघट था। जिन्होंने ताशकंद समझौते की खवर पाकर विरोध का स्वर उठाया था, उन्होंने इस दुख की घड़ी में सारे मतभेद भुला दिए। अगले दिन मैंने रामलीला मैदान में आयोजित शोकसभा में जनसंघ के नेता अटलविहारी वाजपेयी को सुना। वहुत ही सुन्दर हिन्दी में वह वोले, "भारत माता की गोद खाली है, पर भारत माता की कोख खाली नहीं।" सीधे सादे ढंग से और उसी समय शास्त्री और भारत माता को थोड़े शब्दों में अर्पित यह श्रद्धांजलि भारतवासियों के दुख और भविष्य के लिए उनकी आशा और भरोसे की प्रतीक थी।

तत्काल जो कुछ घटा वह इतना उत्साहवर्धक नहीं था। सत्ता के लिए संघर्ष की शुरुआत हो गई थी, तरह-तरह के जोड़-घटा के हिसाव लगाए जा रहे थे। क्या शास्त्री के उत्तराधिकारी के चयन में उम्र और वरिष्ठता को प्राथमिकता दी जाए या गुप्त मतदान का लोकतांत्रिक तरीका अपनाया जाए? लोकतंत्रीय प्रणाली की जीत हुई। इंदिरा गांधी को कांग्रेस संसदीय दल का नेता चुना गया जिन्होंने 150 मतों से अपने प्रतिद्वंद्वी मोरारजी देसाई को हराया था। मोरारजी ने अपनी पराजय अच्छे मन से ग्रहण की और इंदिरा गांधी ने उन्हें उपप्रधानमंत्री का पद देकर उनके प्रति अपने मैत्रीपूर्ण रवैये का परिचय दिया। ऐसा लगा कि सत्ताधारी दल में फिर भी एकता वनी रहेगी और वह महान और दिवंगत नेताओं के नक्शेकदम पर चलेंगे।

वहरहाल, यह इतना सहज नहीं था। कांग्रेस पार्टी में लंवे अर्से तक एका वना रहा। वास्तव में वह एक राजनैतिक दल नहीं था, वल्कि कई सिद्धांतों का—दक्षिणपंथी, मध्यपंथी, और वामपंथी—समूह था। उसके अंदर कई दल और गुट थे, जो यही आशा करते थे कि वे अपने कम उम्र के प्रधानमंत्री का अपनी-अपनी सोच के अनुसार, पथप्रदर्शन करेंगे। इंदिरा गांधी ने दल के वड़े और वरिष्ठ नेताओं के मुकावले अपने को अधिक तेज सावित किया। वह 1959 में दल की अध्यक्ष रह चुकी थीं, अपने पिता के साथ उन्होंने लंवी-लंवी यात्राएं की थीं, हर प्रदेश की प्रमुख हस्तियों के साथ उनका परिचय था। नेहरू की वेटी होने के नाते उनमें ऐसा करिश्मा था जो अन्य किसी नेता में नहीं था। वह अपने वल पर और गुणों के कारण अपने को प्रतिष्ठित करना चाहती थीं, लेकिन प्रथम दो वर्षों में जैसे उनमें आत्मविश्वास का अभाव था। उन्होंने अपने सहकर्मियों और सलाहकारों के परामर्श पर भारतीय रुपये का एक वार 57 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया। आर्थिक दृष्टि से शायद कुछ हद तक, ऐसा करना युक्तिसंगत था, लेकिन राजनैतिक दृष्टि से यह एक वड़ी भूल थी, जवकि 1967 के चुनाव आसन्न थे।

जव इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री की हैसियत से पहली वार अमेरिका का दौरा करके लौट रही थी, मैं तव भी मास्को में ही था। मैंने हवाई अड्डे पर उनसे भेंट की और प्रस्तावित कदम के वारे में अपनी घोर आशंकाएं व्यक्त करने का साहस किया। मुझे इस

दलों तथा हरिजनों और मुसलमानों जैसे अल्पमतों का समर्थन प्राप्त करना पड़ा।

श्रीमती गांधी संकटपूर्ण स्थिति में थीं—लेकिन कभी-कभी वह संकट के दौरान ही अपना सबसे अच्छा परिचय देती थीं। सामान्य दिनों में वह झिझकती थीं, अनिर्णित डावांडोल और गड्डमड्ड स्थिति में रहती थीं। संकट के दौरान वह अचानक ही साहस बटोर लेतीं और ठीक समय पर और ठीक जगह पर वार करतीं। उनकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उन्होंने समय पर कुछ करके और सुचिंतित योजनाओं द्वारा संकट-पूर्ण स्थितियों को पैदा होने से नहीं रोका। कभी-कभी ऐसा लगता था कि वह संकट पैदा करने के लिए बेताब हैं, जिससे वह अपने प्रतिद्वंद्वियों की शक्ति या कमजोरियों का पता लगा सकें। उन्होंने अपने रास्ते खुले रखे थे, यदि उन्हें अपने प्रतिद्वंद्वी शक्तिशाली मालूम पड़ते थे तो वह उनसे समझौता करने को तैयार हो जाती थीं और अगर वे उन्हें कमजोर दिखायी पड़ते थे तो उन्हें नष्ट करके भी उन्हें अनुताप नहीं होता था। जब उन्हें चुनौती दी जाती तो उनका दृढ़ संकल्प और निश्चय तथा उनका साहस और विश्वास सामने आ जाते, जो कि अन्यथा सामान्य स्थितियों में सुप्त पड़े रहते।

श्रीमती गांधी ने ऐसी प्रणालियां अपनाने की चेष्टा की जिनका असर मानस पर पड़ सके और जिनसे भीतर और बाहर, उनका दल और सरकार को विकासशील तथा उनके प्रतिद्वंद्वियों को गलत साबित किया जा सके। बैंकों का राष्ट्रीयकरण, राजाओं के विशेषाधिकारों का अंत और अन्य ऐसे ही कुछ कदम उठाए गए जो कांग्रेस पार्टी के 'नए चेहरे' के प्रतीक थे। उन्होंने 'सिंडिकेट' और उन अन्य रूढ़िवादी दलों की खामियों को उघाड़ कर रख दिया था, जिन्होंने उनका विरोध किया था तथा देश के सारे समाजवादी और प्रगतिशील तत्वों को उन्होंने सशक्त बनाया। ये प्रणालियां बहुत अतिवादी तो नहीं थीं, लेकिन उनसे सरकार की नीतियों और चिंतनधारा को एक नई दिशा मिली।

बहरहाल, 'नये चेहरे' वाली कांग्रेस पार्टी भी कोई बड़ा परिवर्तन लाने की स्थिति में नहीं थी। संविधान में किसी प्रकार का परिवर्तन लाने के लिए वह संसद में दो तिहाई बहुमत नहीं जुटा पाई। कृषि और अस्पृश्यता निरोधक कानून पारित हो चुके थे, लेकिन संगठनात्मक शक्ति और राजनैतिक संकल्प के अभाव के कारण वह इन सुधारों को कार्य-रूप देने में भी अक्षम थी। वह ग्रामीण क्षेत्रों में संपन्न किसानों और शहरी क्षेत्रों में बड़े व्यापारियों तथा उद्योगपतियों की सहायता पर निर्भर कर रही थी। हर क्षेत्र में अफसर-शाही और भ्रष्टाचार विकास में बाधक थे। जातिवाद, क्षेत्रीयता, गुटों में भी गुटबंदी और दलों का टुकड़ों में विभक्त होना—ये सब हर स्तर पर विशेषकर उच्च और मध्य स्तरों पर, दल के मर्मस्थानों को नष्ट किये जा रहे थे। निचले तबके से संपर्क स्थापित करने की बात उपेक्षित रही। यह दल जरूरत से ज्यादा आत्मसंतुष्ट और निश्चिंत, दंभी और बीच से फूलता जा रहा था। श्रीमती गांधी के लिए अकेले सारे देश की जिम्मेदारी अपने कंधों पर उठाना संभव नहीं था, लेकिन उनके सहकर्मियों और दल के सदस्यों ने सब कुछ उन्हीं पर छोड़ दिया था। उन्हें 'मंत्रिमंडल का एकमात्र पुरुष' कहा जाता था।

श्रीमती गांधी स्वयं व्यावहारिक थीं, उनका झुकाव मध्य से हटकर कुछ-कुछ वाम की ओर था, वह चतुर अलग-अलग किसी पर विश्वास न करने वाली थीं। वह अपनी बातें अपने तक ही सीमित रखती थीं और सभी राजनीतिज्ञों की तरह किसी पर पूरी तरह विश्वास नहीं करती थीं। वह निर्भय होकर साहसिक निर्णय लेने की क्षमता रखती थीं, लेकिन उनके पास उनको कार्यरूप देकर उनका अनुसरण करने के लिए साधनों की कमी थी। उनमें अपने पिता की दूरदृष्टि तथा समर्पित और ईमानदार व्यक्तियों को अधिक समय तक साथ रखने के लिए आवश्यक हार्दिकता का अभाव था। शायद वह परि-

वर्णित स्थितियों के कारण मजबूर थी। एकमात्र संतान और अकेले होने के कारण अपने पिता की गिरफ्तारी और माता की अस्वस्थता के दौरान तथा बाद में उनके न रहने पर उन्हें अपने अंदरूनी साधनों और गुणों पर ही निर्भर करना पड़ता था। जब तक उनके पिता जीवित थे वह उनके करीब ही रही, लेकिन उनके न रहने के बाद वह एकदम अकेली हो गयी। एक बार उन्होंने सोचा भी कि राजनीति से संन्यास लेकर वह सामाजिक और शैक्षणिक कामों में जुट जायेंगी। लेकिन राजनीति तो उनके खून में थी और परिस्थितियों ने उन्हें जबर्दस्ती राजनैतिक अखाड़े में लाकर खड़ा कर दिया।

इंदिरा गांधी ने अपने पिता को निकट से देखा था। उन्होंने देखा था कि उन्हें अपने कुछ सहकर्मियों और प्रशासन के हाथों किस तरह धोखा खाना पड़ा था, कैसे उनके प्रगतिशील और दूरदर्शी नीतियों को तहस-नहस कर दिया गया था और उन्हें कार्यान्वित न किया जा सका। लेकिन नेहरू तो आदर्शवादी और दार्शनिक थे। वह हर चीज को विस्तृत परिप्रेक्ष्य और इतिहास तथा ऐतिहासिक कारणों की पृष्ठभूमि में देखा करते थे। इंदिरा गांधी स्वप्न नहीं देखती थी, बल्कि व्यावहारिक, परिणामवादी और असलियत को पहचानने वाली थी। वह हमेशा से उदासीन, अमन-चमन और अन्य पर भरोसा न रखने वाली थी। उनमें साहस, संकल्प और दृढ़ इच्छा-शक्ति थी। कुछ समय के लिए उनके गुणों से उन्हें स्वयं को और देश को भी लाभ हुआ। हमें दृढ़ और संकल्प रखने वाले नेता की आवश्यकता थी, जो विदेशी दबावों और खिंचावों का मुकाबला कर सके और अंदरूनी शक्तियों का विरोध कर सके। इंदिरा गांधी यह भूमिका निभा सकती थी और कुछ समय के लिए उन्होंने निभाई भी।

मास्को में साढ़े तीन वर्ष बिताने के बाद मैं जून, 1966 में विदेश मंत्रालय के सचिव का पद संभालने के लिए दिल्ली लौटा। मैंने इंदिरा गांधी को विदेश में विदेशी नेताओं से बातचीत करते हुए देखा था। 1966 में अपनी काहिरा, यूगोस्लाविया और मास्को की यात्रा के दौरान उन्होंने अपनी कार्यक्षमता, गरिमा और संकल्प का परिचय दिया था। राष्ट्रपति नासिर और टीटो तथा रूस के नए-नए नेतृत्व को प्रभावित किया था जो उन्हें एक ऐसी प्रगतिशील नेत्री के रूप में देखते थे जिसमें साहस और संकल्प था और वे उन्हें ही एकमात्र राष्ट्रीय नेत्री मानते थे जो अपने देश को समाजवाद के मार्ग पर ले जाने की क्षमता रखती हैं। उन्हें वे केवल नेहरू की पुत्री ही नहीं बल्कि अपने ही रूप पर नेतृत्व की हकदार मानते थे तथा उनकी बात को ध्यान से और आदरपूर्वक सुनते थे। 49 वर्ष से भी कम उम्र की एक दुबली-पतली स्त्री का देश के सबसे बड़े पद की ओर [illegible] जाना, कोई कम उपलब्धि नहीं थी। उन्होंने उनकी दोस्ती पाने के लिए [illegible] की ओर उन्होंने उसका बदला [illegible] से चुकाया। वह ऐसी नेत्री नहीं थी जिनकी बात [illegible] कर सकते थे।

[illegible] नेता जिन परिस्थितियों से दोस्ती मानने की कोशिश कर रहे थे। और उन्हें कुछ और [illegible] होने के नाते से [illegible] रहे थे। [illegible] उन्हें स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि [illegible] यह स्वयं नहीं [illegible] के लिए [illegible] गया।

[illegible] के लिए [illegible] किया गया। मैं [illegible] और [illegible] के [illegible] हुआ था। [illegible] और [illegible] के [illegible] हैं। [illegible] मैंने [illegible] और [illegible] के [illegible]

को सैनिक सामान देगा तो वह न केवल उसे चीन या अमेरिका से दूर हटाने में असफल हो जायेगा बल्कि भारत की मैत्री से भी हाथ धो बैठेगा। यह एक कड़ी, मुँहफट और उकसाने वाली बात थी और इसीलिए कही भी गयी थी। अन्य रूसी नेताओं ने भी यह बात सुनी, जैसा कि मैं चाहता भी था। कुछ क्षण के लिए चुप्पी रही। ब्रेजनेव और कोसिगिन श्रीमती गांधी को इस बात का आश्वासन देने की कोशिश करते रहे कि उपमहाद्वीप में शस्त्रों की होड़ को बढ़ावा देने की उनकी कोई मंशा नहीं है। उन्हें शांतिप्रिय, गुटनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक भारत और पश्चिम तथा चीन से सैनिक गुटबंदी करने वाले पाकिस्तान में अंतर का पता चल गया था। समझौते के अनुसार वे हमारी आर्थिक और सैनिक जरूरतों को पूरा करते रहेंगे और पाकिस्तान को शस्त्र नहीं भेजेंगे।

हमें कुछ देर के लिए सांस लेने की फुर्सत मिली। लेकिन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में कुछ भी स्थायी नहीं होता। विश्व के विभिन्न भागों में तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों के कारण अंतर्राष्ट्रीय संबंध भी बदलते रहते हैं। हमें अन्य देशों में होने वाले परिवर्तनों और बदलावों के प्रति सचेत और सावधान रहना था।

श्रीमती गांधी एक ही जगह सारे दांव लगाने में विश्वास नहीं करती थीं। उन्होंने अमेरिका से संबंध सुधारने की चेष्टा की। लेकिन असफल रहीं। निक्सन को भारत से चिढ़ सी थी और वह पाकिस्तान के पक्ष में थे। उनकी धारणा थी कि उनकी 1968 की यात्रा के दौरान उनके प्रति भारत का बर्ताव खासा उपेक्षापूर्ण था, जबकि पाकिस्तान ने उनको लेकर खूब लाड़ किया। उनका विश्व युद्ध कौशल कैनेडी से भिन्न था। उन्होंने अपने 'एशियाई सिद्धांत' का प्रतिपादन किया। जिसका वास्तव में मतलब था एशिया से रूसी प्रभाव कम किया जाये, भारत को नीचा दिखाया जाये, अमेरिका के पिछलग्गू देशों की सहायता की जाये और चीन से दोस्ती और रूस को नाराज करके चीन-रूस मतभेदों का पूरा फायदा उठाया जाये।

श्रीमती गांधी, या इस मायने में भारत का अन्य कोई भी प्रधानमंत्री इन विचारों को स्वीकार नहीं कर सकता था। 1969 में गुआम जाने के रास्ते राष्ट्रपति निक्सन का भारत में रुकना भी बेकार ही रहा। निक्सन और इंदिरा के बीच बातचीत के लिए कोई मुद्दा नहीं था और दोनों की दूरी बढ़ गयी।

गुटनिरपेक्ष जगत, विशेषकर लुसाका में 1970 के शिखर सम्मेलन के दौरान, श्रीमती गांधी ने गहरा प्रभाव डाला। अधिकांश गुटनिरपेक्ष देशों की नजर भारत पर थी कि वह विकासित देशों के माध्यम से उनकी उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने में पहल करेगा। के० बी० लाल को आर्थिक पांडुलेखन समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया गया और मुझे राजनैतिक पांडुलेखन समिति के अध्यक्ष की जिम्मेदारी दी गयी। हम राजनैतिक और आर्थिक—दोनों प्रारूप घोषणाओं के लिए लगभग सर्वसम्मत समर्थन प्राप्त करने में सफल हो गये। जब अधिकांश इस्लामी देशों ने साइप्रस पर काहिरा घोषणा को बदलने के लिए दबाव डाला तो मैं उलझावपूर्ण स्थिति में पड़ गया। मैं पांडुलेखन समिति को इस बात के लिए राजी करने में सफल हो गया कि इस मुद्दे को देशाधिपतियों और सरकारों के सामने रखा जाये, जिनकी आधे घंटे की बैठक होने वाली थी। मैंने राष्ट्रपति कौंडा को दूरभाष पर सारी स्थिति से अवगत करवाया, ताकि वह पहले से सावधान रह सकें।

जब पूर्ण अधिवेशन के सामने यह प्रश्न आया तो केनेथ कौंडा ने बड़ी दक्षता के के साथ उसका सामना किया। उन्होंने युक्ति, भावना, गुटनिरपेक्ष एकता आदि की दुहाई दी और उस प्रस्ताव को लगभग सर्वसम्मत स्वीकृति दिलवाने में सफल हुए और केवल दो

ही सदस्यों ने उसके विरुद्ध स्वर उठाया। उसके बाद 14 अन्य ने भी लिखकर अपना विरोध प्रदर्शित किया। मैं 1961 में अपने लंदन के निवास पर पहली बार केनेथ कौंडा से मिला था, जब वह अपने देश के स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्व कर रहे थे। तब उन्हें देखकर मुझे ऐसा लगा जैसे वह गांधी और नेहरू के विचारों से, बहुत से भारतीय नेताओं की बनिस्बत, अधिक निकटता रखते हैं, यद्यपि वह युद्धप्रिय मासावा जाति के थे, लेकिन वह शांति के दूत और अहिंसा में विश्वास रखने वाले थे। लुसाका में मैंने उन्हें एक कुशल नेता, आदर्श प्रशासक, आम जनता में से एक और दक्ष वार्ताकार के रूप में देखा।

मैं दारेस्सलाम की प्रारंभिक बैठक पर और फिर लुसाका में तांजानिया के जूलियस न्येरेरे से मिला जिन्होंने मुझे प्रभावित किया। मैं 1961 में उनसे भी लंदन में मिला था, जब वह स्वाधीनता संग्राम में अपने देशवासियों का नेतृत्व कर रहे थे। वह एक स्कूल के शिक्षक से अफ्रीकी जनता के महान नेता बने थे। कौंडा की तुलना में कम भावात्मक न्येरेरे अधिक व्यावहारिक और असलियत को पहचानने वाले थे तथा अपने देश तथा अफ्रीका के विभिन्न दलों को अपने साथ रखने में सक्षम थे।

केन्या के राष्ट्रपति जोमो केन्याटा का व्यक्तित्व एकदम ही भिन्न था। लुसाका से लौटते हुए श्रीमती गांधी नैरोबी गयीं। अपने देश में 'शेर' कहलाने वाले नेता से हम उनके नैरोबी शहर के बाहर वाले निवास पर मिले। उनकी आंखों में तब भी शेर की आंखों की सी चमक थी लेकिन उन्होंने शांत, आरामदेह जीवन यापन करने का फैसला कर लिया था। यद्यपि उनके सहकर्मी तब भी उनके प्रति आदर की भावना रखते थे और उन पर उनका दबदबा भी था, लेकिन वह उनके रोजमर्रा के कामों में हस्तक्षेप नहीं करते थे, जिनका भार उन्होंने अपने कम वयस्क सहकर्मियों को दे दिया था। वह बूढ़े हो रहे थे, लेकिन अपनी उम्र से कम के दीखते थे।

अफ्रीका उभरता हुआ महाद्वीप है। उसका उत्थान हो रहा है और वहां न केवल जातीय समानता की भावना पनप रही है, बल्कि आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता के लिए एक क्रांति चल रही है। उन्हें अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए शांतिपूर्ण तरीके अपनाने होंगे या हिंसा का सहारा लेना पड़ेगा, यह अभी निश्चित नहीं है। लेकिन निकट भविष्य में वह अपने लक्ष्य तक जरूर पहुंचेगा, यह बात स्पष्ट है। विभिन्न शक्तियां अफ्रीका के विभिन्न देशों पर अपना अपना प्रभाव डालने की कोशिश में हैं लेकिन इसमें अधिक समय तक उन्हें सफलता मिलते रहने की संभावना कम है। अफ्रीकी राष्ट्रीयता किसी अन्य देश या सिद्धांत का पिछलग्गू बनकर रह नहीं सकती। वह अफ्रीकी समस्याओं के लिए स्वयं ही अफ्रीकी समाधान खोज लेगी।

श्रीमती गांधी विदेशी मामलों में बहुत दिलचस्पी लेती थीं और वह महत्वपूर्ण राज्याध्यक्षों या नेताओं से व्यक्तिगत संपर्क बनाये रखती थीं। पाकिस्तान या चीन का कोई मोह नहीं था, जिसकी वजह से एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के मध्यम या छोटे देशों की उपेक्षा की जाती। वह 1968 में सिंगापुर, मलयेशिया, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के दौरों पर गयीं और उन्होंने इस इलाके के देशों, विशेषकर लाओस और कम्पूचिया की प्रभुसत्ता, अखंडता और गुटनिरपेक्षता को सुरक्षित रखने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन या तटस्थता समझौते का सुझाव देने का साहस किया। वह प्रथम भारतीय प्रधानमंत्री थीं जिन्होंने कई लातीनी अमेरिकी और कैरिबियाई देशों का भी दौरा किया। उन्होंने नेपाल, भूटान, ब्रह्मदेश और श्रीलंका जैसे पड़ोसी देशों के नेताओं के साथ नजदीकी संबंध बनाये रखने के लिए इन देशों की भी यात्रा की। 1970 में श्रीमती गांधी ने संयुक्त राष्ट्र महासभा के 25 वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में आयोजित अधिवेशन को

संबोधित किया और कई देशों के नेताओं से भेंट की। उन्होंने विदेशों में भारत की छवि को उज्ज्वल किया और नेहरू के देहांत के बाद एक बार फिर भारत को विश्व के मानचित्र में स्थान दिलवाया।

किसी देश की विदेश नीति उतनी ही सफल हो सकती है जितनी उसकी घरेलू नीतियां सफल हैं, विदेश नीति घरेलू नीतियों और घरेलू परिस्थितियों का प्रतिबिंब होती हैं। घरेलू मामलों में श्रीमती गांधी की सफलता सीमित थी। खाद्य स्थिति निहायत असंतोषजनक थी। कृषि में सुधार केवल कागज पर ही था और उन्हें लागू नहीं किया गया। हरित क्रांति से कृषि उत्पादन में बढ़ोतरी तो हुई, लेकिन उसका अधिकांश लाभ उन संपन्न किसानों को मिला जो अपनी जरूरतें पूरी कर सकते थे। गरीब किसान गरीब ही रह गया। भूमिहीन कृषि मजदूर को पूरा रोजगार नहीं मिलता था और वह गरीबी की रेखा से नीचे ही रहता था। शिक्षितों में भी बेरोजगारी बढ़ रही थी और हजारों की संख्या में भारतीय चिकित्सक, इंजीनियर और शिक्षक रोजगार की तलाश में विदेश जा रहे थे। छात्र असंतुष्ट थे, क्योंकि उनकी शिक्षा उन्हें रोजगार दिलवाने में सहायक नहीं थी। औद्योगिक उत्पादन बढ़ा जरूर लेकिन उसका अधिकांश लाभ बड़ी औद्योगिक संस्थाओं और बड़े व्यवसायों में पहुंच गया। बहरहाल, अच्छाइयों में सार्वजनिक क्षेत्रों की प्रगति तथा हरिजन, मुसलमानों और अल्पसंख्यकों के साथ किये जाने वाले बर्ताव में उन्नति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। केंद्र का राज्य के साथ और उत्तर और दक्षिण के बीच संबंध भी पहले की अपेक्षा सद्भावपूर्ण थे। इंदिरा गांधी ने बड़ी दक्षता के साथ भाषा नीति अपनायी और उन्होंने गैर हिंदी भाषी क्षेत्रों पर हिंदी को थोपने की चेष्टा नहीं की। आदिवासियों को अधिक सुविधाएं दी गयीं और नागालैंड की समस्या को दृढ़ता और सोच विचार के साथ सुलझाया गया। वह एक विशिष्ट राष्ट्रीयनेत्री के रूप में उभरीं जिन्हें देश के सभी क्षेत्रों में मान्यता मिली।

श्रीमती गांधी ने कश्मीर की समस्या को सफलता से सुलझाया। और शेख अब्दुल्ला का विश्वास और आस्था प्राप्त कर ली। शेख अपने ही बल पर एक विशिष्ट नेता थे जिनकी भारत की धर्मनिरपेक्ष समाजवादी और लोकतांत्रिक नीति में पूर्ण आस्था थी। उन्होंने कश्मीर को सामंती शासन के शिकंजे से मुक्त करने के लिए कई बलिदान दिये। यह खेद की बात है कि नेहरू केवल कश्मीर के लिए ही नहीं बल्कि भारत के विस्तृत परिप्रेक्ष्य में अब्दुल्ला के प्रभाव व गुणों का सदुपयोग नहीं कर सके।

मैं कश्मीर में अपनी छात्रावस्था के समय से ही शेख का प्रशंसक रहा हूं और 1967 में जब वह दिल्ली में नजरबंद थे तो उनके और श्रीमती गांधी के बीच समझौता करवाने की कोशिश की थी। मैं अकेले उनसे तीन बार मिला और हमारी बातचीत 12 घंटे तक चली। मैंने उनकी देशभक्ति, भारत की अखंडता, उपमहाद्वीप की शांति आदि की दुहाई देते हुए मुसलमानों में नेतृत्व की कमी, सांप्रदायिकता की बढ़ती हुई बुराइयां, जातिवाद, क्षेत्रीयता आदि की ओर संकेत किया। वह इन सबसे सहमत हुए लेकिन इस बात पर जोर देते रहे कि 1953 में उनकी गिरफ्तारी के बाद से जो अन्याय हो रहे हैं उनका पहले निराकरण किया जाये। कभी कभी उनमें कटुता आ जाती थी लेकिन कुल मिलाकर जीवन के 20 वर्ष कैद में काटने के बावजूद उनका दिल बड़ा था।

जी० पार्थसारथी ने धैर्य और लगन के साथ शेख और अफजल बेग से वार्तालाप किया। समझौता होने तक उन्होंने हार नहीं मानी और दोनों पक्षों को निकट लाने के श्रेय के हकदार वही हैं। जम्मू और कश्मीर के कांग्रेसी मुख्यमंत्री सैय्यद मीरकासिम ने शेख को सरकार गठन करने का मौका देने के लिए सत्ता छोड़ने का फैसला करके अहम भूमिका

अदा की। स्वयं श्रीमती गांधी ने शेख का संदेह दूर करके और उन्हें अपनी सहानुभूति और समर्थन का आश्वासन देकर सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। पर सबसे बढ़कर समझौता करने का श्रेय स्वयं शेख को ही दिया जाना चाहिए।

इन सारी घटनाओं से पाकिस्तान के सैनिकशासक याह्या खां शंकालु हो गये। भुट्टो ने सत्ता हथियाने की कोशिश में हमेशा की तरह अपनी चाल चली। वह ताशकंद में अय्यूब खां के साथ तो सफल नहीं हो पाये थे, लेकिन उन्होंने भोले भाले याह्या खां को बहकाकर उनको धोखे में डाल दिया। उन्होंने याह्या खां को सलाह दी कि वह 1970 के अप्रैल में पूर्व पाकिस्तान में होने वाले चुनावों के नतीजों को पूरी तरह नजरअंदाज कर दें और बहुमत दल का नेता होने के नाते शेख मुजीबुर्रहमान को पूरे पाकिस्तान का प्रधानमंत्री नहीं बनने दें। भुट्टो की हार्दिक इच्छा थी कि संभव होने पर वह पूरे पाकिस्तान के सर्वमान्य नेता बनेंगे और यदि ऐसा संभव न हो सका तो कम से कम पश्चिमी पाकिस्तान पर तो शासन करेंगे ही, उसके लिए उन्हें चाहे कोई भी मूल्य क्यों न चुकाना पड़े। पाकिस्तान का सैनिक नेतृत्व भुट्टो के चंगुल में फंस गया और उसने अत्याचारों, बंगालियों के दमन, बुद्धिजीवियों और अल्पसंख्यकों को सताने का ऐसा अभियान चलाया जिसकी कोई मिसाल न थी। और ऐसी सख्ती हिटलर के जमाने के बाद कभी देखी नहीं गयी थी।

पूर्वी पाकिस्तान के बंगाली पश्चिमी पाकिस्तानियों से संख्या में अधिक होने के बावजूद 1947 में पाकिस्तान बनने के बाद से दो नंबर के नागरिक बनकर कष्ट उठा रहे थे। इसे पश्चिमी पाकिस्तान का उपनिवेश माना जाता था, जहां से पश्चिमी भाग के विकास के लिए कच्चा माल और विदेशी मुद्रा जुटायी जाती थी। सबसे बुरी बात यह थी कि उन्हें घृणा की दृष्टि से देखा जाता था और उनकी भाषा तथा संस्कृति की आलोचना की जाती थी। 20 वर्ष से भी अधिक समय से बंगाली रोष और असंतोष से भरे हुए थे। अब उनके लिए मौका था कि वे अपने लिए पश्चिमी पाकिस्तानियों के बराबर का दर्जा हासिल करें। अप्रैल 1970 के चुनावों में मुजीब के दल ने एक को छोड़कर अन्य सभी स्थानों पर विजय प्राप्त की थी। कानून, संविधान और परंपरा के अनुसार पाकिस्तान सरकार के गठन के लिए याह्या खां को उन्हें ही प्रधानमंत्री की हैसियत से आमंत्रित करना चाहिए था लेकिन यह बात भुट्टो के लिए मुआफिक नहीं थी। भुट्टो और मुजीब का आपस में कोई लगाव न था। उन्हें एक दूसरे पर विश्वास न था।

फिर मुजीब ने अपने छह सूत्रीय कार्यक्रम के अंतर्गत पूर्वी पाकिस्तान के लिए स्वशासन की मांग की। ढाका में दोनों पक्षों के बीच बातचीत हुई। समझौता होने ही वाला था कि भुट्टो ने रास्ते में रोड़ा अटका दिया और याह्या खां को राजी न होने के लिए मना लिया।

25 मार्च, 1971 की रात को पश्चिमी पाकिस्तान की सेना ने बंगालियों की नृशंस हत्या आरंभ की। भुट्टो ढाका के होटल इंटरकांटिनेंटल की ग्यारहवीं मंजिल पर अपने कमरे में बैठे हुए यह खून खराबा देख रहे थे। अगले दिन वह चुपचाप विमान द्वारा लाहौर के लिए रवाना हो गये। उन्होंने मुजीब को गिरफ्तार करवाकर उन्हें अपने रास्ते से हटाकर अपनी पहली फतेह हासिल कर ली। यदि बंगाली घबराकर उनके पाशविक बल के आगे घुटने टेक देते तो भुट्टो शायद फिर भी पूरे पाकिस्तान के प्रधानमंत्री बन सकते थे। लेकिन ऐसा नहीं होना था और बंगलादेश के मुक्ति संग्राम की शुरुआत यहीं से हुई।

पूर्वी पाकिस्तानियों का स्वशासन के लिए किया जाने वाला संघर्ष मुक्ति प्राप्त करने और स्वाधीन बंगलादेश के उभरने के संघर्ष में बदल गया। इसके लिए विशेष रूप

से पाकिस्तान के सैनिक शासकों की अदूरदर्शिता और पश्चिमी पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा पूर्वी क्षेत्र में आतंक का राज्य कायम किये जाने के प्रति पूर्वी बंगालियों की तीव्र प्रतिक्रिया जिम्मेदार थी। बंगलादेश संघर्ष के प्रति पश्चिम बंगाल और शेष भारत की पूर्ण सहानुभूति स्वाभाविक बात थी। मुजीब को गिरफ्तार करके उन्हें पश्चिम पाकिस्तान के कारागृह में एकांतवास की सजा दिये जाने के बाद उनके चुने हुए कर्मियों ने ढाका से पलायन किया और भारत में आश्रय की खोज की। पूर्वी पाकिस्तान के लोग, बड़ी संख्या में भारत के सीमावर्ती राज्यों में आकर बसने लगे। प्रतिदिन हजारों की संख्या में हिंदू, मुसलमान, ईसाई और बौद्ध लोग आते रहे। उनमें से कुछ अपंग भी थे, पश्चिम पाकिस्तान के सैनिकों ने जिनके हाथ और पैर काट दिये थे, कुछ की पीठ पर गोली लगी हुई थी, जिन्हें भागते देख पाकिस्तानी सैनिकों ने अपनी बंदूक का निशाना बनाया था। स्त्रियां, जिनके पास बलात्कार के दर्दभरे किस्से थे और बच्चे जो दहशत के कारण रोते ही रहते थे। मैंने जून और सितंबर 1971 तक भी उन्हें बनगांव की सीमा चौकी को पार करके लगातार बहने वाले स्रोत की तरह भारत में प्रवेश करते हुए देखा।

मैं कलकत्ते में ताजुद्दीन और उसके सहकर्मियों से भी मिला। उन्होंने एक प्रवासी सरकार का गठन किया था और भारत की सीमा पर स्वाधीन बंगलादेश की पताका फहरा दी थी। वे तत्काल ही मान्यता चाहते थे। भारत के हर क्षेत्र में उनके लिए घोर सहानुभूति थी। दिल्ली लौटने के बाद मैंने और मेरे सहकर्मी एस० के० बनर्जी ने श्रीमती गांधी से याचना की। उन्होंने संकेत दिया कि बंगलादेशी जब तक कुछ क्षेत्रों पर अपना पूरा कब्जा जमा नहीं लेते और अपने संघर्ष द्वारा दुनिया के सामने यह साबित नहीं कर देते कि जनसाधारण उनके साथ है, तब तक भारत के लिए उनको मान्यता देना यह गलत फहमी पैदा कर सकता है कि वह बंगलादेश में कठपुतली सत्ता स्थापित करके पाकिस्तान को खंडित करने की कोशिश कर रहा है। उन्होंने, "जब समय आयेगा, हम ऐसा करेंगे।"

इस दौरान हजारों की संख्या में बंगलादेश के विस्थापित भारत में प्रवेश कर चुके थे। पाकिस्तान ने पूर्व पाकिस्तान में हिंदुओं के मंदिरों को नष्ट करके गैरमुसलमानों को देश से खदेड़ कर और हरिजनों को, गैरमुसलमानों में जिनकी संख्या सबसे अधिक थी, धर्मपरिवर्तन के लिए मजबूर करके सांप्रदायिकता की आग भड़काने की कोशिश की। बड़ी संख्या में विस्थापितों के आने से भारत की अर्थव्यवस्था गड़बड़ा गयी, उसकी प्रसार, स्वास्थ्य और आवास व्यवस्थाओं के लिए बेहद कठिनाइयां पैदा हुईं और कानून तथा व्यवस्था के लिए समस्याएं सामने आयीं। लेकिन भारत के लोगों ने अपने सताए हुए पड़ोसियों का साथ दिया और उनके साथ मिल बांटकर गुजारा किया। इससे भारतवासियों की समझदारी का परिचय मिला कि उन्होंने पाकिस्तान द्वारा सांप्रदायिकता की भावनाएं उभाड़ने की कोशिश को नाकामयाब कर दिया। बंगलादेश के मुक्ति संग्राम के दौरान हिंदू मुसलमानों के बीच सांप्रदायिक दंगे या उपद्रव की एक भी घटना नहीं घटी।

भारत में सांप्रदायिक भावनाएं भड़काने में सफल न होने पर बंगलादेश के अदूरदर्शी पाकिस्तानी शासक सीमावर्ती भारतीय राज्यों पर छिटपुट हमले करने लगे। जब वे पूर्वी भाग के साहसी बंगालियों का आतंक और पाशविक बल द्वारा दमन नहीं कर सके तो उन्होंने भारत के साथ युद्ध छेड़कर बंगला देश पर से दुनिया की नजरें हटाने और उसके प्रति सहानुभूति को खत्म करने की कोशिश की।

श्रीमती गांधी की सरकार ने बंगलादेश के छापामारों को नैतिक और राजनैतिक समर्थन दिया था और साज-सामान देकर उनकी सहायता की थी। लेकिन

पाकिस्तान के उकसाने पर भी हमारे सैनिक सीमा को पार करने से रुके रहे। श्रीमती गांधी तब भी विश्वास करती रही कि यदि शेख मुजीबुर्रहमान को रिहा कर दिया जाये तो उनके और याह्या खां के बीच कोई सही समझौता हो सकता है। सितंबर, 1971 के अंतिम सप्ताह में उन्होंने ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, आस्ट्रेलिया और पश्चिम जर्मनी होते हुए अमेरिका का दो सप्ताह का दौरा किया, जिससे वह पश्चिमी नेताओं को मुजीब की रिहाई और उनसे समझौता करने के लिए याह्या खां पर दबाव डालने के लिए राजी कर सकें। इस दौरे पर स्वर्णसिंह, पी० एन० हक्सर और मैंने उनका साथ दिया था। निक्सन के साथ उनकी भेंट से कुछ हासिल नहीं हो सका। निक्सन यह भी बताने के लिए तैयार नहीं थे कि मुजीब जीवित है भी या नहीं, उनकी रिहाई की बात तो दीगर रही। पाकिस्तान के पूर्वी भाग के चुने हुए नेताओं से बातचीत आरंभ करने के लिए याह्या खां से कहने को भी वह तैयार न थे। वह किसी प्रकार का समझौता करने के लिए याह्या को दो वर्ष का समय देना चाहते थे। वह उम्मीद करते थे कि तब तक बंगलादेशी धीरज के साथ इंतजार करते रहेंगे और भारत हजारों विस्थापितों का स्वागत करता रहेगा। या तो उन्हें गलत सूचना दी गयी थी या वह जानबूझ कर सच्चाई की तरफ से आंखें मोड़े हुए थे। भारत द्वारा रूस के साथ शांति, मैत्री और सहयोगिता का समझौता किये जाने के कारण शायद वह नाराज थे और भारत के दरवाजे पर 'एक और वीएतनाम' चाहते थे। संभव है कि वह यह सोच रहा था कि पाकिस्तान अब भी अपनी पाशविक शक्ति के सामने पूर्वी क्षेत्र को हथियार डालने के लिए मज [illegible]
है। ऐसा भी हो [illegible]
कारण उन्हें पाकि [illegible]
प्रोत्साहन मिला।

श्रीमती गांधी निक्सन के प्रति दृढ़ता से पेश आयीं। उन्होंने उन्हें चेतावनी दी कि स्थिति विस्फोटक है और जब तक मुजीब को रिहा नहीं कर दिया जाता और पूर्वी पाकिस्तान के चुने हुए नेताओं से वार्तालाप शुरू नहीं किया जाता तब तक मामला ठंडा नहीं पड़ सकता। उन्होंने उन्हें स्पष्ट ही बता दिया कि अगर पाकिस्तान सीमा पर छिटपुट घटनाओं से भारत को भड़काता रहा तो भारत भी जवाबी आक्रमण करने पर मजबूर हो जायेगा।

श्रीमती गांधी ने वाशिंगटन डी० सी० में नेशनल प्रेस क्लब को संबोधित किया। सिनेट और सदन के प्रमुख सदस्यों और अन्य लोगों से मिलीं। उस समय निक्सन की दमघोटू नीति के खिलाफ अमेरिका का समाचार जगत स्वच्छंद हवा के एक झोंके की तरह जान पड़ा। निक्सन को विएतनाम में युद्ध का स्वाद मिल चुका था और वह बंगलादेश के बारे में भी तर्क या मानवीयता का सहारा नहीं लेने वाले थे। इसलिए वह 1965 के भारत-पाक युद्ध के बाद लगाए गए प्रतिबंध के बावजूद चुपचाप और लुकछिपकर याह्या खां को अस्त्र शस्त्र देते रहे। पाकिस्तान के प्रति निक्सन के झुकाव और उनका भारत विरोधी होने में केवल राजनैतिक और आर्थिक कारण ही नहीं थे (उन्होंने तब भारत को सहायता देना बंद कर दिया था) बल्कि कई सामरिक कारण भी थे।

श्रीमती गांधी लंदन जाकर हीथ तथा अन्य लोगों से मिलीं और उन्होंने उनसे अपनी बात मनवायी। लेकिन निक्सन की हठधर्मिता के सामने वे लाचार थे। फ्रांस और बेल्जियम में भी ऐसा ही था। वीएना और बॉन को ज्यादा हमदर्दी थी लेकिन वे पश्चिमी यूरोप के विचारों को प्रभावित करने से बढ़कर कुछ कर न सके। पूर्वी यूरोप और रूस तथा अधिकांश गुटनिरपेक्ष और विकासशील देश भी भारत के दृष्टिकोण के साथ पूरी तरह सहमत थे। केवल चीन और अमेरिका पाकिस्तान के साथ थे।

श्रीमती गांधी के राजनय ने विश्व जनमत और अधिकांश सरकारों के विचारों को प्रभावित किया था। इस्लामी दुनिया विभक्त थी, लेकिन खुल्लमखुल्ला बंगलादेश विरोधी रवैया अपना नहीं सकती थी (पाकिस्तान के पश्चिमी क्षेत्र से बंगलादेश में मुसलमानों की संख्या अधिक है) श्रीमती गांधी बंगलादेश के संघर्ष को धार्मिक रंग नहीं देना चाहती थीं और मिस्र जैसे कुछ गुटनिरपेक्ष मित्र देशों को छोड़कर उन्होंने मुस्लिम दुनिया के अधिकांश को प्रभावित करने की चेष्टा नहीं की।

बंगलादेश में घटनाएं बहुत तेजी से घट रही थीं। भारत आने वाले विस्थापितों की संख्या बढ़ती जा रही थी। पाकिस्तानी सैनिकों के अत्याचारों की दिल दहलाने वाली आंखों देखी ढेरों खबरें रोज आ रही थीं। लेकिन स्थिति में एक आशाजनक परिवर्तन भी हुआ। मुक्ति सेना अपने पैर जमा रही थी, जिससे पाकिस्तानी सेना के लिए रात को कहीं भी कुछ कर पाना असंभव हो गया था। दिन में भी वे कुछ बड़े शहरों के निकट की छावनियों में ही अपने को बंद रखते थे।

पाकिस्तान हताश होता जा रहा था। या तो अपनी ही समझ से या फिर अपने अमेरिकी और चीनी मित्रों के परामर्श से पाकिस्तान के सेनानायकों ने पूर्वी क्षेत्र पर कई बार भारत के हवाई इलाके का अतिक्रमण किया। भारत ने इन घटनाओं को स्थानीय बनाये रखने की कोशिश में पूर्व और पश्चिम पाकिस्तान में प्रवेश नहीं किया। हमने पश्चिम बंगाल के अपने क्षेत्र में कुछ पाकिस्तानी विमानों को मार गिराया। भारत को पूर्व में युद्ध के लिए भड़काने की असफल कोशिश के बाद पाकिस्तानी शासकों ने बिना किसी उत्तेजना के, कश्मीर समेत पश्चिम और उत्तर के नौ हवाई अड्डों पर आक्रमण किया। 3 दिसंबर, 1971 को शाम के छह बजे यह घटना घटी।

मैं राष्ट्रपति की अध्यक्षता में होने वाली एक संसदीय बैठक से उसी समय अपने कार्यालय लौटा था। आकाशवाणी ने मुझसे पूछा कि पाकिस्तानी आक्रमण की खबर प्रसारित की जाये या नहीं। प्रधानमंत्री और रक्षामंत्री दोनों ही उस समय कलकत्ता गये हुए थे। मैंने सेनाध्यक्ष सैम मानेकशा से सलाह की और उनकी सहमति से आकाशवाणी को समाचार प्रसारित करने को कहा। 3 दिसंबर, 1971 को शाम 6·30 की खबरों में यह समाचार प्रसारित किया गया।

सौभाग्य से हमें पहले से ही अंदेशा हो गया था कि पाकिस्तान हठात् ही इस तरह का आक्रमण कर सकता है। ठीक दस दिन पहले याह्या खां ने शराब के नशे में किसी अमेरिकी संवाददाता के सामने शेखी बघारते हुए कहा था कि अगले दस दिनों में भारत के साथ होने वाले युद्ध का नेतृत्व वह स्वयं करेंगे। हमने पाकिस्तान के दो जासूसों को पकड़ा था जो पाकिस्तान के संपर्क में थे और उनसे जो सूचना प्राप्त करते थे उनका पता हमने चला लिया था। दो दिन पहले पंजाब पुलिस और सीमा सुरक्षा बल के महानिरीक्षक दोनों पदों को संभालने वाले अश्विनी कुमार ने भारत पर हमला करने के लिए पाकिस्तान द्वारा निर्धारित तिथि के बारे में हमें आगाह कर दिया था। भारतीय वायुसेना को सावधान कर दिया गया था और हवाई बेड़ों से हमारे विमानों को हटा लिया गया था। अपने आकस्मिक हमले के दौरान पाकिस्तान केवल हमारे एक छोटे से प्रेक्षक विमान को ही क्षति पहुंचा सका।

समाचार सुनते ही श्रीमती गांधी तुरंत दिल्ली लौट आयीं। हवाई अड्डे से वह सीधी घर गयीं और उसी समय साउथ ब्लाक के अपने कार्यालय में पहुंच गयीं। यह रात को दस बजे, 3 दिसंबर 1971 की बात है। श्रीमती गांधी शांत, धैर्यशील और आश्वस्त थीं। अपने सहकर्मियों से सलाह मशविरा करने के बाद उन्होंने सेनानायकों द्वारा सुझायी

गयी कूटनीति का अनुमोदन किया और हम सबको आदेश दिया कि हम एक-दूसरे के संपर्क में रहें और देश और दुनिया को जो कुछ होने वाला था, उसके लिए तैयार करें।

4 दिसंबर की सुबह पाकिस्तान ने औपचारिक तौर पर भारत से युद्ध की घोषणा कर दी। यद्यपि उसने पिछली शाम को ही इसकी शुरुआत कर दी थी। हमारी जनता ने एक राष्ट्र के रूप में इस चुनौती को स्वीकार किया। हमारी थलसेना, नौसेना, और वायुसेना पाकिस्तान के मुकाबले बहुत बेहतर थी। हम एक ऐसी लड़ाई लड़ रहे थे जो हम पर थोपी गयी थी और पाकिस्तान अपने पूर्वी क्षेत्र में हिटलर जैसे अत्याचारों को जारी रखने के लिए युद्ध कर रहा था। पूर्व में पाकिस्तानी सेना हफ्ते भर में ही ताश के पत्तों से बने मकान की तरह ढह गयी। हमारी नजर पाकिस्तानी इलाके पर तो थी नहीं और न ही हमने इस मौके का फायदा उठाते हुए कश्मीर पर पाकिस्तान द्वारा कब्जा किये हुए इलाकों को वापस लेने की चेष्टा की, क्योंकि उससे युद्ध और भी लंबा खिंचता तथा दोनों देशों के लोगों का बलिदान चढ़ाना पड़ता और उनकी तकलीफें बढ़ जातीं। भारत को पाकिस्तान के लोगों से कोई शिकायत नहीं थी बल्कि उन्हें एक भ्रमित और दुस्साहसिक सैनिक तानाशाह के हाथों कष्ट उठाते देख हमें उनसे सहानुभूति थी।

पाकिस्तान द्वारा युद्ध की घोषणा के दो दिन बाद और जब मुक्ति संग्रामियों द्वारा खदेड़े जाने पर पाकिस्तानी कुछ शहरों में आश्रय लेने पर मजबूर हुए तो हमने 6 दिसंबर, 1971 को बंगला देश की स्वतंत्र सरकार को मान्यता दी। श्रीमती गांधी ने अपना वचन निभाया और अपने कहे पर आचरण किया। पाकिस्तानी सेनाध्यक्ष हथियार डाल देना चाहता था लेकिन याह्या खां इसके लिए राजी नहीं हुए, क्योंकि उन्हें तब भी अमेरिका या चीन या दोनों से ही सहायता की उम्मीद थी।

17 दिसंबर, 1971 को श्रीमती गांधी ने एकतरफा युद्धविराम की घोषणा की। पाकिस्तानी सेना ने भारत और बंगलादेश के संयुक्त मोर्चे के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। 90,000 से भी अधिक पाकिस्तानी सैनिकों को बंदी बनाया गया। एकपक्षीय युद्धविराम की घोषणा करने पर सारी दुनिया ने उनकी समझदारी और राजनीतिक समझ की सराहना की। भारतवासियों ने उन्हें देवी दुर्गा और शक्ति के रूप में देखा—जो शक्ति और बल की प्रतीक हैं। यहां तक कि अटलबिहारी वाजपेयी तथा जनसंघ के अन्य नेताओं ने भी उनकी प्रशंसा की। वह धैर्य और अध्यवसाय के बल पर सत्ता के शिखर पर पहुंची थीं। कुछ लोग उन्हें उनके पिता नेहरू से भी बढ़कर मानते थे। उन्होंने अधिक साहस और दृढ़ता का परिचय दिया था। बड़े जोखिम उठाये थे और स्वतंत्रता के बाद पहली बार पाकिस्तान को जबर्दस्त शिकस्त दी थी। उन्होंने बंगाल की खाड़ी में अमेरिका के सातवें बेड़े की धमकियों की अवहेलना की थी। चीन के शोर को अनसुना कर दिया था, बंगला देश को मुक्ति प्राप्त करने में सहायता की थी और विश्व में भारत की प्रतिष्ठा और महत्ता को बढ़ाया था।

16

भारत-बंगलादेश संधि तथा शिमला समझौता—1972

बंगला देश का उदय एक प्रभुसत्तासंपन्न स्वतंत्र देश के रूप में हुआ, जिसे पाकिस्तान और उसके अन्य मित्र देशों को छोड़कर कई देशों ने इस रूप में मान्यता दी। यह देश शेख मुजीबुर्रहमान के नेतृत्व में, जिनका लोकप्रिय नाम बंगलाबंधु था, आगे बढ़ रहा था। वह पचपन वर्ष के आसपास की उम्र के थे, पाइप से धूम्रपान करते थे तथा सहज लेकिन शुद्ध बंगला बोलते थे, जिसे मैं भी संस्कृत का प्राथमिक ज्ञान रखने के बावजूद समझ जाता था। वह एक महान वक्ता थे और उनकी आवाज सुनकर श्रोताओं की आंखों में आंसू आ जाते थे। वह जबर्दस्त तनाव में जीते थे, बहुत भावुक थे लेकिन साथ ही व्यावहारिक भी थे। मैं दिसंबर, 1971 के अंत में संयुक्त राष्ट्र से लौटते हुए लंदन में उनसे मिला था। उन्हीं दिनों उन्हें भुट्टो ने रिहा किया था और वह बीमारी के बाद आराम कर रहे थे। जब मैंने सुरक्षा परिषद में भुट्टो की चालबाजियों का वर्णन किया तो उन्होंने मुझे भुट्टो की अनैतिकता के बारे में सावधान किया।

10 जनवरी, 1972 को वह ब्रितानी सरकार द्वारा दिये गये विमान में ढाका जाते हुए पालम पर रुके। उनका स्वागत करने के लिए वहां बहुत बड़ी भीड़ इंतजार कर रही थी। हवाई अड्डे पर दिए गए उनके भाषण ने श्रोताओं को बहुत प्रभावित किया। श्रीमती गांधी ने सीधी-सादी लेकिन सौहार्दपूर्ण भाषा में उनका स्वागत किया। उन्होंने अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए भारत की भूरी-भूरी प्रशंसा की। वह उन सभी शक्तियों और राष्ट्रों को भी धन्यवाद देना न भूले जिन्होंने बंगलादेश के संग्राम के लिए सहानुभूति व्यक्त की थी।

ढाका में दस लाख से भी अधिक लोगों ने उनका जैसा स्वागत किया उससे पूर्व के सारे कीर्तिमान टूट गये। स्वाभाविक ही था कि लोग उत्तेजित थे, मानो उनके पिता हत्यारे के फांसी के फंदे से जीवित लौट आये थे। वह अपने सहकर्मियों से बहुत आगे थे और बंगला देश के निर्विवाद रूप से नेता मान लिए गए थे।

बंगाली बहुत भावुक होते हैं। हमें इस बात के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ा कि कहीं उनके मन में यह गलतफहमी पैदा न हो जाये कि हम उन पर किसी तरह का दबाव डाल रहे हैं, उन्हें प्रभावित कर रहे हैं या उनकी मित्रता का नाजायज फायदा उठा रहे हैं।

मुजीब मार्च, 1972 में कलकत्ता आये और उन्होंने श्रीमती गांधी को ढाका में आने का निमंत्रण दिया। वह मई, 1972 को वहां गयीं। ढाका में उनका जो स्वागत हुआ उसे देखने पर ही विश्वास किया जा सकता है। भारत ने निर्धारित तारीख से दो सप्ताह पहले ही बंगलादेश से अपनी सेनाएं हटा लीं थीं। हमारे अपने यहां अनाज की कमी होने के बावजूद हम बंगलादेश को दस लाख टन से भी अधिक खाद्यान्न देने के लिए राजी हो गये। हमने रेल, मार्ग और हवाई संपर्कों के निर्माण में भी सहायता करने का वचन दिया। मैंने श्रीमती गांधी को सुझाव दिया कि वह बंगला देश से भारत की मित्रता को

एक औपचारिक समझौते द्वारा पक्का कर दें; इससे पहले कि अन्य शक्तियां आकर मुसीबतजदा लोगों से नाजायज फायदा उठायें, ऐसा करने के लिए तभी मौका था। पहले तो वह दुविधा में रही, लेकिन बाद में उन्होंने मुझसे कहा कि मैं अनौपचारिक तरीके से इस बारे में मुजीब की प्रतिक्रिया का पता लगाऊं।

अगले दिन हम छोटे जहाज में बैठकर नदी पार कर रहे थे। मुजीब और उनके अधिकारी वहां थे और श्रीमती गांधी, स्वर्ण सिंह, दत्त, हक्सर, मैं और बंगलादेश विभाग की देखभाल करने वाले हमारे संयुक्त सचिव के० पी० एस० मेनन (कनिष्ठ) भी वहां मौजूद थे।

मैंने पहले बंगलादेश के विदेश सचिव की राय जानने की कोशिश की, लेकिन उन्हें इसके खिलाफ ही पाया, क्योंकि ऐसे समझौते से पीकिंग को नाराज करने का खतरा था। मैंने कहा कि इसमें पीकिंग या अन्य किसी देश के खिलाफ कुछ नहीं होगा और दो प्रभुसत्ता संपन्न स्वाधीन पड़ोसी होने के नाते हमें औपचारिक समझौते के माध्यम से अपने संबंधों को मजबूत बनाने का पूरा अधिकार है। उन्होंने इस बारे में कोई वायदा नहीं किया। कुछ देर बाद मुजीब ने मुझे बुलाकर पूछा कि मैं उनके विदेश सचिव से क्या बात कर रहा हूं। मैंने उनके सामने भी बात चलायी और मुझे यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि उन्होंने न केवल अपनी सहमति व्यक्त की बल्कि उसके बारे में बहुत उत्साह भी दिखाया। उन्होंने कहा कि मार्च में कलकत्ता में उन्होंने श्रीमती गांधी के सामने यह सुझाव रखा था लेकिन उन्होंने 'हां' या 'नहीं' कोई जवाब नहीं दिया। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं पहले उनके साथ फैसला कर लूं ताकि वह बाद में उनसे बात कर सकें। मैंने श्रीमती गांधी से इस बारे में बातचीत की। उन्होंने विदेशमंत्री, हमारे राजदूत और हक्सर को बुलाकर उन सबकी राय जाननी चाही। वे सभी इसके पक्ष में थे। बाद में मुजीब ने सैद्धांतिक तौर पर इस बारे में श्रीमती गांधी से फैसला कर लिया। मुझे आदेश दिया गया कि बंगलादेश विदेश सचिव के साथ बैठकर मैं उसी समय एक प्रारूप तैयार करूं जो उसी शाम को पेश किया जा सके। यह सब कुछ जहाज से लौटते समय तय किया गया। प्रत्येक प्रतिनिधि मंडल ने एक-एक प्रतिलिपि अपने पास रखी और यह फैसला किया गया कि उसी दिन शाम को इस बारे में विचार विमर्श करने के बाद उसे अंतिम रूप दे दिया जायेगा।

मुजीब के कहने पर कुछ फेरबदल किया गया। वह 'राष्ट्रीयता' का उल्लेख एक सिद्धांत के रूप में करना चाहते थे और श्रीमती गांधी ने इसे स्वीकार किया। वह समझौते को बंगलाभाषा में भी लिखा हुआ चाहते थे। दत्त आधी रात तक बैठकर बंगला में उसे लिखते रहे और उसके लिए बंगलादेशियों की स्वीकृति प्राप्त की। लिखे हुए को छपवाने के लिए आधी रात के समय छापाखाने में भेजा गया और सुबह आठ बजे वह छपकर तैयार भी हो गया। हस्ताक्षर समारोह सुबह नौ बजे होना था।

यदि बंगबंधु अपनी सुरक्षा के बारे में थोड़ा और सतर्क होते और जीवित रहते तो भारत-बंगलादेश संबंध दो प्रभुसत्ता संपन्न स्वतंत्र मित्र पड़ोसी देशों के बीच आदर्श संबंध की मिसाल कायम कर सकता था। लेकिन बंगलादेश की सेना में फूट पड़ गयी। स्वयं राजनैतिक नेतृत्व में भी और उसके तथा सेना के बीच दरारें दिखायी पड़ने लगीं। हमेशा की तरह कुछ विदेशी शक्तियों और उनके पिछलग्गुओं ने अपनी भूमिका निभायी। बंगबंधु, उनके परिवार और उनके प्रमुख सहकर्मियों की निर्ममता से हत्या कर दी गयी।

भारत हस्तक्षेप कर के अस्थायी तौर पर स्थिति को संभाल सकता था। लेकिन श्रीमती गांधी ने ऐसा न करने का फैसला किया। बंगलादेशियों को अपनी अंदरूनी समस्या आप ही सुलझानी थी। भारत के हस्तक्षेप से स्वाभिमानी और भावुक बंगलादेश वासियों

को ठेस पहुंच सकती थी। उसके बाद बंगलादेश में क्या कुछ हुआ, यह तो अलग कहानी है और यहां उसे दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं। बहरहाल, इसमें कोई शक नहीं कि भारत और बंगलादेश को अपनी आम समस्याओं को मिलकर सुलझाने के लिए, बाहरी शक्तियों के हस्तक्षेप के बिना, निकटतम सहयोग और मित्रता के साथ अपने मतभेदों को भुला कर काम करना होगा। एक बात निश्चित मालूम देती है कि खून और आंसू बहा कर, बलिदान देकर और कष्ट उठाकर पाकिस्तान से स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद बंगलादेश-वासी अपनी खुशी से या जबर्दस्ती से फिर से पाकिस्तान का अंग बनने के लिए कभी राजी नहीं होंगे। एक संभावना यह है कि शायद कभी बंगलादेश, भारत और पाकिस्तान शांति, सहयोगिता और मित्रता का क्षेत्र बन जाय। उनकी समस्याएं एक जैसी हैं, उनकी अर्थव्यवस्थाएं, कमोवेश, एक दूसरे की पूरक हैं प्रतिद्वंद्वी नहीं। यदि वे प्रभुसत्ता की बराबरी के आधार पर, बाहरी हस्तक्षेप के बिना अपनी समस्याओं को द्विपक्षीय या त्रिपक्षीय तौर पर सुलझाने के लिए राजी हो जायें तो उन्हें कोई नुकसान नहीं, बल्कि फायदा ही फायदा है।

भारत ने धीरे-धीरे और निरंतर यही हासिल करने की कोशिश की थी। 1972 का शिमला समझौता इसी दिशा में उठाया गया एक कदम था और भारत तथा पाकिस्तान दोनों ने इसकी दोबारा पुष्टि की थी, लेकिन इसे हासिल कर पाना आसान नहीं था। इससे पूर्व कड़ी मेहनत और आपसी बातचीत हुई। जैसाकि भुट्टो ने तर्क दिया था, पाकिस्तान एक पराजित देश था। भारत की ओर से किसी भी तरह की छूट विजयी का आदेश समझा जा सकता था। इसलिए भारत को उदार होकर पाकिस्तान को इतना समय देना था कि वह अपने खोये हुए आत्मविश्वास को पुनः प्राप्त कर सके और सब कुछ ठीक हो जाने दे। ये भुट्टो की आम चालें थीं। हम दिसंबर, 1971 में सुरक्षा परिषद में दिखायी गयी उन चालों को या ताशकंद में उनकी रोड़ा अटकाने का कोशिशों को तब तक भूले नहीं थे।

वह केवल इतना ही नहीं चाहते थे कि भारत युद्ध के दौरान पाकिस्तान से जीते जितने भी इलाके थे उन्हें खाली कर दे, बल्कि 90,000 पाकिस्तानी युद्धबंदियों को भी तत्काल रिहा करदे। वह बल प्रयोग छोड़ने के लिए राजी नहीं थे (जैसाकि ताशकंद में भी हुआ था) या जम्मू और कश्मीर की सही सीमारेखा को मानने के लिए भी तैयार न थे जिससे भारत को पुरानी युद्धबंदी रेखा से अपने क्षेत्र के 400 वर्गमील और मिल जाते। वह समझौते की 33 वीं धारा के अनुसार आपसी मतभेदों को खत्म करने के लिए संयुक्त-राष्ट्र की मध्यस्थता और हस्तक्षेप चाहते थे और सबसे बढ़कर वह कश्मीर का उल्लेख तक नहीं करना चाहते थे। फिर वह उसी समय भारत से राजनयिक संबंधों की पुनर्स्थापना तो चाहते थे, लेकिन बंगलादेश को मान्यता नहीं देना चाहते थे।

भारत नियंत्रण की सही सीमा रेखा के बारे में दृढ़ रहा, यद्यपि सैनिक सलाह पर उसे 'चिकन नेक' के बदले छंब दे देना पड़ा। हमने युद्धबंदियों के मसले पर भी सख्ती बरती, क्योंकि उन्होंने भारत और बंगलादेश की मिली हुई सेना के सामने हथियार डाले थे और बंगलादेश की रजामंदी के बिना उनकी वापसी संभव नहीं थी। हमने इस बात पर जोर दिया कि यदि पाकिस्तान बंगलादेश को मान्यता देकर उससे फैसला कर लेगा तो हम ऐसा कर सकते हैं, लेकिन बंगलादेश की रजामंदी के बिना हम कुछ नहीं कर सकते। भुट्टो ने कहा कि लौटने के दो सप्ताह के भीतर ही वह बंगलादेश को मान्यता दे देंगे। हमने कहा कि हम उनकी इस कार्यवाही का स्वागत करेंगे और बंगलादेश से सलाह करने के बाद इस विषय पर गौर करेंगे।

द्विपक्षीय समस्याओं के द्विपक्षीय और शांतिपूर्ण समाधान के बारे में भी हम अटल रहे क्योंकि यही प्रस्तावित समझौते का असली मुद्दा था और इससे द्विपक्षीय मतभेदों का द्विपक्षीय और शांतिपूर्ण तरीकों से, बाहरी हस्तक्षेप के बिना, निपटारा करने का नया और बेहतर मार्ग प्रशस्त होता। हमारे अनुभवों ने दिखा दिया था कि बाहरी हस्तक्षेप से मामला और भी उलझ जाता है और समाधान में कोई सहूलियत नहीं होती।

श्रीमती गांधी से इजाजत लेकर मैंने भुट्टो को याद दिलाया कि ताशकंद में जब वह पाकिस्तान के विदेशमंत्री की हैसियत से आये थे, तो उन्होंने कहा था कि कश्मीर ही हमारे सारे मतभेदों का मूल कारण है। मैंने पूछा कि फिर अब वह उसका उल्लेख तक करने में क्यों झिझक रहे हैं। वह अपनी बनावटी मुस्कराहट के साथ बोले कि उन्हें ताशकंद की बात याद है और मेरी बात की उन्होंने पुष्टि भी की, लेकिन साथ ही यह भी जोड़ दिया कि वह ताशकंद में एक पराजित देश का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे थे जैसाकि *शिमला में कर रहे हैं।* यदि वह अब कश्मीर का उल्लेख भी करेंगे तो पाकिस्तान के लोग सोचेंगे कि उन्होंने दबाव के आगे घुटने टेक दिये हैं। "इंशा अल्लाह," उन्होंने आगे कहा, "कभी न कभी तो हम द्विपक्षीय और शांतिपूर्ण तरीकों से, दोनों पक्षों की स्वीकृत स्थिति के बारे में मन में कोई दुविधा न रखकर *अंतिम फैसले पर पहुंच ही जायेंगे।*" *प्रश्न को* जारी रखने और स्थिति के साथ देने पर संयुक्तराष्ट्र के सामने फिर से मुद्दा पेश करने का रास्ता खुला रखने का यह एक चतुर उपाय था। हमने इस बात पर जोर दिया कि कुछ न कुछ उल्लेख तो किया ही जाना चाहिए, चाहे वह उनके बताये गये तरीके से ही हो। वह राजी नहीं हुए और सुझाव दिया कि दोनों अधिकारिक प्रतिनिधिमंडल इस बारे में आगे विचार-विमर्श करें।

भुट्टो के साथ उनके महासचिव और दो सहायक, गुप्तचर विभाग के निदेशक और विशेष सहायक रजा अली और कई पाकिस्तानी संवाददाताओं के अलावा तीन मंत्री भी थे। वह अपने दल को दिखाना चाहते थे कि वह सख्ती से पेश आ रहे थे और उन्हें मौका देना चाहते थे। वे सभी जानते थे कि इस से बेहतर शर्तें प्राप्त करने में वह सफल नहीं होंगे, लेकिन अंत तक वह अपनी स्वीकृति देने में आनाकानी करते रहे। उन्होंने अपनी बात मनवाने के लिए अपने पिछलग्गुओं को हमारे प्रतिनिधिमंडल के विभिन्न सदस्यों, मंत्रियों और अधिकारियों के पास भेजा, लेकिन हम अपनी बात पर एकजुट होकर अड़े रहे। हक्सर और मैंने *अंतिम प्रारूप तैयार किया और श्रीमती गांधी अपने जिन चार* सहकर्मियों—स्वर्णसिंह, चव्हाण, जगजीवन राम और फखरुद्दीन अली अहमद को अपने साथ शिमला लाई थीं उनकी स्वीकृति प्राप्त की। फिर श्रीमती गांधी ने इस बारे में अपने सहकर्मियों से बातचीत करके अपनी स्वीकृति भी दे दी। हमें कहा गया कि हम उसे भुट्टो के पास ले जाएं, जिन्होंने उसको देखने के बाद कहा कि दोपहर के भोजन के बाद हम सूचना दे दी जाएगी। 3 बजे शाम को हमारा अधिकारिक प्रतिनिधिमंडल पाकिस्तान के अधिकारिक प्रतिनिधि मंडल से मिला। अजीज अहमद ने अपनी सदा की भूमिका निभाई और सीधे ही हमारे प्रारूप को अस्वीकार कर दिया और कहा कि उसे जान-बूझकर "पहले से भी खराब" बनाया गया है। हमने बात को आगे नहीं बढ़ाया क्योंकि हम जानते थे कि अजीज अहमद में इतना साहस नहीं था कि वह हां कह देते और केवल उनके अफसर भुट्टो ही ऐसा कह सकते थे। हमने भुट्टो के कुछ पिछलग्गुओं से कहा कि वे भुट्टो से जाकर कहें कि वह श्रीमती गांधी से मिलकर उसका फैसला कर लें। उन तक यह सूचना पहुंचा दी गई और उसी शाम 2 अगस्त, 1972 को श्रीमती गांधी से आधे घंटे की बातचीत के बाद, उन्होंने हमारे अंतिम प्रारूप को स्वीकृति दे दी। उसी रात को समझौते

पर हस्ताक्षर भी हो गए। जीते हुए पाकिस्तानी क्षेत्रों से हटने के वारे में हमारी रज़ामंदी का श्रेय भुट्टो ने लिया। वह खाली हाथ वापस नहीं जा सकते थे। कुछ नहीं से आधी रोटी ही भली थी। उन्होंने हमारे प्रारूप को इस आशा के साथ स्वीकृति दी कि अपने इस्लामी और अन्य मित्रों के माध्यम से वंगलादेश पर इस वात के लिए दवाव डाल सकेंगे कि वह 90,000 वंदियों को लौटाने के लिए राजी हो जाए। जहां तक कश्मीर से जुड़े हुए अन्य मुद्दों और द्विपक्षीय दृष्टिकोण का सवाल था, वह इंतजार करके यह देखना चाहते थे कि जरूरत पडने पर फिर से संयुक्त राष्ट्र तक पहुंचकर भी, उन्हें उनसे मुक्ति मिल सकती थी या नहीं।

पाकिस्तान लौटने के साथ ही उन्होंने फिर अपना असली रूप धारण कर लिया। भारत के खिलाफ वह क्रोध उगलने लगे और युद्धवंदियों को लौटाकर लाने की कसमें खाने लगे। उन्होंने वंगलादेश को मान्यता देने के वारे में एक शब्द भी नहीं कहा। हम धीरे-धीरे आगे वढ़ना चाहते थे और स्थिति सामान्य होने पर राजनयिक संवंधों की पुनर्स्थापना करना चाहते थे। हमने द्विपक्षीय प्रश्नों का द्विपक्षीय उत्तर खोजने के लिए वाहरी हस्तक्षेप के विना, शिमला की भावनाओं पर जोर दिया। चीन को छोड़कर सारी दुनिया ने शिमला समझौते और शिमला की भावनाओं की सराहना की। यह ताशकंद से आगे एक कदम था और उपमहाद्वीप में शान्ति और सहयोगिता स्थापित करने की दिशा में एक कदम था। दोनों पक्षों की ओर से सद्भावना रहने पर इससे समझौते के नए युग की शुरुआत हो सकती थी और पुराने झगड़े खत्म हो सकते थे।

दोनों सरकारों के अध्यक्षों और प्रतिनिधि मंडलों के वीच किसी गुप्त शर्त या समझौते, स्मरणपत्र या गोपनीय दस्तावेजों का आदान-प्रदान नहीं हुआ। यह एक खुला समझौता था जिसे खुले तौर पर स्वीकृति दी गई थी। इससे भारत की नेकनीयत का सवूत मिल गया था और युद्ध से पहले, उसके दौरान और वाद में श्रीमती गांधी की इस घोषणा की पुष्टि हुई कि पाकिस्तान के इलाकों पर कब्जा करने की हमारी कोई मंशा नहीं है। हाल ही के इतिहास में यही एकमात्र मिसाल थी जव विजयी ने शत्रु से जीते हुए क्षेत्र को युद्ध खत्म होने के आठ महीनों के भीतर वापस लौटा दिया।

कुछ अति दक्षिणपंथी दलों की राय थी कि हमें युद्ध में जीते हुए इलाकों को लौटाने के लिए राजी नहीं होना चाहिए था। ऐसा करना आसान तो होता, लेकिन इससे भविष्य में और अधिक गड़वड़ी की आशंका हो जाती। पराजित देश को कभी नीचा नहीं दिखाना चाहिए, अन्यथा वह नाजी जर्मनी के समान फिर सिर उठा सकता है। किसी-किसी ने कहा कि हमें युद्धवंदियों को लौटा देना चाहिए था। ऐसा करना वंगलादेश के साथ विश्वासघात होता। किसी-किसी ने आपत्ति की कि हमें 'चिकन नेक' के वदले छंव क्यों लौटाया, लेकिन हमारे सैनिक विशेषज्ञों ने राय दी कि तीन हिंसक संघर्षों के वाद यह क्षेत्र हमेशा एक कमजोर और अरक्षणीय ठिकाना वना रहेगा।

जम्मू और कश्मीर में अंतिम फैसले के उल्लेख और विना फिर से वाहरी हस्तक्षेप के द्विपक्षीय मतभेदों के विना किसी तरह द्विपक्षीय समाधान से संवद्ध धारा से यह आशा वंधी थी कि भारत और पाकिस्तान के वीच मैत्री की एक नई शुरुआत हो गई है। अगस्त, 1973 को उपमहाद्वीप के तीनों देशों के वीच संपन्न दिल्ली समझौते से पाकिस्तानी युद्धवंदियों की समस्या का सुखद समाधान हो गया। यह शिमला समझौते की द्विपक्षीय भावना का ही त्रिपक्षीय उपमहाद्वीपीय स्तर पर विस्तार था। उसी पर उपमहाद्वीप का भविष्य निर्भर है। यदि हम इसे शांति, मैत्री और सहयोगिता के क्षेत्र में वदल सकें तो वाकी दुनिया उपमहाद्वीप के 80 करोड़ लोगों के स्वर को ससम्मान सुनेगी। यदि पूर्वी

और पश्चिमी यूरोप, अरब जगत के देश, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका आपस में मिल जाएं तो कोई वजह नहीं कि एशिया के देश उपक्षेत्रीय स्तर पर इसकी शुरुआत न कर सकें। 'एसियान' कायम है, लेकिन अभी तक ज्यादा प्रभावी नहीं हो पाया है। यदि भारत, पाकिस्तान और बंगलादेश प्रभुसत्तासपन्न, बराबरी और साझेदारी के आधार पर अपने शांति और सहयोगिता के क्षेत्र का विस्तार कर सकें तो वे संपूर्ण दक्षिण एशिया को प्रभावित कर सकते हैं। वह दक्षिण पूर्व और दक्षिण पश्चिम एशिया के बीच शांति और समझौते का सेतु बनकर अपनी प्राकृतिक भूमिका निभा सकता है और इस क्षेत्र में महाशक्तियों की सैनिक प्रतिस्पर्धा का मुकाबला कर सकता है।

1972 के शिमला समझौते और अगस्त, 1973 के दिल्ली समझौते का मूल्यांकन संकीर्ण, अंध देशभक्ति और अस्थायी लाभ तथा हानि से नहीं करना है। बल्कि उसे विस्तृत परिप्रेक्ष्य में देखना है। उनमें महाद्वीपीय शांति और प्रगति के बीज निहित हैं, जिन्हें हम अपने आसपास पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण दिशाओं में फैला सकते हैं।

17

इंदिरा गांधी के उत्थान और पतन का अगला दौर

जनवरी, 1969 में डी० पी० धर को हमारा राजदूत बनाकर रूस भेजा गया। उनसे कहा गया कि हमें विभिन्न क्षेत्रों में सहयोगिता देने के बारे में रूसी नेताओं को संकेत दें। चीनी विस्तार और हमारे क्षेत्र में अमेरिकी घुसपैठ को रोकना दोनों के ही हित में था। उन्होंने रूसी नेताओं से व्यक्तिगत संबंध स्थापित किए। उन्हें श्रीमती गांधी का पूर्ण समर्थन और सहयोग प्राप्त था। भारत-रूस संधि के एक प्रारूप पर दो वर्ष तक बातचीत चलती रही। पहले भारत के नेतृत्व में रूस के साथ मैत्री और शांति का समझौता करने के बारे में झिझक थी। श्रीमती गांधी का झुकाव इस ओर था, लेकिन अपने सहकर्मियों के रवैये के बारे में वह निश्चित नहीं थीं। मैंने जून, 1968 को विदेश सचिव का कार्यभार संभाला था। उन्होंने मुझे रूसी नेताओं के मन की टोह लेने के लिए मास्को भेजा। मैंने बिना किसी शर्त के, उनके साथ 1970 के प्रस्तावित संधि के प्रारूप का आदान-प्रदान किया। डी० पी० ने आगे बात चलायी।

हमने इस विषय से संबद्ध विभिन्न संधियों जैसे अफगान-रूस संधि, रूस-फिनलैंड संधि, रूस-मिस्र संधि आदि का अध्ययन किया था। हमारा प्रारूप उनसे कई मायनों में भिन्न था। उसका मतलब सैनिक समझौता नहीं था। एक दूसरे के देश में सेना भेजने के बारे में दोनों में से किसी पर भी कोई बंदिश नहीं थी, न ही एक दूसरे के इलाके को अन्य द्वारा इस्तेमाल किए जाने के बारे में कोई शर्त थी। उसमें विश्व शांति और अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा को बनाए रखने और अंतर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने के लिए भारत की गुट-निरपेक्ष नीति को महत्वपूर्ण मानकर उसके प्रति सम्मान व्यक्त किया गया था। मुख्य शर्त यह थी कि "यदि दोनों में से किसी पर आक्रमण किया गया या आक्रमण की धमकी दी गयी तो दोनों तुरंत ही उस धमकी को खत्म करके शांति स्थापित करने के लिए आपस में विचार विमर्श करेंगे।" यह किसी भी देश का मौलिक अधिकार था और गुटनिरपेक्षता का अर्थ यह नहीं था कि हमें आपस में सलाह-मशविरा करने का भी हक न हो। एक अन्य शर्त यह भी थी कि दोनों में से किसी देश पर आक्रमण होने पर अन्य पक्ष उसके आक्रमक के साथ किसी प्रकार का सैनिक गठबंधन नहीं करेगा और सैनिक क्षति होने पर एक दूसरे के क्षेत्र का इस्तेमाल किसी भी काम के लिए नहीं किया जाएगा।" यह भी हमारी गुट-निरपेक्ष नीति के विपरीत नहीं था, लेकिन इससे हमें यह सुरक्षा प्राप्त होती थी कि भारत पर आक्रमण होने या आक्रमण की धमकी दिए जाने पर रूसी सहायता की संभावना थी। रूस के खिलाफ भारत द्वारा इस प्रकार की सहायता दिए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था, क्योंकि भारत तो गुटनिरपेक्ष था ही।

1970 के अंत तक इस प्रारूप को तकरीबन अंतिम रूप दिया जा चुका था, लेकिन प्रश्न यह था कि इस पर हस्ताक्षर करने का उपयुक्त मौका कौन-सा हो सकता था।

श्रीमती गांधी तब तक भी अपने सहकर्मियों और संसद की प्रतिक्रिया के बारे में निश्चित नहीं थीं।

इस दौरान बंगलादेश के मुक्ति संघर्ष की शुरुआत हुई। पाकिस्तान भारत के साथ लड़ाई मोल लेने को और भी अधिक उत्सुक दिखायी पड़ने लगा। डी० पी० और मैंने इसी को उपयुक्त मौका समझा। हमने हक्सर से सलाह मांगी। उन्होंने कहा कि यह प्रधानमंत्री की इच्छा पर निर्भर है। हम उनके पास गए और तब भी वह यह सोचती रहीं कि उनके सहकर्मी इसके प्रति कैसी प्रतिक्रिया व्यक्त करेंगे। उन्होंने इसे राजनैतिक मामलों की समिति के सामने पेश करने का फैसला किया। वे भी पूरी तरह सहमत थे। फैसला किया गया कि रूसी सरकार को सूचित किया जाए कि संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए उन्हें किसी प्रतिनिधि को दिल्ली भेजना होगा। उन्हें थोड़ा आश्चर्य तो हुआ होगा, लेकिन वे झिझके नहीं। ग्रोमिको पधारे और मंत्रिमंडल से अनुमोदित होने के बाद उन्होंने और स्वर्णसिंह ने 9 अगस्त, 1971 को संधि पर हस्ताक्षर किए।

इसे संसद और देश ने पूर्ण समर्थन दिया। कुछेक को छोड़कर सबने इस संधि की सराहना की। बंगलादेश की सहायता करने में भारत अकेला नहीं था। यह चीन और अमेरिका के लिए एक चेतावनी थी कि वे उपमहाद्वीप पर नजर न रखें। यद्यपि चीन ने थोड़ी बहुत आवाज उठायी लेकिन वास्तव में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। अमेरिका मुखर था और उसने भारत और बंगलादेश को आतंकित करने की आशा से बंगाल की खाड़ी में अपना सातवां बेड़ा तैनात कर दिया लेकिन उसका उलटा ही असर हुआ। सातवें बेड़े को बंगलादेश पर उतरने की हिम्मत नहीं हुई, क्योंकि उन्हें मालूम था कि रूसी पनडुब्बियां उनका पीछा कर रही थीं। भारत तब तक 'गाजी' पनडुब्बी को डुबो चुका था, जिसे अमेरिका ने पाकिस्तान को भेंट किया था फिर अमेरिका और लगभग सारी दुनिया का जनमत निक्सन के इस जोखिम से भरी नीति के खिलाफ था।

दिसंबर, 1971 में बंगलादेश की विजय और पाकिस्तान की पराजय का श्रेय किसको दिया जा सकता है? सबसे पहले तो बंगलादेश की साहसी मुक्ति सेना और जनता को इसका श्रेय है, जिन्होंने अपने संघर्ष के दौरान लगभग 30 लाख प्राणों की बलि दी। उसके बाद भारत की जनता को है, जिन्होंने भारी मूल्य चुकाकर बंगलादेश के अपने उत्पीड़ित भाइयों का साथ दिया। अंत में लेकिन सबसे बढ़कर भारत की थल सेना, नौसेना और वायुसेना को है, जिन्होंने अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए खूब दिलेरी से युद्ध लड़ा।

उस समय स्वर्ण सिंह विदेशमंत्री थे। मुझे अब तक कोई अन्य विदेशमंत्री उनके जैसा संतुलित, स्थिर और सामान्य बुद्धि वाला दिखायी नहीं पड़ा है। उनके साथ काम करना एक सुखद अनुभव था। भारत-पाक युद्ध के छह दिन बाद मैं उनके साथ संयुक्तराष्ट्र गया। संयुक्तराष्ट्र महासभा में तब तक, 104 मतों से, तत्काल युद्धबंदी और सेना हटाने का प्रस्ताव स्वीकृत हो चुका था। 9 दिसंबर, 1971 को जब हम न्यूयार्क पहुंचे तब तक यह मामला सुरक्षा परिषद में पहुंच चुका था। स्वर्ण सिंह, जी० पार्थसारथी, समरसेन (संयुक्तराष्ट्र में हमारे स्थायी प्रतिनिधि) और मैं सौ से भी अधिक प्रतिनिधि मंडलों के अध्यक्षों से मिले। अधिकांश ने, जिनमें पाकिस्तान के कुछ मित्र भी शामिल थे, यही उम्मीद व्यक्त की कि इस युद्ध का अंत बहुत जल्दी हो जाएगा। उन्होंने अप्रत्यक्ष तौर पर यह बात भी कही कि गलती पाकिस्तान की ही है। उन्होंने कहा कि जितनी जल्दी हम विजय प्राप्त करें भारत और पाकिस्तान के लिए उतना ही अच्छा होगा। उन्होंने महसूस किया कि पाकिस्तान के खिलाफ पासा पलट चुका है और इससे पूर्व संयुक्तराष्ट्र महासभा में प्रस्ताव पर मत देने के कारण वे शर्मिंदा थे।

बहरहाल, अमेरिका और चीन सुरक्षा परिषद में भारत पर दबाव डालने की पूरी कोशिश कर रहे थे। रूस और युगोस्लाविया हमारे पक्ष में थे। फ्रांस और ब्रिटेन ईमानदार बिचौलिए की भूमिका अदा करने की चेष्टा कर रहे थे।

श्रीमती गांधी की मौके की पहचान, उनकी चतुराई और सही मूल्यांकन, संकट के दौरान उनका नेतृत्व, इन सबसे उनकी विशिष्ट क्षमता उजागर हुई। इस मायने में वह कुछ हद तक खुश-किस्मत थी कि पाकिस्तान ने युद्ध के लिए उकसाया था। यह एक गलत मुल्क के खिलाफ गलत जंग थी, जो कि गलत मकसद के लिए गलत समय पर लड़ी गयी थी। भारत के राजनैतिक प्रतिद्वंद्वी भी इस बात को स्वीकार नहीं कर सके कि उसने कठिन परिस्थिति में बुद्धिमानी और कुशल नेतृत्व का परिचय दिया। उसमें लगातार धैर्य, अध्यवसाय, स्थिरता और आत्मविश्वास बने रहे और वह समूचे संकट के दौरान न तो डगमगाया और न ही उसने कोई गलत कदम उठाया। उसके द्वारा युद्धबंदी की एकतरफा घोषणा ने श्रेष्ठतम राजनीतिमत्ता की मिसाल कायम कर दी। उससे विदेशों में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ी और पड़ोसियों के मन की आशंका और संदेह दूर हुए। क्या भविष्य में भी श्रीमती गांधी ऐसी ही उच्चस्तरीय मिसाल कायम करती रहेंगी? क्या वह लोकतांत्रिक तरीकों से एक विकासशील देश आर्थिक प्रगति के साथ सामाजिक न्याय का, गुट-निरपेक्षता के साथ शांति और सहयोगिता का सम्मिश्रण किस प्रकार करता है, इसकी मिसाल कायम करने के लिए भारत द्वारा अदा की गयी स्वाभाविक भूमिका का नेतृत्व करने के इस अभूतपूर्व अवसर से क्या वह पूरा लाभ उठायेंगी?

पाकिस्तान पर निश्चित विजय प्राप्त करने के बाद, बंगलादेश के प्रति उनकी नीति की सफलता, संसद और अधिकांश प्रदेशों में दो तिहाई का सुखद बहुमत, इन सबसे श्रीमती गांधी के सामने एक अभूतपूर्व अवसर था कि वह देश की तात्कालिक जरूरत—सामाजिक और आर्थिक सुधार और विदेश नीति को सुदृढ़ बनाने के कामों को पूरा करने के लिए अपनी स्थिति और शक्ति का उपयोग करें। हमारे सामने तत्काल ही किसी बाह्य आक्रमण का खतरा नहीं था, यद्यपि हमारी थलसेना, नौसेना और वायुसेना को आधुनिक शस्त्रों और पुराने साज-सामान के बदले नए साज-सामान की आवश्यकता थी। कुछ समय के लिए तो ऐसा महसूस हुआ कि इंदिरा गांधी उन सभी आशाओं को पूरा करेंगी जो उन्होंने लोगों के मन में जगायी थीं और अपने वायदों को अपने पिता के मुकाबले और भी अच्छी तरह निभायेंगी। वह बिना किसी मुश्किल के बैंक राष्ट्रीयकरण और राज-परिवार विशेषाधिकार विधेयकों को पारित करने में सफल हुई थीं। शहरी और ग्रामीण संपत्ति की भी सीमा निश्चित कर दी गयी। सार्वजनिक क्षेत्रों को सुदृढ़ बनाया गया और इस्पात के उत्पादन को एक समन्वयकारी संस्था भारतीय इस्पात प्राधिकरण लि० के सुपुर्द कर दिया गया। केंद्रीय सरकार में उन्होंने कुछ प्रगतिशील और अल्पवयस्क लोगों को शामिल किया।

अधिकांश प्रदेशों में प्रशासन सुचारू रूप से नहीं चल रहा था। छात्रों और श्रमिकों में असंतोष था, रोजमर्रा इस्तेमाल की जाने वाली चीजों के भाव बेतहाशा बढ़ रहे थे, एक के बाद एक, दो फसलें नष्ट हो जाने से अन्न की कमी हो गयी थी और अधिकांश विरोधी दलों और नेताओं में निराशा की भावना व्याप्त होने के कारण कानून और व्यवस्था की स्थिति खराब थी तथा कालाबाजारिये और जमाखोर मौके का फायदा उठाते हुए बहती गंगा में हाथ धो रहे थे। इंदिरा गांधी के खिलाफ राजनारायण द्वारा दायर की गयी याचिका पर इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय और 12 जून, 1975 को गुजरात में संपन्न चुनावों के परिणाम की घोषणा से विरोधियों को प्रोत्साहन मिला और सत्ताधारी

दल चिंतित हो उठा और अपने को असुरक्षित महसूस करने लगा।

1975 के मई-जून में मैं थोड़े समय के लिए भारत आया था और 26 जून की सुबह, आकाशवाणी द्वारा, देश में आपातकालीन स्थिति घोषित होने की खबर सुनी थी। उस समय तात्कालिक प्रतिक्रिया मिली-जुली थी। आम नागरिक ने सोचा कि इससे उन्हें विघटनकारी शक्तियों और अव्यवस्था में थोड़ी बहुत राहत मिलेगी, जरूरी चीजों के दामों में स्थिरता आएगी और कालेबाजार तथा तस्करी पर नियंत्रण हो जाएगा। ग्रामीण इलाकों की अधिकांश जनसंख्या जीवनयापन के निम्नतम स्तर से भी नीचे जी रही थी। बुद्धिजीवियों और प्रेस को सेंसर से एतराज था। प्रशासन को आशा थी कि उनका अधिकार क्षेत्र और विस्तृत हो जाएगा और सरकारी नीतियों और योजनाओं को लागू करने में उन्हें अधिक छूट मिल जाएगी। सेना को अलग रखा गया था और उसका कोई उलझाव नहीं था।

मैंने 29 जून, 1975 को अमेरिका छोड़ा। आपातकाल के प्रति अमेरिकी प्रेस की प्रतिक्रिया तीखी और आलोचनात्मक थी। अमेरिकी प्रशासन बड़ी समझदारी के साथ चुप्पी साधे रहा। हमें आधिकारिक सूत्रों से प्राप्त अल्प सूचनाओं और सेंसर किए गए समाचारों के आधार पर ही बहुत से प्रश्नों का उत्तर देना पड़ा। 'न्यूयार्क टाइम्स' के मध्य पृष्ठ पर प्रकाशित एक लेख में मैंने लिखा था कि भारत की समस्याओं को भारत में रहने वाले भारतवासी ही सुलझायेंगे, न कि अन्य कोई इन्हें सुलझाएगा। मैंने सार्वजनिक तौर पर यह भी कह दिया था कि आपातकाल के अंदाज को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वह अस्थायी ही होगा और वर्षों बाद नहीं बल्कि कुछ ही महीनों में चुनाव करवाए जाएंगे। यह मेरा व्यक्तिगत विश्वास था, जिससे कई लोग सहमत नहीं थे।

आपातकाल के पहले छह महीनों में ऐसा लगा कि आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ है, भावों में स्थिरता आयी है, तस्करी, कालाबाजारी और अव्यवस्था पर रोक लग गयी है। घाटे के खाते में सत्ताधारी दल को अपने ऊपर जरूरत से ज्यादा विश्वास हो गया और जनसाधारण से उसका संपर्क टूट गया। प्रशासन सत्तावादी हो गया और पुलिस कभी-कभी अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर आचरण करने लगी। सेंसर किया हुआ प्रेस इसके बारे में समाचार नहीं छाप सका और जनता, कमोबेश, इस बारे में बेखबर रही। सत्ता के गलत इस्तेमाल की सबसे भयानक मिसाल नसबंदी कार्यक्रम था जिसे कुछ उत्तरी प्रदेशों में निहायत ही बेदर्दी और जघन्य तरीके से लागू किया गया। इससे अधिकांश लोगों के मन में घृणा पैदा हो गयी और मार्च, 1977 के संसदीय चुनावों में सत्ताधारी दल की पूर्ण पराजय के लिए यही कार्यक्रम जिम्मेदार था।

मैं दिसंबर, 1975 में फिर भारत आया। नेहरू की नीतियों और आदर्शों में विश्वास करने वाले और श्रीमती गांधी का भला चाहने वाले कुछ लोगों ने दिसंबर, 1975 के अंत में उन्हें आपत्कालीन स्थिति को रद्द कर देने और 1976 के प्रारंभ में चुनाव करवाने की सलाह दी। वह अपनी तरफ से तो ऐसा करने के लिए राजी जान पड़ती थीं, लेकिन संसद के बहुत से कांग्रेसी सदस्यों और राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने उन्हें ऐसा करने के विपरीत सलाह दी। सत्ता में बने रहकर वे अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति करना चाहते थे। बहरहाल श्रीमती गांधी ने मार्च, 1977 में चुनाव करवा कर साहस का परिचय दिया। उनका अन्य लोगों से मतभेद था, लेकिन उन्होंने अपनी इच्छा को सर्वोपरि रखा। शायद, विरोधियों और अन्य लोगों की तरह, उन्होंने भी सोचा था कि दो तिहाई बहुमत से न सही लेकिन संसद में स्पष्ट बहुमत प्राप्त करके वह सत्ता में लौट आयेंगी। उनके सही गलत हिसाब-किताब की बात दीगर, लेकिन जनता की इच्छा जानने का मौका देने का

अपना वायदा पूरा करने के लिए उन्होंने जो राजनैतिक जोखिम लिया, उसके लिए उनकी सराहना की ही जानी चाहिए।

क्या श्रीमती गांधी और उनके दल का सत्ताच्युत होना एक स्थायी बात होगी या अस्थायी बात होगी। राजनीति में तो कुछ भी स्थायी नहीं होता।

वर्तमान की अस्थिर और उलझावपूर्ण स्थिति में कोई भी निश्चित और सही रूप से भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि निकट भविष्य में क्या होगा। सत्ता कौन धारण करता है, यह बात महत्वपूर्ण नहीं। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि भावनात्मक स्तर पर देश का एकीकरण होना चाहिए, केंद्र और राज्यों को आपस में सहयोग करना चाहिए और एक दूसरे का विरोध नहीं करना चाहिए। जातिवाद, छूआछूत और कुछ जातियों का अन्य जातियों द्वारा शोषण, न केवल कागजी तौर पर, बल्कि वास्तव में खत्म करना चाहिए। कृषि और औद्योगिक श्रमिकों के लिए आवश्यकतानुसार न्यूनतम मजदूरी का ध्यान रखते हुए आर्थिक उत्पादन और उत्पादक क्षमता में वृद्धि होनी चाहिए। अंत में सबसे बढ़कर बुद्धिजीवियों, युवाओं और जनसाधारण की भावनाओं को इस प्रकार उभारना चाहिए कि उन्हें भी देश के निर्माण में भागीदारी का एहसास हो और उनके स्वर की सुनवाई होनी चाहिए, रोजगार के लिए पर्याप्त अवसर मिलने चाहिए और रहन-सहन का एक सही स्तर होना चाहिए।

जो भी दल और उसका जो भी नेता अल्प समय में सर्वसाधारण के लिए न्यूनतम योजना को लागू करने की क्षमता रखता हो, वही सत्ता में आने का हकदार हो सकता है। दल का प्रतीक इतना महत्वपूर्ण नहीं होता, बल्कि कार्यक्रम और उम्मीदवारों का व्यक्तित्व अधिक महत्वपूर्ण होता है। सुविधाभोगी लोगों या तबकों की बनिस्वत आम आदमी और उसके हितों की ज्यादा अहमियत है। यह परिवर्तन निश्चित ही आएगा और सोच के मुताबिक देर से नहीं, बल्कि जल्दी ही शांतिमय और लोकतंत्रीय तरीकों से आएगा।

18
निक्सन का अमेरिका

मुझे 1972 के अंत में अवकाश लेना था और मैंने चार महीने की अर्जित छुट्टी ली—जैसा कि मैंने पहले कभी नहीं किया था। लेकिन ऐसा होना नहीं था। मुझे बुलवाकर पूछा गया कि मैं भारत के राजदूत की हैसियत से अमेरिका जाना चाहूंगा या नहीं। मेरी पहली प्रतिक्रिया तो यही हुई कि मैं इनकार कर दूं। पी० एन० हक्सर और स्वर्ण सिंह ने मुझे बताया कि प्रधानमंत्री चाहती हैं कि मैं जाऊं और मुझे मना नहीं करना चाहिए। मैं प्रधानमंत्री से मिला। उन्होंने कहा कि वह ऐसे किसी व्यक्ति को भेजना चाहती हैं जो निक्सन प्रशासन की बराबरी कर सके और अमेरिकी लोगों, विशेषकर बुद्धिजीवियों और युवाओं से मैत्री स्थापित कर सके। मैंने कहा कि मैं इस काम के लिए स्वयं को काबिल नहीं समझता, क्योंकि मैं कुछ अमरीकियों की नजरों में रूस समर्थक हूं। मैंने कुछ जाने-माने भारतवासियों के नाम सुझाए, जो निक्सन प्रशासन के साथ बेहतर तालमेल बैठा पायेंगे। उन्होंने कहा कि वह इन लोगों को नहीं भेजना चाहती और चीन, रूस, ब्रिटेन, दक्षिण पूर्व और दक्षिण पश्चिम एशिया में तथा चार वर्ष विदेश सचिव रहकर मैंने जो अनुभव प्राप्त किए हैं, उनसे मुझे हर चीज को सही परिप्रेक्ष्य में देखने में सहायता मिलेगी। उन्हें इस बात की परवाह न थी कि कुछ अमेरिकी मेरे बारे में क्या सोचते हैं। उन्हें मालूम था कि मैं भारत समर्थक हूं और अन्य किसी देश का समर्थक या विरोधी नहीं हूं। मैंने पूछा कि क्या मैं उनके पूर्ण विश्वास और समर्थन की उम्मीद रख सकता हूं? वह मुस्कराकर बोलीं कि यदि ऐसा न होता तो वह मुझसे पूछती ही क्यों। मैंने कहा कि मैं सोचने के लिए दो-एक दिन की मोहलत चाहता हूं और उसके बाद उन्हें अपना जवाब दूंगा।

मैंने कुछ घनिष्ठ मित्रों से सलाह ली। उन्होंने मुझे इस पद को स्वीकार करने के लिए कहा। हक्सर के प्रति मेरे मन में बहुत सम्मान था और मैं उनकी राय की कद्र करता था। वह निष्ठावान और महान क्षमतावान व्यक्ति हैं। जब मैं विदेश सचिव था और वह प्रधानमंत्री के प्रमुख सचिव थे, तब हम दोनों बड़ी निकटता से एक साथ काम करते थे। अधिकांश मुद्दों पर हम दोनों के विचार एक से होते थे और अक्सर हम एक दूसरे से सलाह लिया करते थे। भारत-रूस संधि, भारत-बंगलादेश संधि और शिमला समझौते के दौरान हममें निकटता और भी बढ़ी। हक्सर मुझे अमेरिका क्यों भेजना चाहते थे जब कि उन्हें भारत में ही रहना था? मैंने उनसे इस बारे में प्रश्न किया। अपनी आदत के मुताबिक उन्होंने कुछ देर तक सोचा (जब उन्हें सोचने की भी जरूरत नहीं पड़ती थी और जवाब उन्हें मालूम होता था, तब भी वह अन्य व्यक्ति को यही अहसास दिलवाना चाहते थे कि उन्होंने उसकी बात को गौर से सुना है और बेकार टालने के लिए कोई भी जवाब उन्होंने नहीं दिया है)। कुछ देर बाद वह बोले कि वह मेरी दुविधा का कारण भली प्रकार समझते हैं और उसको मान भी देते हैं। लेकिन मुझे बिना किसी दुविधा के अमेरिका चला जाना चाहिए। वह भी कुछ समय से कार्यजीवन से मुक्ति चाह रहे थे, लेकिन क्योंकि प्रधानमंत्री को उनकी जरूरत थी इसलिए वह टिके हुए थे। इसलिए मैं क्यों मना करूं? इससे उनकी युक्ति को बल मिला। मैंने श्रीमती गांधी को अपना फैसला सुना दिया और

यह भी कह दिया कि मैं या वह कभी भी यदि यह महसूस करें कि मैं उस पद के लिए सही व्यक्ति नहीं था तो वह मुझे वापस बुला लें या मुझे लौट आने दें।

मैं फिर अमेरिका के लिए रवाना हुआ, जहां मैं इससे 25 वर्ष पहले काम कर चुका था। तब ट्रूमैन राष्ट्रपति थे और अब निक्सन। उस समय अमेरिकी कोरिया में उलझते जा रहे थे और इस समय वे वीएतनाम में बुरी तरह फंसे हुए थे। उस समय अमेरिका एकमात्र परमाणु शक्ति सम्पन्न देश था, लेकिन अब उसकी बराबरी करने के लिए रूस भी तैयार हो चुका था और ब्रिटेन, फ्रांस और चीन भी अणु बमों का विस्फोट कर चुके थे।

भारत उस समय एक गुटनिरपेक्ष, शांतिपूर्ण, लोकतांत्रिक देश के रूप में उभर रहा था। अब शायद वह सबसे महत्वपूर्ण गुटनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक और विकासशील देश बन चुका था। लेकिन सबसे बढ़कर हमारी अंदरूनी समस्याएं बद से बदतर हो चुकी थीं। क्या अमेरिकी सहायता दोबारा दिए जाने पर हमें उसकी आवश्यकता थी? क्या निक्सन के अमेरिका के लिए यह संभव था कि वह भारत की गुटनिरपेक्षता की नीति को मान देकर उसके प्रति आयी बेरुखी को खत्म कर दे? क्या भारत निक्सन के अमेरिका के साथ तालमेल बैठा पाएगा?

जब मैंने मई, 1973 को अमेरिका के लिए उड़ान भरी तो यही कुछेक प्रश्न मेरे मन में थे। राजनय में राष्ट्रीय हित और राष्ट्रीय नीति के मूल सिद्धांतों के अलावा कुछ भी स्थायी नहीं होता। विश्व में तेजी से बदलती हुई परिस्थितियों के कारण किसी भी देश के लिए, चाहे वह बड़ा, मध्यम आकार का या छोटा क्यों न हो, एक ही लीक पर चलना संभव नहीं है। अन्य देशों और सरकारों के साथ संपर्क बढ़ाना और आपसी समझौते की परिधि को विस्तृत करना बहुत जरूरी है। एक राजदूत का कर्त्तव्य होता है कि वह जिस देश में भेजा जाए वहां की जनता और सरकार के सामने अपने देश की छवि बनाने का प्रयत्न करे और अपनी सरकार की नीतियों को ईमानदारी के साथ प्रतिपादित करे। उसे जहां तक संभव हो, दोनों देशों के संबंधों को सुधारने की कोशिश देश के राष्ट्रीय हितों और मूल सिद्धांतों को ध्यान में रखकर करनी चाहिए।

मैं खुले मन से अमेरिका गया और यथासंभव भला करने का फैसला किया। विदेश सचिव की हैसियत से मैं गृह सचिव विलियम रोजर्स, उनके अवर सचिव सिस्को और निक्सन के राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार हेनरी किसिंगर जैसे गृहविभाग के वरिष्ठ लोगों से मिल चुका था। जब निक्सन 1968 में गैर आधिकारिक तौर पर और राष्ट्रपति की हैसियत से 1969 में गुआम जाते हुए यहां रुके थे तो मैं उनसे मिला था। जब श्रीमती गांधी 1971 में अमेरिका गयी थीं, तब भी मैं उनसे मिला था।

लेकिन ये बैठकें अल्पकालिक और औपचारिक थीं। हमने वीएतनाम, चीन, रूस जैसे कई मुद्दों पर बातचीत की थी और इनके बारे में हमारे बीच मतभेद भी थे। उस समय मैं विदेश सचिव था और उनसे अधिकार के साथ बातचीत कर सकता था। क्या राजदूत की हैसियत से मैं ऐसा ही कर सकूंगा? उन्हें मालूम था कि मेरी सरकार और प्रधानमंत्री को मुझ पर पूरा भरोसा था।

जब मैंने व्हाइट हाउस (अमेरिकी राष्ट्रपति का निवास स्थान) में अपना परिचय-पत्र पेश किया तो निक्सन गहरे नीले रंग का सूट पहने हुए थे और मैं अपने गलाबंद काले सूट में था। वह मुस्करा रहे थे और जब प्रेस के फोटोग्राफर हमारी तस्वीर उतारने लगे तो उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा, "हम पुराने मित्र हैं। यह एक महान देश से आए हैं।" उस समय हमारे बीच चल रहे तनावपूर्ण संबंधों को देखते हुए मुझे यह

टिप्पणी कुछ-कुछ नकली जान पड़ी लेकिन फिर भी मैंने अपने मन में कोई बात नहीं आने दी। परिचयपत्र देने के बाद जब मैंने उनसे दस मिनट तक बातचीत की तो वहां अन्य कोई भी उपस्थित न था। मैंने उनसे स्पष्ट रूप से कह दिया कि जब तक वह पी० एल० 480 कोष को रास्ते से हटाने के लिए तैयार नहीं होते भारत-अमेरिकी संबंध सुधर नहीं सकेंगे। उन्होंने वायदा किया कि वह तुरंत आदेश जारी कर देंगे, ताकि यह मामला मैत्रीपूर्ण तरीके से सुलझाया जा सके।

जब भी मैं कहीं राजदूत रहा या दिल्ली में विदेश सचिव था, तो मैंने हमेशा वरिष्ठ और कनिष्ठ अधिकारियों तथा सभी कर्मियों से नियमित रूप से मिलने के नियम का पालन किया था। इससे मुझे बहुत फायदा हुआ और मेरा विश्वास है कि इससे दूतावास परिवार को एकत्रित रखना संभव हो सका और हर सदस्य में योगदान की भावना बनी रही। मैंने व्हाइट हाउस विदेश विभाग, रक्षा, वाणिज्य, वित्त तथा अमेरिकी सरकार के अन्य विभागों और प्रचार माध्यमों, विश्वविद्यालयों तथा सबसे बढ़कर अमेरिका के भारतीयों के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करने का फैसला किया। मैंने हवाई और पुएर्टोरिको सहित अमेरिका के 50 में से 44 राज्यों का दौरा किया लेकिन समय की कमी के कारण अलास्का न जा सका। मैंने लगभग 100 कालेजों और विश्वविद्यालयों, 12 वाणिज्य मंडलों और कई प्रतिष्ठित क्लबों, विदेश संबंध समितियों तथा विश्व मामलों की परिषदों को संबोधित किया था। जहां भी मैं जाता, वहीं मुझे संवाददाता सम्मेलनों में बोलना पड़ता था और हर जगह मुझे टेलीविजन के पर्दे पर भी आना पड़ता था। मुझे वाशिंगटन में नेशनल प्रेस क्लब की ओर से संबोधित करने का निमंत्रण दिया गया था, जो कि मेरे देश के लिए सम्मान माना गया। जहां भी मैं गया वहां के प्रकाशकों, संपादकों और राष्ट्रीय, क्षेत्रीय तथा स्थानीय समाचारपत्रों के राजनयिक संवाददाताओं से मेरी मुलाकात हुई। भारतीय संगठनों और भारतीय छात्र संगठन हमेशा मुझे अपने यहां बोलने की दावत देते थे।

मैंने इन बातों का उल्लेख इसलिए किया ताकि पाठकों को इस बात का अंदाजा मिल जाये कि अमेरिका में भारतीय राजदूत को क्या कुछ करना पड़ता है। मैं हर महीने 10 से 15 दिन दौरे पर रहता था और अधिकतर विमान से यात्रा करता था। अमेरिकी लोगों के विभिन्न तबकों से मुलाकात करके मैं उनकी सोच और भावनाओं को समझ गया था। कभी-कभी मैं सोच में पड़ जाता था कि क्या अमेरिका सचमुच एक ही देश है। बाइबिल में आस्था रखने वाले दक्षिण के धर्मनिष्ठ लोग, बोस्टन के ब्राह्मण और पूर्व के श्वेत आंग्ल-सैक्सन प्रोटेस्टेंट, उत्तर और मध्य पश्चिम के तगड़े, मजबूत, मेहनती लोग तथा उदार, स्वच्छंद और आरामपसंद पश्चिम के निवासी तथा प्युएर्टोरिको और हवाई जैसे जातीय राज्य—इन सबके मेल से बना है महान अमेरिका। इसे भारत की तरह, एक देश न कहकर उपमहाद्वीप कहा जाये तो ज्यादा ठीक होगा, यद्यपि यह आकार में भारत से तीन गुना बड़ा है और यहां की जनसंख्या भारत की जनसंख्या का एक तिहाई है।

यह एक राष्ट्र के रूप में कैसे बना रहा? संचार व्यवस्था, एक जैसा रहन-सहन (टेलीविजन, रेडियो, मोटरगाड़ी, पेट्रोल के स्टेशन, दवाइयों की दूकानें, यंत्रीकृत कृषि; साधन संपन्न पुस्तकालय, सुंदर अहाते आदि), जनसाधारण के प्रत्यक्ष मतों से चुने गये राष्ट्रपति, बातचीत की एक ही भाषा (अमेरिकी अंग्रेजी, यद्यपि कुछ इलाकों में स्पेनी और फ्रांसीसी भाषाएं भी बोली जाती हैं), मानकीकृत मुक्त बाजार की अर्थव्यवस्था (जिसमें कुछ हद तक सरकारी नियंत्रण और मूल तथा भारी उद्योगों में नियमन), ये सभी

कुछ वहां मौजूद थे, पर इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कुछ और भी था, जो जातिगत, क्षेत्रीय और अन्य भेदों के बावजूद उन्हें एक साथ बांधे हुए था। शायद अभिनव परिवर्तन और शोध की इच्छा, 1776 की भावना, अमेरिकी स्वाधीनता संग्राम, किसी अन्य शक्ति के आगे न झुकने का इरादा और ये सभी बातें थीं। अमेरिका विस्तृत प्राकृतिक साधन, विकसित विज्ञान और टेक्नालाजी, मेहनती और बुद्धिमान लोगों के कारण संपन्न है। प्रत्येक के लिए ऊंचे से ऊंचा पहुंचने के अवसर मौजूद हैं। इसी कारण से वे व्यस्त और कर्मठ रहते हैं।

प्राचुर्य के बीच सामाजिक और जातीय तनाव, बड़ी संख्या में बेरोजगारी और अपराधों की भरमार पर भी मेरी नजर पड़ी। अश्वेतों, मेक्सिको की एक जाति (वेट बैक्स) और अमेरिका के रेड इंडियन जाति के लोगों के साथ, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में भेदभाव बरता जाता था, यद्यपि यह कोई आधिकारिक सरकारी नीति नहीं थी। इनके प्रति ठीक उसी प्रकार का व्यवहार किया जाता था जैसा भारत के अछूतों के साथ किया जाता था। लोगों का जीवन स्तर ऊंचा था। हर परिवार के पास कम-से-कम एक और कभी-कभी दो मोटरगाड़ियां, टेलीविजन, रेडियो और रिहायशी मकान तो निश्चित ही होता था। समाज के उंचे स्तर तक पहुंचने के लिए भगदड़ मची रहती थी और जबर्दस्त प्रतिस्पर्द्धा और अत्यधिक मानसिक तनाव का बोलबाला था।

ऐसा मालूम देता था जैसे पैसा ही परमपूजनीय चीज थी और सर्वत्र उसी का शासन चल रहा था। पैसा होने पर बहुत सी बातें माफ हो जाती थीं। इससे प्रभाव और शक्ति खरीदे जा सकते हैं। बहुत से स्थानों पर, ऊपर के और निचले स्तरों पर भ्रष्टाचार पनप रहा था। उचित मूल्यों, अच्छे वेतन और जीवन के मूलभूत सुख-साधन के रहते लोगों को उसके बारे में विशेष परवाह नहीं थी। वे बहुत कुछ सहन करते थे लेकिन जब अमेरिका के राष्ट्रपति का सवाल आता तो वे आशा करते थे कि वह अति मानव होंगे, जो किसी प्रकार का अन्याय नहीं कर सकते। उनमें थोड़ी सी खामी या मानवोचित कमजोरी देखकर सारा राष्ट्र कांप उठता था। वे अपने राष्ट्रपति को कुछ-कुछ वैसी ही नजरों से देखते थे जैसे कि ब्रितानी अभी तक अपने सम्राट को देखते हैं—शायद यह पुराने दिनों से ही चला आ रहा था।

वॉटरगेट संकट ने सारे राष्ट्र को जकड़ लिया और देश के राजनीतिक ढांचे को अस्तव्यस्त-सा कर दिया। उससे एक चकित कर देने वाली स्थिति का पता चल गया। उससे अमेरिकी व्यवस्था की कमजोरी और खामियों पर से पर्दा हट गया। उससे अमेरिका के लोकतंत्र में विश्वास का औचित्य सिद्ध हो गया, जो कि, मेरे विचार में, इस संकट के कारण और भी स्वच्छ और दृढ़ रूप में सामने आया—चाहे ऐसा अगले कुछ समय के लिए ही हुआ हो।

अधिकांश लोग वॉटरगेट के रहस्योद्घाटन से दंग रह गये थे, लेकिन वे अपने राष्ट्रपति को अपमानित या राष्ट्रपतित्व को कमजोर होते देखना नहीं चाहते थे। जब फोर्ड ने निक्सन को क्षमा कर दिया तो उन्होंने चैन की सांस ली। कुछ लोगों ने संदेह व्यक्त किया और कुछ ने यह संकेत दिया कि निक्सन के त्यागपत्र देने से पूर्व निक्सन और उनके उप-राष्ट्रपति के बीच एक समझौता हुआ था। इससे राष्ट्रपति के चुनाव में फोर्ड को कुछ हजार मत कम मिले होंगे, लेकिन उनका इससे अधिक कुछ नहीं बिगड़ा।

लोग, कमोबेश, निक्सन और वॉटरगेट का किस्सा समाप्त होने पर प्रसन्न ही हुए और वे फिर से अपनी रोजमर्रा की जिंदगी और काम में जुट गये। यह अमेरिकी चरित्र का एक विशेष गुण है। यदि कोई प्रभावशाली व्यक्ति उनकी प्रतिष्ठा को ठेस

पहुंचाता है तो वे निष्ठुर हो सकते हैं और उनमें बदले की भावना आ जाती है, लेकिन उसे पदच्युत कर देने के बाद वह उदार और क्षमाशील भी हो सकते हैं। व्यस्तता के कारण वे बुरे सपनों को अधिक समय तक याद नहीं रख सकते और जल्दी-से-जल्दी अपने-अपने काम में लग जाते हैं।

निक्सन प्रशासन की जो यादें बनी हुई हैं, उनके अनुसार अमेरिकी लोगों के विपरीत उसमें बदले और विद्वेष की भावना थी, वह कठोर हृदय और क्रूर, दंभी और दबंग, शारीरिक और मानसिक दृष्टि से भी बेरहम तथा अन्य राष्ट्रों की भावनाओं और स्वाभिमान के प्रति उदासीन था। अन्यथा वीएतनाम और बंगलादेश के बारे में निक्सन की नीति को किस तरह समझाया जा सकता है?

कुछ लोग सोचते हैं कि वह निक्सन की नहीं बल्कि हेनरी किसिंगर की नीति थी। मैं ऐसा नहीं मानता। मुझे याद है कि एक बार मैंने किसिंगर के सामने सुझाव रखा था कि वह निक्सन को "युद्ध का वीएतनामीकरण" की बजाय "शांति का वीएतनामीकरण" नारा इस्तेमाल करने के लिए राजी करवायें, जिसकी घोषणा उन्होंने बड़े जोर शोर से की थी। किसिंगर ने कहा था कि यह विचार तो अच्छा है और वह उसे अपने राष्ट्रपति के सामने रखेंगे। जब अगली बार मैं उनसे मिला तो उन्होंने कहा कि निक्सन उसे मुंह भी नहीं लगायेंगे। एक विशेषज्ञ की हैसियत से वह निक्सन के अंतिमत फैसलों को अपनी प्रतिभा और कार्यकुशलता का सहारा देते थे। जिसमें बड़े दिन के अवसर पर उत्तर वीएतनाम पर घमासान बमबारी का फैसला भी शामिल है।

भारत का राजदूत होने के नाते यह स्वाभाविक ही था कि मुझे भारत-अमेरिका संबंधों की चिंता थी, और इन संबंधों को सुधारने की मैंने यथासंभव कोशिश की। हेनरी किसिंगर जब निक्सन के राष्ट्रीय सुरक्षा-सलाहकार थे, तो मैं अक्सर ही उनसे मिला करता था। जब वह विदेशमंत्री बने तब भी मैंने उनसे संपर्क बनाये रखा। वह अक्सर ही मेरे मेहमान बनकर आते थे, जिससे कि बहुत से राजदूतों को हैरत और ईर्ष्या होती थी। लेकिन यह उनकी ओर से मुझ पर, व्यक्तिगत तौर पर कोई मेहरबानी नहीं थी। वह यह जताना चाहते थे कि अमेरिका अपने भारत विरोधी रवैये को खत्म कर रहा है और दोनों देश और सरकारें एक दूसरे के करीब आती जा रही हैं। इससे उन्हें एशिया और अफ्रीका में प्रतिष्ठा प्राप्त होने का आभास मिलता, जिसकी उन्हें, वीएतनाम और बंगलादेश में अपनी भूमिका के बाद सख्त जरूरत थी। इससे उन्हें चीन, रूस और पाकिस्तान, ईरान जैसे देशों तथा गुटनिरपेक्ष और विकासशील दुनिया से सौदा करने की क्षमता को भी बल मिलता, जिनके मन में भारत के प्रति सम्मान की भावना थी। यह कदम बहुत सोच समझकर ही उठाया गया था।

निक्सन के प्रमुख सलाहकारों में से किसिंगर ही एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे जो लगभग बिना किसी कलंक के वॉटरगेट से मुक्त हो सके थे। किसिंगर चतुर और बुद्धिमान थे। वह इतिहास के अच्छे ज्ञाता भी थे। वह हाजिरजवाब और मजाकिया तबियत के थे तथा उनमें कभी कम न होने वाली फुर्ती और कभी न मिटने वाली भूख थी—जो कि केवल खाने-पीने के मामले में ही नहीं, बल्कि बुद्धिजीवी खोजों के बारे में भी सही थी। उनकी सामान्य बुद्धि तीक्ष्ण थी। वह दिखावटी आदर्शों में विश्वास नहीं करते थे और अपने लक्ष्यों और उद्देश्यों को पूरा करने के लिए किसी भी तरीके को न्यायोचित समझते थे। वह दिलचस्प, आकर्षक, प्रसन्नचित्त थे लेकिन अपनी बातों के आधार पर वह सही मायने में एक खतरनाक व्यक्ति भी थे। नये वाक्य गढ़ने में वह बहुत माहिर थे और अपने शब्दों को बहुत ध्यानपूर्वक चुनते थे, ताकि एक विशेष परिस्थिति में अपनी समरनीति के

मुताबिक अपने ढंग से उनकी व्याख्या करने के सारे रास्ते खुले रहें। ऐसे व्यक्ति के साथ मेरा पाला पड़ा था। उनके साथ ज्यादा सावधानी नहीं बरती जा सकती थी।

मेरी उनके साथ कई बार अनौपचारिक और औपचारिक वार्ताएं हुईं। अनौपचारिक बातचीत या तो उनके दफ्तर में या मेरे घर पर दोपहर के खाने के दौरान होती थीं। उनके साथ कभी-कभी उनके विशेष सहायक रॉडमैन और मेरे साथ दूसरे पदस्थ अधिकारी वेंकटेश्वरन होते थे, जो कि बहुत ही चतुर और काबिल अफसर थे। हमारी बातचीत चीन से क्यूबा, मलयेशिया से मध्य पूर्व, अफ्रीका से अर्जेंटीना, पूर्वी और पश्चिमी यूरोप, जापान, खाड़ी और फिर दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशिया—इन सभी विषयों पर चलती थी। उन्होंने कई बार मुझे आश्वासन दिया कि भारत विरोधी रवैया अब नहीं रहा है, अमेरिका को भारत की गुटनिरपेक्ष नीति या रूस की मैत्री से नाराजगी नहीं। भारत दक्षिण एशिया में एक 'महान शक्ति' के रूप में उभर रहा था और उसे इस क्षेत्र में और विश्व के गुटनिरपेक्ष देशों में अग्रणी की हैसियत से अपनी भूमिका निभानी थी। भारत और अमेरिका के बीच राष्ट्रीय हितों में तो कोई टकराव नहीं था। अमेरिका भारत को कमजोर बनाना नहीं चाहता था। सशक्त, स्थिर, गुटनिरपेक्ष और शांतिपूर्ण भारत इस क्षेत्र की शांति और स्थिरता को अधिक मजबूत कर सकता था। वह चीनी विस्तारवाद की लहर को रोकेगा। अमेरिका हमारे क्षेत्र को अपना प्रभावक्षेत्र बनाना नहीं चाहता, लेकिन यह भी नहीं चाहता कि वह रूस या चीन का प्रभावक्षेत्र बने।

ये सारी मीठी-मीठी बातें थीं, लेकिन मैं इस बारे में निश्चित था कि यह निक्सन की ही नीति थी। निक्सन का झुकाव पाकिस्तान की ओर और भारत के विपरीत था। उनकी रूस विरोधी सार्वभौम नीति के अलावा श्रीमती गांधी के लिए उनकी व्यक्तिगत नापसंदगी और भुट्टो समेत सैनिक शासकों में उनकी रुचि का भी इससे संबंध था। वह इस बात को भूले नहीं थे कि 1968 में तात्कालिक उपप्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने उन्हें बिना शराब के भारतीय निरामिष भोजन पर आमंत्रित किया था, जबकि पाकिस्तान में किसी सरकार या देश के प्रमुख की प्रतिष्ठा के अनुरूप सभी शान-शौकत के साथ उनके सम्मान में राजकीय भोज का आयोजन किया गया था। भारत से लौटते हुए उन्होंने अपने हवाई जहाज के कुछ सहयात्रियों के सामने इस बात का उल्लेख किया था। उनके सातवें बेड़े के प्रति श्रीमती गांधी की खामोशी, सोची समझी हुई उदासीनता तथा 1971 में बंगलादेश के बारे में उनकी सीधी बातचीत को भी वह भूले नहीं थे। फिर किसिंगर इस तरह की बात कैसे कह सकते थे?

मैंने किसिंगर को बताया कि उन्होंने जिस 'नयी' अमेरिकी नीति के बारे में मुझे बताया है उसका उल्लेखमात्र भी यदि मैं भारत में जाकर करूं तो मुझ पर कोई विश्वास नहीं करेगा। मैंने सुझाव दिया कि वह भारत जाकर सार्वजनिक तौर पर यह बात कहें और मेरी सरकार को आधिकारिक तौर पर इस बात का आश्वासन भी दें। उन्होंने इस विचार का स्वागत किया। उन्हें आमंत्रित किया गया और अक्तूबर, 1974 में उन्होंने भारत का दौरा किया।

किसिंगर बहुत बुद्धिमान व्यक्ति हैं, अपनी बात मनवाने की उनमें क्षमता है, अपने सार्वजनिक भाषणों में वह दार्शनिक और शिक्षक का रूप ले लेते हैं और महान विचारों तथा सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं। ऐतिहासिक तुलनाओं की मिसालें देते हैं और नया इतिहास बनाने की कोशिश करते हैं। मैंने उनसे कहा कि यह सब कुछ तो ठीक है लेकिन भारत ने अपने कटु अनुभवों से यही सीखा है कि मूल्यांकन केवल वचनों से नहीं बल्कि कर्मों के आधार पर करना चाहिए। उन्होंने मुझसे पूछा कि भारत किससे प्रभावित

हो सकता है। मैंने जवाब दिया कि हम अमेरिकी सहायता की विशेष परवाह नहीं करते। हम सहायता मांगेंगे भी नहीं। क्योंकि अमेरिका ने एकतरफा फैसला करके यह सहायता रोक दी है। इसलिए इसे दोबारा चालू करने या न करने का निर्णय उसी को करना है। उन्होंने कहा, "ठीक ही है। मैं विदेश और वित्त विभागों के अफसरों से सहमत नहीं हूं जो चाहते हैं कि भारत सहायता के लिए औपचारिक तौर पर अनुरोध करे। मैं देखूंगा कि इस बारे में क्या किया जा सकता है।" मैंने कहा कि सबसे जरूरी बात तो यह है कि पाकिस्तान को शस्त्र न दिये जायें, जिसे अब सिर्फ अपनी पश्चिमी सीमा से भारत की ही रक्षा करनी है और सिर्फ एक ही मोर्चे पर मुकाबला करना है। उन्होंने कहा कि यदि अमेरिका पाकिस्तान को शस्त्र नहीं देगा तो चीन जैसे अन्य देश देंगे और उससे वहां चीन का प्रभाव बढ़ता जायेगा। मैंने जवाब दिया कि हम भारत—अमेरिका संबंधों और उनमें सुधार लाने के बारे में बातचीत कर रहे थे, चीन-पाकिस्तान संबंधों के बारे में नहीं। यदि अमेरिका पाकिस्तान में अपना प्रभाव बनाये रखने में दिलचस्पी रखता है तो वह उसे और अधिक आर्थिक सहायता दे सकता है। उपमहाद्वीप में शस्त्रों की होड़ भारत या पाकिस्तान किसी के हित में नहीं है। हमने अमेरिका से हथियार नहीं मांगे हैं, इसलिए पाकिस्तान को शस्त्र क्यों दिये जायें? हमारी तरह उसके पास भी शस्त्र प्राप्त करने के अन्य स्रोत हैं। हम इन स्रोतों के साथ अलग से समझौता कर लेंगे। लेकिन सुरक्षा की जरूरतों के मामले में भारत और पाकिस्तान को बराबर करने, एक का संतुलन दूसरे के मुकाबले संतुलित रखने, या संतुलन को बिगाड़ने के अमेरिका के प्रयास सही नहीं थे। भारत और पाकिस्तान के बारे में 'बराबरी' की पुरानी धारणा को छोड़ना होगा। भारत को चीन की धमकी का सामना करना पड़ रहा था। वह पाकिस्तान के साथ आक्रमण विरोधी या युद्धविरोधी समझौता करने के लिए तैयार था। आमतौर पर छोटा देश अपने बड़े पड़ोसी के साथ युद्धविरोधी समझौता करना चाहता है। यहां दोनों में से बड़ा भारत यह चाह रहा था। यह इसलिए कि विदेशी क्षेत्रों पर कब्जा करने की न तो हमारी आकांक्षा थी और न ही पाकिस्तान के खिलाफ हमारे कोई मनसूबे थे। हमने उससे उस 5000 वर्ग मील क्षेत्र को खाली कर दिया था, जिस पर हमने 1971 की लड़ाई में कब्जा किया था, और हम उसके साथ शांति और मैत्री चाहते थे। यही एकमात्र तरीका था जिससे हम इस क्षेत्र को रूसी, चीनी या अमेरिकी प्रभाव से बचा सकते थे।

किसिंगर ने धैर्य के साथ सब कुछ सुना और जवाब दिया कि अमेरिका कुछ समय के लिए पाकिस्तान को शस्त्र देने की मंशा नहीं रखता। मुझे संदेह था कि निक्सन बंगाल की खाड़ी में सातवें बेड़े की खोखली धमकी और 1971 में अपने मित्र पाकिस्तान की पराजय को भूले नहीं हैं। वह अपने रास्तों को खुला रखना चाहते थे। मैंने किसिंगर को बताया कि यदि वह भारत में राजनीति का खेल खेलेंगे तो उससे काम नहीं बनेगा। वह अपने मन में पक्की तरह ठान लें कि वह क्या कर सकते हैं और कौन से आश्वासन दे सकते हैं और उन्हें कार्यान्वित भी कर सकते हैं। बड़े-बड़े वायदे करके बाद में उनसे मुकरने से बेहतर यही है कि कोई वायदा किया ही न जाये। उन्होंने कहा कि वह इस बारे में सोचेंगे।

मैंने उन्हें चेतावनी दी कि श्रीमती गांधी को आसानी से बहलाया नहीं जा सकता। उन्होंने कहा, "मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूं। निक्सन सच ने कहा है कि वह 'कड़ी स्त्री हैं।'"

मैंने बताया कि अमेरिकियों की तरह भारतवासी भी खुले दिल के, निष्कपट और सीधे-सादे होते हैं। लेकिन अमेरिकियों के विपरीत, उनके पीछे—कुछ शानदार, कुछ कम

शानदार और कुछ कमजोर—हजारों वर्षों का लंबा इतिहास है। सरकारी तंत्र, प्रेस की स्वतंत्रता, मौलिक अधिकार आदि में हम दोनों के बीच बहुत साम्य है। अमेरिका एक संपन्न और शक्तिशाली देश है जबकि भारत ऐसा कुछ भी नहीं। भारत अमेरिका की नकल नहीं करना चाहता। लेकिन यदि भारत के विस्तृत प्राकृतिक और मानवीय साधनों को अमेरिका की उन्नत टेक्नोलॉजी उचित शर्तों पर प्राप्त हो सकती, तो वह एक दशक में आर्थिक दृष्टि से संपन्न हो सकता है। हम आर्थिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक जैसे विभिन्न क्षेत्रों में सहयोगिता की खोज करने के लिए एक भारत-अमेरिका संयुक्त आयोग का गठन क्यों नहीं कर सकते? किसिंगर ने इस विचार का स्वागत किया। स्वाभाविक ही था कि वह अपने भारत के दौरे को सफल बनाना चाहते थे, जिससे उनकी प्रशस्ति का एक और रास्ता खुल जाता।

भारत में कुछ लोगों ने सोचा कि मैं अमेरिकियों की ओर झुकता जा रहा हूं। बहरहाल, इससे मैं घबराया नहीं। 1954 में जब मैंने पंचशील समझौते के बारे में बात-चीत की थी तो मुझे चीन का और जब मैं रूस में राजदूत था तो रूस का हिमायती कहा गया था। यह खेद की बात है कि भारत में कुछ भारतवासियों को भारत का हिमायती नहीं माना जाता और उन्हें किसी अन्य देश का हिमायती या विरोधी करार दिया जाता है। मुझे इससे डलेस की एक उक्ति याद आती है, "जो हमारे साथ नहीं हैं, वे हमारे खिलाफ है।" यदि आप साम्यवाद के विरोधी नहीं हैं तो आप निश्चित ही साम्यवादी हैं। इसी तरह यदि आप अमेरिका विरोधी नहीं हैं तो आप जरूर ही रूस विरोधी हैं।

श्रीमती गांधी ने किसिंगर के पहुंचने के दिन, पूर्व निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार, दिल्ली से बाहर जाकर उनकी यात्रा के प्रति उदासीनता दिखायी। किसिंगर ने चुपचाप मुझसे इस बात का उल्लेख किया, लेकिन उसका बुरा भी न माना। बहरहाल उनकी भारत यात्रा के अंतिम दिन श्रीमती गांधी ने उनके साथ एक घंटा अतिरिक्त बिताकर उनके साथ दोपहर का भोजन खाकर इस कसर को पूरा किया।

इस छोटी-सी अप्रिय घटना के सिवाय उनके दौरे का अच्छा प्रभाव पड़ा, क्योंकि अपने सार्वजनिक भाषणों में उन्होंने सही समय पर, सही लोगों को, सही बातें कहीं। उन्होंने सार्वजनिक भाषणों और व्यक्तिगत आश्वासनों का अपना वायदा निभाया था। लेकिन क्या वह अपने वचनों को कार्यान्वित करेंगे?

भारत-अमेरिका संयुक्त आयोग का गठन हुआ। किसिंगर और चव्हाण ने, जो उस समय विदेशमंत्री थे, एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। पी० एल० 480 समझौता हुआ, जिसका श्रेय भारत में अमेरिकी राजदूत डेनियल पैट्रिक मोयनिहान के अथक प्रयासों को है। आगे की घटनाओं का इंतजार था।

इस दौरान मध्यपूर्व में अंतर्राष्ट्रीय स्थिति तनावपूर्ण हो गयी। किसिंगर अपने 'इधर उधर के राजनय' में जुट गये। उन्होंने संघर्ष रोकने का सबसे पहला समझौता कर के नाम कमाया। मैंने सुझाव दिया कि रूसियों को बीच में लाने का यही मौका है और मध्य-पूर्व सम्मेलन के लिए जिनेवा जाया जा सकता है। वह सैद्धांतिक तौर पर तो मान गये, लेकिन साथ ही कहा कि उन्हें यह बात पसंद नहीं कि ग्रोमिको हर देश में उनका पीछा करते रहें। मैंने कहा कि उन्हें तो इसका स्वागत करना चाहिए, लेकिन मध्य-पूर्व के किसी समझौते में अमेरिका के साथ रूस के भी शामिल होने से वह और भी अधिक सहनीय और विश्वसनीय हो जायेगा। उन्होंने जवाब नहीं दिया क्योंकि उनके दिमाग में दूसरे विचार थे। वह अरब जगत को अमेरिकी प्रभाव क्षेत्र में बदलना चाहते और रूसी प्रभाव को कम करना चाहते थे, जो 1956 से वहां पनप रहा था।

मैंने उन्हें बताया कि खाड़ी के देशों में उन्नत शस्त्र तथा बड़ी मात्रा में हथियार पहुंचाने से वहां और भी वीएतनामों की सृष्टि हो सकती है। भारत को इस बारे में चिंता है क्योंकि ये हथियार पाकिस्तान पहुंच सकते हैं। क्या यह अच्छा न होगा कि इस क्षेत्र में शांति, सहयोगिता और आक्रमण विरोधी एक समझौता किया जाये—जिसकी शुरुआत ईरान, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, भारत और बंगलादेश से की जाये। वह कुछ क्षण तक सोचते रहे और फिर बोले, "यह एक अच्छा विचार है, लेकिन अगर यह ईरान के शहंशाह की ओर से पेश किया जाता तो बेहतर जान पड़ता।" मैंने कहा कि मैं अपनी सरकार की ओर से बोल नहीं रहा हूं, लेकिन मैंने सोचा था कि वे इसका स्वागत करेंगे। उन्होंने जवाब दिया कि ईरानी शहंशाह निकट भविष्य में वाशिंगटन आने वाले हैं और वह इसे अपने विचार के रूप में उनके सामने रखेंगे। उन्होंने शायद ऐसा किया भी था, लेकिन उसका कोई नतीजा नहीं निकला, क्योंकि इससे पाकिस्तान सहमत नहीं हुआ। इस क्षेत्र में शांति, सुरक्षा और स्थिरता बनाये रखने और शस्त्रों की होड़ रोकने के लिए इस पर आगे गौर करने की जरूरत है।

हमने भारतीय महासागर के बारे में बातचीत की। मैंने इस बात की ओर संकेत किया कि 1973 में ब्रेजनेव की भारत यात्रा के अंतिम दौर में जारी की गयी संयुक्त विज्ञप्ति में उन्होंने इस बात के लिए अपनी सहमति व्यक्त की थी कि दिलचस्पी रखने वाले देशों का एक सम्मेलन आयोजित किया जाना चाहिए, जिसमें सबका दर्जा समान रहे। अमेरिका इस बारे में आनाकानी क्यों कर रहा है और इससे मिलता-जुलता जवाब क्यों नहीं दे रहा है? शायद वह मामले में अमेरिका के बदले रूस की पहल को पसंद नहीं कर रहे थे, या उनके मन में अन्य विचार थे। उन्होंने केवल इतना ही कहा कि वह इस बारे में सोचेंगे, लेकिन उन्होंने किया कुछ भी नहीं।

मैं इस सोच में पड़ गया कि क्या किसिंगर भारत-अमेरिका संबंधों को वाकई सुधारना चाहते हैं? वह संकट की स्थितियों में इतनी बुरी तरह उलझे हुए थे कि अन्य स्थानों पर संबंधों को स्वाभाविक बनाने की फुर्सत उनके पास नहीं थी। मैंने नैंसी से उनके विवाह के उपलक्ष्य में एक संदेश भेजा था, जिसमें यह आशा व्यक्त की गयी थी कि यह एक "ऐसे दौर की शुरुआत होगी जब वह सिर्फ संकटों में ही पूरी तरह उलझे नहीं रहेंगे बल्कि सामान्य स्थितियों पर अधिक ध्यान देंगे।" किसिंगर के साथ यही कठिनाई थी। उनको ख्याति से प्रेम था और गड़बड़ी के स्थानों में गड़बड़ फैलाने वाला बनना चाहते थे। एक जगह आग लगाकर दूसरी जगह आग लगाते थे, जिन्हें खुद ही फिर बुझा सकें। वह सब कुछ अपने नियंत्रण में रखते थे और विदेश विभाग लगभग एक ही व्यक्ति की मर्जी पर चलाया जाता था। वह स्वयं ही अपने जनसंपर्क अधिकारी थे और यह अच्छी तरह जानते हुए भी कि उनके कथन का भरपूर इस्तेमाल किया जायेगा, वह संवाददाताओं को ऐसी बातें बता दिया करते थे जो छपने के काबिल नहीं होती थीं। कभी-कभी वह जानबूझ कर अपने प्रेस के प्रिय पात्रों को गोपनीय बातें बता देते थे, ताकि वे राजनय के क्षेत्र में कोई नया शोशा छोड़ सकें। वह देश और सरकारों के अध्यक्षों, फिल्मी कलाकारों और अमेरिकी कांग्रेस की प्रभावशाली हस्तियों से मिलना बहुत पसंद करते थे। वह पश्चिम यूरोप में अपने समकक्षों के बीच बहुत लोकप्रिय नहीं थे। वह असल में एक यूरोपीय थे जो भाग्य के फेर से अमेरिकी बन गये थे। वह अपने पूर्वाधिकारियों की तुलना में यूरोप को ज्यादा अच्छी तरह जानते और समझते थे। वह जानते थे कि कहां और कब जोर से प्रहार करना चाहिए। इससे यूरोपवासी प्रसन्न नहीं थे और फ्रांसीसी विदेश-मंत्री जोबर्ट की तरह कुछ ने तो खुले तौर पर इसका बदला लिया था।

एक जर्मन होने के नाते और मैटरनिक तथा बिस्मार्क (जिनके प्रति उनके मन में अपार श्रद्धा थी) के शिष्य होने के नाते वह मानते थे कि बारी-बारी से नर्मी और सख्ती दिखाकर वह रूसियों से पेश आना जानते थे। राजनीति में शक्ति का खेल दिखाने में वह विश्वास रखते थे और औरों के बीच के मतभेदों से पूरा फायदा उठाकर अमेरिका के लिए अधिक शक्ति और प्रभाव हासिल करना चाहते थे। यह उन्नीसवीं शताब्दी का पुराना यूरोपीय खेल था। उन्होंने उसको नये नाम दिये, रहस्य और बड़े-बड़े वाक्यों से आच्छादित रखा। जब मैंने उनसे इस बारे में प्रश्न पूछा तो उन्होंने जवाब दिया, ''मैं सिद्धांत रूप में तुमसे सहमत हूं कि विभिन्न राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्थाओं और विचारों के बीच शांति और सहयोगपूर्ण सहअस्तित्व होना चाहिए, लेकिन ऐसा होने से पहले विश्व-शक्तियों और विचारों की आकृति में सर्वांगीण परिवर्तन होना जरूरी है। शब्दों और वाक्यों का यह खेल अन्य भी खेल सकते हैं। और खेला जा भी चुका है, जैसे पीकिंग में, जहां एक से अधिक किसिंगर मौजूद थे। शायद यही कारण था कि किसिंगर याह्या खान की सहायता से पाकिस्तान के नथियागली से होते हुए, लुकते-छिपते, तुरंत चीन की दिशा में दौड़े। वह बराबर के बुद्धिजीवियों से मुकाबला करना पसंद करते थे। वह सचमुच यह मानते थे कि अमेरिका, चीन और रूस के मतभेदों से फायदा उठा सकता है। चीनियों ने भी सोचा था कि वह निक्सन के रूस विरोधी रवैये को भड़काकर उससे फायदा उठायेंगे।

किसिंगर और निक्सन दोनों ही नये पुनरुत्थानशील एशिया को समझने में (विशेषकर किसिंगर से ज्यादा निक्सन) असफल रहे। वे कई मायनों में चीन को खुश करने के लिए झुकते रहे। निक्सन ने तो 1972 में अपनी चीन यात्रा के दौरान चीनियों को प्रभावित करने के लिए चीन की खाने वाली सलाइयों से कार्नफ्लेक्स खाने की कोशिश की। चीनी इन दिखावटों में फंसते नहीं हैं, लेकिन उन्होंने अधिक कुशलता के साथ अपनी चाल चली। पीकिंग और वाशिंगटन में क्रमश: अमेरिका और चीन के संपर्क कार्यालय स्थापित किये गये। चीन को अमेरिका से ज्यादा फायदा मिलना था। अब राजनयिक संबंध स्थापित हो जाने से चीन और रूस के बीच प्रेम का अभिनय बढ़ता जा रहा है। एशिया में, और रूस के प्रति अमेरिका की नीति को चीनी प्रभावित कर सके हैं, जबकि अमेरिका चीन की नीति पर कोई असर नहीं डाल सका है। ताइवान (फारमोसा) के प्रति चीन के मूल रवैये में कोई अंतर नहीं आया है, जबकि भारत और हिंदचीन जैसे कुछ खर्चीले क्षेत्रों के प्रति अमेरिका का रवैया कड़ा हो गया है।

अमेरिका के नीति-निर्धारिकों के साथ कठिनाई यह है कि योजना विशेषज्ञों की बड़ी संख्या और सारे तामझाम उपलब्ध होने के बावजूद वे किसी दीर्घकालीन नीति की योजना नहीं बना सकते। अमेरिकी राष्ट्रपति की मियाद चार वर्ष की होती है—जिसमें एक वर्ष तो चुनाव के बाद 'स्थापित होने' में बीत जाता है और अगले चुनाव की तैयारी में एक वर्ष से अधिक का समय लग जाता है। जैसे-जैसे संकट आते हैं, हर संकट के बारे में तदर्थ फैसले लिए जाते हैं और उनके लिए महत्वपूर्ण मामलों के अलावा उनमें से अधिकांश में कोई संगति नहीं होती है। उनकी प्राथमिकताएं रूस, चीन या भारत से भिन्न हैं। अमेरिका के नीति निर्धारक सैन्य बल और आर्थिक शक्ति को समझते हैं, लेकिन उन टिकाऊ बातों को नहीं समझते जो पुरानी सभ्यताओं को जीवित रखती हैं, किसिंगर भी कोई अपवाद नहीं। मूलत: वह यूरोपीय, जर्मन थे, जिन्हें परिस्थितियों ने अमेरिका में शक्तिशाली और प्रभावशाली पद पर ला बिठाया था। उनके दिल में एशिया के लिए कोई 'दर्द' न था और वह शायद यह सोचते थे कि पाश्चात्य सिर्फ अपनी साख बचाये रखने में ही विश्वास करते हैं। यह एक पुराना विश्वास है जो शायद आधुनिक अमेरिकी नीति

और 'इधर उधर' की राजनीति पर अधिक लागू होता है।

1975 के प्रारंभ मे हमें इसका आस्वाद मिल गया था। हेनरी किसिंगर ने 19 फरवरी, 1975 को इगरसोल (जो उनके मध्य पूर्व प्रवास के दौरान विदेशमंत्री का कार्यभार संभाल रहे थे) की मार्फत मेरे पास एक संदेश भिजवाया, कि अमेरिका, 24 फरवरी को, भारत और पाकिस्तान को शस्त्र देने पर से प्रतिबंध हटाने वाला है। मैंने तुरंत ही उन्हें कहला भेजा कि उन्होने मुझे और मेरी सरकार को जो आश्वासन दिया था कि वे हमसे विस्तृत बातचीत किये बिना इस बारे मे कोई अंतिम निर्णय नही लेंगे, ऐसा करके वे उसका हनन कर रहे हैं। मैंने सुझाव दिया कि किसिंगर चव्हाण से वार्तालाप करने तक इस फैसले को स्थगित रखें। चव्हाण भारत अमेरिका संयुक्त आयोग की दूसरी बैठक में भाग लेने के लिए मार्च मे वाशिंगटन आने वाले थे। इगरसोल ने ऐसे किसी आश्वासन के संबंध में अपनी अज्ञानता व्यक्त की। (इसमें कोई आश्चर्य नही, क्योंकि किसिंगर अपने सहकर्मियों को हमेशा सब कुछ बताते नही थे), लेकिन मेरा संदेश उन तक पहुंचा देने का वचन दिया। उन्होंने संदेश भेजा और तुरंत ही किसिंगर का जवाब भी आ गया कि अंतिम निर्णय लिया जा चुका है और उन्हें अफसोस है कि यह फैसला स्थगित नही किया जा सकता। मुझे यह बात 22 फरवरी, 1975 को बतायी गयी और 24 फरवरी को अमेरिका की ओर से घोषणा होने वाली थी। किसिंगर ऐसा करने के लिए बेताब थे, क्योंकि उन्होंने पंद्रह दिन पहले (5 फरवरी, 1974) भुट्टो की वाशिंगटन यात्रा के दौरान उन्हें चुपचाप वचन दे दिया था। मैं इसे विश्वासघात मानता था और मैंने एक बयान देने की अपनी इच्छा को भारत सरकार के सामने रखा और उन्हें भी ऐसा करने के लिए कहा। वे राजी हो गये। मैंने एरिक गोनजाल्वेज, शिवरामकृष्णन् और अन्य लोगों की सलाह लेकर एक बयान का रूप तैयार किया, दिल्ली में विदेश सचिव से दूरभाष पर बात की और उनकी रजामंदी प्राप्त की। विदेश मत्रालय की ओर से घोषणा होते ही मैंने दूतावास मे तुरंत एक संवाददाता सम्मेलन का आयोजन किया और यह बयान दिया :

"हमने बडे खेद और निराशा के साथ विदेश विभाग द्वारा आज से अमेरिकी शस्त्रों पर से प्रतिबध हटाये जाने के फैसले की घोषणा पर गौर किया और इसके बार मे हमने अपना कडा विरोध भी दर्ज कर दिया है। हम इस बात को स्वीकार नही करते कि शस्त्रों पर से प्रतिबध हटा लेने से शस्त्रों की होड़ खत्म हो जायेगी या शिमला समझौते के अतर्गत सामान्य स्थिति के लौटने मे इससे बाधा पड़ेगी; हमारी धारणा हमारे दो दशको के अनुभवों पर आधारित है, जब इस उपमहाद्वीप मे तीन ऐसे खूनी संघर्ष हुए, जिन मे अमेरिका द्वारा इसके विपरीत आश्वासन दिये जाने के बावजूद, भारत के खिलाफ अमेरिकी हथियारों का ही इस्तेमाल किया गया।

"पाकिस्तान से हमारे मतभेद अस्थायी हैं और यदि बाहर से कोई हस्तक्षेप न हो तो उन्हें दोतरफा और शांतिपूर्ण तरीको से सुलझाया जा सकता है और जाएगा भी। शिमला मे ऐसे ही समझौते पर हस्ताक्षर किये गये थे और शस्त्रो पर से प्रतिबंध हटा लिये जाने से उसमे जो बाधाएं उपस्थित होंगी उनके बावजूद हम शिमला की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने मे कृत-संकल्प हैं।

"विगत दिनों मे परेशानी यह रही कि बाहरी शक्तियां विशेषकर कुछ महा-शक्तियां और उनमे भी खास तौर से अमेरिका, इस उपमहाद्वीप की समस्याओ के प्रति तरफदारी का रवैया अपनाये हुए थे, जिसके तनाव और संघर्ष को, उनके न चाहते हुए भी, प्रोत्साहन मिलता था। 1965 मे शस्त्रो पर लगाया गया प्रतिबंध, गत अनुभवो के संदर्भ मे

एक विवेकपूर्ण निर्णय था। 1970 में तात्कालिक अपवाद न तो तात्कालिक ही था और न ही अपवाद था। शस्त्रों पर से प्रतिबंध हटा लिये जाने पर अमेरिका के आश्वासनों की विश्वसनीयता कम हो गयी, विगत दिनों में जिनकी निष्क्रियता साबित हो चुकी है। इससे यह पता चल जाता है कि उपमहाद्वीप के बारे में अमेरिकी नीति शक्ति की परिकल्पना, शक्ति संतुलन, शस्त्र देकर प्रभावित करने पर आधारित है, यह नीति उपमहाद्वीप और अन्य आसपास के क्षेत्रों में असफल हो चुकी है।

"हम आशा करते हैं उपमहाद्वीप में बड़ी शक्तियों के सैनिक गठबंधनों और प्रतिस्पर्धाओं को प्रोत्साहित नहीं किया जायेगा। हम गुटनिरपेक्ष हैं और उपमहाद्वीप को बीते दिनों की तरह तनाव और संघर्ष का क्षेत्र न बनने देकर उसे प्रभुसत्तासंपन्न राष्ट्रों की बराबरी के आधार पर, शांति, मैत्री और सहयोगिता का क्षेत्र बनाने की आशा रखते हैं।

"भारतीय और पाकिस्तानी लोगों के मौलिक हितों में कोई टकराहट नहीं है। हम दोनों के शत्रु गरीबी, खाद्य का अभाव, निरक्षरता, रोग आदि हैं। हम दोनों को आवश्यकता है कृषि के आधुनिकीकरण तथा स्वास्थ्य और समाज कल्याण आदि सेवाओं की, न कि शस्त्रों की होड़ की, जो हम दोनों के सामर्थ्य से बाहर है।

"भारत अन्य किसी भी शक्ति की तरह या उससे भी अधिक अखंडता, स्थिरता, सुरक्षा और मैत्रीपूर्ण पाकिस्तान के विकास में दिलचस्पी रखता है। इसीलिए भारत ने शिमला समझौते के अंतर्गत पाकिस्तानी क्षेत्र का 5,000 वर्ग मील इलाका और दिल्ली समझौते के अंतर्गत 90,000 हजार युद्धबंदियों को लौटा दिया।

"यह खेद की बात है कि अमेरिकी सरकार को शस्त्रों पर प्रतिबंध रखने की उस नीति में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस हुई जिससे तनाव कम करने और सामान्य संबंध स्थापित करने में सहायता मिली थी। यह और भी अधिक दुख की बात है क्योंकि इसका भारत-अमेरिका के संबंधों पर भी विपरीत प्रभाव पड़ेगा। भारत अमेरिका से अपनी मैत्री को महत्व देता है, लेकिन मैत्री तो दोनों ओर से ही संभव हो सकती है।"

विदेशमंत्री चव्हाण ने भी एक वक्तव्य जारी किया, यद्यपि उनकी भाषा अलग ही थी। उनका वक्तव्य भारत के लिए था और हमारा अमेरिका के लिए। हमने जानबूझकर ऐसे शब्द चुने थे जिनसे अमेरिका के लोगों को 'विश्वसनीय', 'निष्क्रिय', जैसे शब्दों से भारत की भावनात्मक शक्ति का एहसास हो सके, जिनका वाटरगेट की कार्यवाही के दौरान खुलकर इस्तेमाल किया गया था। किसिंगर को इससे प्रभावित करना था और वह हुए भी। उन्होंने उसी दिन दोपहर को एक संवाददाता सम्मेलन का आयोजन किया। किसी अमेरिकी समाचार एजेंसी के संवाददाता से पूछा गया, "भारतीय राजदूत के तीखे वक्तव्य पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है?" उसने चव्हाण और मेरे बीच एक रेखा खींचने की कोशिश करते हुए कहा कि चव्हाण का वक्तव्य 'यथार्थवादी' और मेरा अग्राह्य था। यह पूछने पर कि वह वापस जाने के पक्ष में हैं या नहीं, उन्होंने नकारात्मक उत्तर दिया।

उसी दिन शाम को किसिंगर के वक्तव्य पर मेरी प्रतिक्रिया के बारे में पूछा गया। मैंने कहा कि जैसे मेरे वक्तव्य का कुछ हिस्सा उनको नामंजूर है, उसी तरह उनके वक्तव्य का कुछ हिस्सा मेरी सरकार को भी मंजूर नहीं है। किसिंगर और मेरे बीच इस सार्वजनिक आदान-प्रदान पर कुछ समाचारपत्रों में कुछ टिप्पणियां भी हुईं। वाशिंगटन डी० सी० के एक स्तंभकार ने अपने लेख का शीर्षक दिया, "टिक्की कौल, जिन्हें छेड़ना गलत है।" शिकागो के एक अन्य स्तंभ लेखक ने अपने स्तंभ का शीर्षक दिया, "विश्वसनीयता की दरार को डा० क समझ गये" और आगे लिखा, "कौल ने अपने

वक्तव्य में एक ऐसी नब्ज पकड़ी जो चव्हाण के हाथ नहीं आती थी। वह किसिंगर को इतना तो पहचानते ही थे जिससे वह इस बारे में सचेत रहें कि किसिंगर एक अमेरिकी समस्या के प्रति विशेष तौर पर संवेदनशील थे—अमेरिका के आश्वासनों की विश्वसनीयता।

मेरी सरकार और विदेश मंत्री ने संसद में मेरे वक्तव्य का समर्थन किया और विवाद जिस तेजी से उभरा उसी रफ्तार से खत्म भी हो गया। लेकिन भारतीय नजरों में प्रशासन की विश्वसनीयता बहुत तेजी से कम होने लगी। चव्हाण ने अपना दौरा स्थगित कर दिया, जिसके बारे में मैंने पहले से ही किसिंगर को चेतावनी दे दी थी। मेरा विश्वास है कि किसिंगर ने अपने वक्तव्य के समय और ढंग के बारे में स्वयं को कुछ 'दोषी' महसूस किया। सार्वजनिक झगड़े को व्यक्तिगत तौर पर मिटा दिया गया और हम दोनों फिर एक-दूसरे से मुलाकात करने लगे। 1976 के ग्रीष्म में मेरी विदाई के उपलक्ष्य में आयोजित गोष्ठी में किसिंगर ने शिष्टाचार दिखाते हुए कहा था, "आपने जिस साहस और दृढ़ संकल्प के साथ अपने देश के हितों की रक्षा की, उसके लिए हम आपका आदर करते हैं।" मुझे दूतावास के अपने सहकर्मियों के प्रति आभार प्रकट करना चाहिए था, जो मुझे सहारा देते रहे और एक ही स्वर से बोलते रहे।

मई, 1975 में मैं सलाह मशवरे के लिए देश लौटा था और श्रीमती गांधी से अनुरोध किया कि वह मुझे लौट आने दें, क्योंकि मैं दो साल वहां रह चुका था और इससे ज्यादा खास कुछ कर नहीं सकता था। वह मानी नहीं और मुझसे कहा कि 'थोड़े दिन और' वहां ठहर जाऊं। उसके बाद जितने दिन मैं अमेरिका में रहा, मेरा अधिकांश समय सिनेट के प्रमुख सदस्यों, प्रचार माध्यमों के प्रतिनिधियों, अध्यापकों, छात्रों और अपने देश-वासियों से मिलने-जुलने में ही बीता। मैं राष्ट्रपति फोर्ड, उपराष्ट्रपति राकफेलर, किसिंगर और अन्य लोगों से भी मिला, लेकिन इन मुलाकातों में पहले जैसा उत्साह नहीं था। शायद भारत को अमेरिका में एक अधिक नम्र और लचीले राजदूत की आवश्यकता थी। मैंने श्रीमती गांधी को यह बात कई बार लिखी, लेकिन हर बार उन्होंने मुझे 'कुछ दिन और' ठहरने के लिए कहा। 'कुछ दिन और' जब एक साल में बदल गया, तब मैंने सितंबर, 1976 में केवल सिंह को कार्यभार सौंपा, जिन्हें इससे पहले मैंने लंदन और मास्को में तथा विदेश सचिव के पद का कार्यभार सौंपा था।

19
अमेरिकी नेता और जनता

प्रशासन और प्रशासक आते-जाते रहते हैं, लेकिन जनता बनी रहती है। देश अपने लो दमखम और व्यक्तित्व से ही बना रहता है। मैंने अमेरिका में अपने प्रवास के द अमेरिकी लोगों को पहचानने में समय का सदुपयोग किया। गलत समझे जाने की अ के बिना उनसे खुलकर और खुले दिल से बातचीत की जा सकती थी, चाहे वे हम से स न भी हों। भारतवासियों की तरह अमेरिकी भी खुले दिल के और स्पष्टवादी होते जी में आता है कह डालते हैं और अन्य लोगों में भी यही गुण चाहते हैं। यदि कोई दिल या नई बात कहने को हो तो वे उसे ध्यान से सुनते हैं, अन्यथा वे धैर्य खो बैठते हैं औ जाते हैं। सवाल-जवाब का समय सबसे दिलचस्प और प्रेरणादायक था। युवाअ छात्रों ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया, जिनमें अपनी पिछली पीढ़ी के मु अंतर्राष्ट्रीय भावना अधिक थी। वे वीएतनाम के दौर से गुजरे थे और देख चुके युद्ध कितना घिनौना हो सकता है।

मैं सिनेट और कांग्रेस के अधिकांश प्रमुख सदस्यों से मिला था और मैंने कु छोड़कर, अन्य सभी को, अमेरिकी प्रशासन की तुलना में, अधिक मैत्रीपूर्ण और नि पाया था।

राष्ट्रपति फोर्ड निक्सन से बहुत भिन्न थे। वह प्रीतिकर थे और हमेशा दूसरे क को सुनने के लिए तैयार रहते थे, दूसरे व्यक्तियों की धारणा को मान देते थे और म या झगड़ालू नहीं थे। वह ईमानदारी के साथ और दिल खोलकर बातचीत क तथा मिलनसार और भद्र थे। शायद राष्ट्रपति की हैसियत से अपने कार्यक्षेत्र में शक्ति का अभाव था, क्योंकि निक्सन के त्यागपत्र देने पर उन्होंने इस क्षेत्र में अप्रत्य रूप से और पिछले द्वार से प्रवेश किया था। निक्सन को क्षमादान के बावजूद वह न 1976 में कार्टर से बहुत ही कम मतों से पराजित हुए थे। इस बात में कोई संदे कि राजनैतिक दृष्टि से निक्सन खत्म हो चुके हैं और वह दोबारा कभी उभर नहीं स किसिंगर फिर सत्ता में आ सकते हैं लेकिन राष्ट्रपति की हैसियत से नहीं। लोग प्रतिभा की दाद देते हैं, लेकिन उनपर विश्वास नहीं करते।

भारत की तरह यहां के राज्यपाल मनोनीत नहीं होते बल्कि चुनकर आ इसलिए अधिक शक्तिशाली और प्रभावशाली होते हैं। कभी-कभी राज्यपाल के अगला कदम राष्ट्रपति का पद माना जाता है। जार्जिया के राज्यपाल कार्टर, कैलिफ के ब्राउन दोनों 1976 में राष्ट्रपति पद के लिए डेमोक्रेटिक दल के उम्मीदवार दोनों ही भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विशिष्ट और असाधारण हैं।

नेल्सन राकफेलर न्यूयार्क के राज्यपाल थे और उसके बाद उपराष्ट्रपति व 1976 में राष्ट्रपति पद के लिए रिपब्लिकन दल के उम्मीदवार थे। दक्षिणी जार्जिया के राज्यपाल की हैसियत से कार्टर अश्वेतों में बहुत लोकप्रिय थे—जो बहुत बड़ी उपलब्धि है। जब वह राज्यपाल थे, मैं उनसे जाकर मिला था और उन्हें की चाय का एक पैकेट उपहार के तौर पर दिया था। उन्होंने मुझे मूंगफलियों क

लिया। वह व्यवहारिक और कामकाजी भी हैं तथा व्हाइट हाउस को देखने के बाद वह हार्वर्ड के प्रोफेसरों की तरह बौद्धिक डॉ० नीति में रहते। परंतु व्यवहारवाद तो अब कुछ कामचलाऊ लगता है लेकिन विदेश नीति में अभी तक कार्टर का स्पर्श महसूस नहीं हो रहा है। वे दो व्यक्ति कार्टर को विदेश नीति पर राय बताकर उसे आकार देते हुए जान पड़ रहे थे वे थे कार्टर के विदेश मंत्री साइरस वांस और ज़्बिग्न्यू ब्रेज़ेज़िन्स्की, जिनमें वांस की तुलना में ब्रेज़ेज़िन्स्की ज़्यादा अधिक दूरदर्शी थे। कार्टर ने मानवाधिकार और स्वाधीनता को अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक विस्तृत तो किया लेकिन उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि अमेरिका और उसके मित्र देशों पर लागू होने वाले एक अंतर्राष्ट्रीय सिद्धांत के रूप में नहीं, बल्कि वह रूस को राजनैतिक शिकस्त करने का एक साधन बन पड़ना था।

बड़े शहरों के महापौर अपने-अपने इलाकों में बहुत महत्वपूर्ण होते हैं। शिकागो के महापौर डैली का एक अनोखा व्यक्तित्व था और उन्होंने इक्कीस वर्ष तक इस महत्वपूर्ण नगर का कार्यभार संभाला था। लोकतंत्रीय सम्मेलन को कार्टर के पक्ष में उनकी मुख्य भूमिका थी। न्यूयार्क शहर के महापौर भी बहुत शक्तिशाली हैं और उनका बहुत प्रभाव है। यहूदी न्यूयार्क शहर और प्रचार, व्यापार तथा वाणिज्य में प्रभावशाली हैं और 1976 में उन्होंने फोर्ड के खिलाफ कार्टर को जिताने में सहायता की। एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य अमेरिका में अश्वेतों का मत है। 23 करोड़ की आबादी में उनकी संख्या 2 करोड़ के करीब है और कार्टर के पक्ष में पलड़ा झुकाने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी।

अश्वेत महापौरों में से लॉस एंजलीज के ब्रेड्ले, अटलांटा (जार्जिया) के जैक्सन और कोलंबिया (वाशिंग्टन डी० सी०) के वाल्टर—इन तीनों ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया। हाल के वर्षों में सबसे विशिष्ट अश्वेत अमेरिकी मार्टिन लूथर किंग (कनिष्ठ) थे। उनकी स्मृति में अटलांटा, जार्जिया में स्थापित सामाजिक परिवर्तन केन्द्र के दर्शन किए और भारत पर लिखी कुछ किताबें वहां भेंट कीं। श्रीमती कोरेटा किंग, उनके माता-पिता और श्रीमती लिलियन कार्टर इस अवसर पर उपस्थित थे।

दूरदर्शन के क्षेत्र में मुझे ए० बी० सी० अक्सर और सी० बी० एस० और एन० बी० सी० कभी-कभी आमंत्रित करते थे। मैंने 'राष्ट्र का चेहरा' 'आज' जैसे एक छोर से दूसरे छोर तक सीधे प्रसारित किए जाने वाले कार्यक्रमों में भाग लिया। कई समारोहों में द प्रेस आबजर्वर्स क्लब, नेशनल प्रेस क्लब, डेमोक्रेटिक एंड रिपब्लिकन वीमेन्स क्लब, चर्च ग्रुप्स, लॉ सोसायटीज, चैम्बर्स आफ कामर्स भी हमारे मेजबान थे। मैंने शिकागो पश्चिम और मध्य-पश्चिम के निकट सेंट लुई (मिसौरी) में प्रकाशकों और संपादकों की गोष्ठियों को भी संबोधित किया। वाशिंगटन और न्यूयार्क के एक ही जैसे उबा देने वाले नजारों के बाद ये परिवर्तन बहुत सुहावने लगे। इन अवसरों पर उस क्षेत्र के अधिकांश प्रकाशक और संपादक मौजूद थे। राजधानी के राजनैतिक पंडितों या पूर्व के बोस्टन के बाह्मणों की तुलना में उनका नजरिया भिन्न था।

1976 में अमेरिकी स्वाधीनता की 200वीं वर्षगांठ मनाई गई। भारत ने इस अवसर पर अपने यहां से लोकनर्तकों और हस्तशिल्पियों की एक टोली भेजी, जिसने अमेरिका के विभिन्न नगरों में बड़ी संख्या में भीड़ को आकर्षित किया। लेकिन सबसे अधिक प्रशंसा टाइम्स आफ इंडिया के अमेरिका के संवाददाता एम० वी० कामथ लिखित और दूतावास द्वारा प्रकाशित "अमेरिका—1776-1976" नामक पुस्तक की हुई। राष्ट्रव्यापी डब्ल्यू० टी० ओ० पी० रेडियो के एक संपादकीय प्रसारणों में उसकी प्रश

प्रशंसा की गई और अन्य सभी क्षेत्रों में उसका स्वागत हुआ।

बहुत से भारतीय योगी और स्वामी ऐसे हैं जिनके बड़ी संख्या में अमेरिकी शिष्य हैं, जिनमें से कुछ हैं शिकागो के स्वामी रामा, कनेक्टिकट में इंटिग्रल योग इंस्टीट्यूट के संस्थापक स्वामी सच्चिदानंद, शिवानंद डिवाइन आश्रम के स्वामी विष्णु, जिनका मुख्यालय वाल मोरिन (कनाडा) में है और उनकी कैलिफोर्निया, न्यूयार्क, फ्लोरिडा और पैराडाइस आइलैंड (बाहामास) में शाखाएं हैं। लम्बे कद के सिख योगी भजन ने लगभग 200,000 अमेरिकी युवकों और युवतियों का धर्म परिवर्तन करके उन्हें मादक द्रव्यों से विमुख किया है तथा उनको अलग वेशभूषा, धर्म, पहचान और आत्मसम्मान प्रदान किया है। बहुत से अलौकिक ध्यान केन्द्र हैं जिनके मुख्यालय आइओवा विश्वविद्यालय में हैं। हम 'हरे कृष्ण' मंडली से भी मिले, लेकिन बाल योगेश्वर के शिष्यों से जान-पहचान नहीं बढ़ाई, क्योंकि उनके गुरु विवादास्पद व्यक्तित्व बन चुके थे। मैं ब्रेडफोर्ड (वर्जिनिया) के प्रेम धर्मशाला और क्लीवलैंड के डिवाइन लाइट आश्रम में भी गया, जिनका संचालन अमेरिकी करते है। दोनों ही अपनी-अपनी तरह से सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

मसीही, बौद्ध, हिन्दू और इस्लामी संस्थाओं के समारोह बहुत से अमेरिकियों को आकर्षित करते थे। वाशिंगटन डी० सी० का गांधी संस्थान, जिसकी स्थापना में हमने सहयोग दिया था, बहुत अच्छा काम कर रहा है।

हमने अमेरिका की बहुत-सी भारतीय संस्थाओं और भारतीय छात्रों की संस्थाओं से अच्छे संबंध स्थापित कर लिए थे। अमेरिका के पूर्वी भाग का अधिकांश अमेरिका में रहने वाले भारतीयों के संगठन के अंतर्गत आता है, जिसका मुख्यालय न्यूयार्क में है। उत्तर और उत्तर-दक्षिण भाग इंडिया लीग आफ अमेरिका नामक संस्था के अंतर्गत आता है, जिसका मुख्यालय शिकागो में है। पश्चिमी तट के अपने संगठन हैं, जबकि डलास और हाउस्टन (टेक्सास) के अलावा दक्षिण में ज्यादा कुछ काम नहीं होता। हम बहुत से ऐसे भारतीयों से मिले जो अपने-अपने क्षेत्र में जाने माने हैं। अध्यापक जार्ज सुदर्शन, राजा-राव, हरीश चंद्र, पटेल, हरिदास मजूमदार तथा अन्य।

चिकित्सा, भौतिक विज्ञान, शिक्षा, समाज विज्ञान, इंजीनियरी के क्षेत्रों तथा टेक्नालॉजी, शोध और विकास के विभिन्न आकारों के संदर्भ में भारत की समस्याओं के अध्ययन में उन्होंने हमें सहायता और सहयोग प्रदान किया। वे हमारे दूतावास की वार्षिक बैठकों में बड़ी संख्या में शामिल होते थे और उन्होंने कुछ मूल्यवान सुझाव भी दिए, जिन्हें हमने भारत सरकार तक पहुंचा दिया। इस तरह उनके और भारत की विभिन्न संस्थाओं के बीच एक संपर्क सूत्र स्थापित हुआ। भारत में उनकी प्रतिरूपी संस्थाओं ने उनके साथ कार्यक्रमों और परामर्शदाताओं या अतिथि-अध्यापकों का आदान-प्रदान किया। भारतीय मूल के लोगों के साथ इस तरह के संपर्क को विस्तृत बनाने की बड़ी संभावनाएं न केवल अमेरिका में है, बल्कि उन सभी देशों में भी हैं जहां बड़ी संख्या में भारतीय लोग बसे हुए हैं। इनमें से कुछ ने अपने देश को, जिसमें उन्होंने जन्म लिया है, बहुत कुछ दिया है और वे अपनी जन्मभूमि के लिए भी कुछ करने को उत्सुक हैं।

अमेरिका के भारतीय कमोवेश देशभक्त और संपन्न हैं और भारत के साथ सम्पूर्ण सांस्कृतिक संबंध बनाए रखने को उत्सुक हैं। हमने यह भी पाया कि अमेरिकी, विशेषकर वहां का युवावर्ग सामान्य तौर पर भारत की संस्कृति और विशेष रूप से संगीत, नृत्य और योग के बारे में जानने को उत्सुक है। कुछ योगियों और स्वामियों ने इस दिशा में अच्छी शुरुआत की है, लेकिन रविशंकर, अली अकबर खां और अल्ला रक्खा की कोई बराबरी नहीं कर सकता, जिनके नाम आज के अमेरिका के घर-घर में सबकी

जुबान पर हैं। भारत सरकार इनको तथा भारत और अमेरिका के अन्य गैर आधिकारिक संस्थाओं को, वहां भारतीय संस्कृति की छवि उभारने के लिए प्रोत्साहन देकर अच्छा काम करेगी। लता मंगेशकर, मुकेश, आशा भोंसले, हेमा मालिनी, सुनील दत्त, आशा पारेख, राजकपूर तथा अन्य लोगों की अमेरिका यात्रा ने विशेष प्रभाव डाला है। ऐसे दौरों का आयोजन अक्सर ही किया जाना चाहिए।

विश्वविख्यात संगीत निर्देशक जुबीन मेहता अपनी सानी नहीं रखते और वह मानव के रूप में जैसे एक डायनुमा हैं। वह शायद लंदन, फिल्हारमोनिक आर्केस्ट्रा के सबसे कम उम्र के निर्देशक हैं, जोकि एक ऐसा सम्मान है, जिसकी आकांक्षा सभी निर्देशकों को होती है। उन्हें अपने भारतीय मूल पर गर्व है और अभी तक अपना भारतीय पारपत्र रखे हुए हैं। उनकी पत्नी नैंसी उनकी बहुत सहायता करती है।

अमेरिका में भारतीय छात्रों को कुछ गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है और भविष्य में शायद उन्हें और भी अधिक मुश्किलों का सामना करना पड़ेगा। इस समय उनकी संख्या 15,000 है। इनमें से अधिकांश छात्र वीसा लेकर अमेरिका आए थे, जब उन्हें केवल साल भर के लिए अपना खर्च जुटाना था, जिस दौरान वे वजीफों, छात्रवृत्तियों और शिक्षा संस्थाओं में ही अन्य छोटे-मोटे कामों के लिए स्वयं को काबिल बना सकते थे। छुट्टियों में वे शिक्षा संस्थाओं के बाहर भी काम ढूंढ सकते थे जिससे कि उनका खर्च चलता रहे। उपाधि प्राप्त करने के बाद वह एक से तीन वर्ष तक काम का प्रशिक्षण प्राप्त कर सकते थे, जिसके लिए उन्हें वेतन दिया जाता था। अमेरिका में पांच वर्ष रहने के बाद वे स्थायी आप्रवासियों का दर्जा, या जैसा कि आमतौर पर कहा जाता है 'हरा कार्ड', यद्यपि उसका रंग नीला होता है, प्राप्त करने के हकदार बन सकते थे। बहरहाल 1974 से अमेरिका आप्रवासी कानून में सख्ती बरती जा रही है और उनका पालन शायद जरूरत से ज्यादा कड़े तौर पर किया जा रहा है। शिक्षा संस्थाओं के बाहर काम करने की छूट अब नहीं दी जाती। तीन वर्ष की आर्थिक गारंटी मांगी जाती है। 1974 से पहले आने वाले बहुत से छात्रों को अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़ देनी पड़ी और स्वाभाविक ही है कि उनमें कटुता आ गई है। उन्हें न तो अमेरिका में ही और न ही अपने देश लौटकर नौकरी मिल सकी है, जहां पढ़े-लिखे बेरोजगारों की समस्या विकट से विकटतर होती जा रही है।

भारत सरकार को इस समस्या पर तुरंत गंभीरता से सोच-विचार करना चाहिए। उन्हें अमेरिका के साथ यह मुद्दा उठाना चाहिए और उन भारतीयों को अमेरिका जाने से रोकना चाहिए जो बड़ी संख्या में पैसे की तलाश में वहां जाना चाहते हैं। हमने होनहार और नाराज भारतीय छात्रों की इतने बड़े शहरों में रहने वाले संपन्न भारतीयों से चंदा इकट्ठा करके स्थानीय समितियां स्थापित कीं। यह एक अस्थायी समाधान हो सकता है और अधिक स्थायी समाधान की खोज करनी है। नवंबर, 1977 में दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में 'विदेशों में भारतीय' विषय पर जो परिसंवाद हुआ था और जिसका उद्‌घाटन विदेशमंत्री वाजपेयी ने किया था, वहां कुछ सुझाव रखे गए थे, जिनपर भारत सरकार द्वारा तुरंत ध्यान दिया जाना चाहिए।

जो भारतीय 1970 से पहले आये थे, उनकी स्थिति अच्छी है। इनमें से अधिकांश अध्यापन, इंजीनियरी, चिकित्सा आदि पेशों तथा आयात-निर्यात के व्यापार में हैं। इनमें से ज्यादातर अमेरिकी नागरिक हैं। पुराने भारतीय आप्रवासी जैसे कैलिफोर्निया के सिख और पंजाबी किसान, अमेरिकी नागरिक हैं और खासे संपन्न हैं। ये उस गदर पार्टी के संगठकों की संतान हैं जिसने जबर्दस्त मुसीबतों का सामना करके अमेरिका में भारत के

की गई और अन्य सभी क्षेत्रों में उसका स्वागत हुआ।

वहुत से भारतीय योगी और स्वामी ऐसे हैं जिनके वड़ी संख्या में अमेरिकी शिष्य नमें से कुछ हैं शिकागो के स्वामी रामा, कन्नेक्टिकट में इंटिग्रल योग इंस्टीट्यूट के ापक स्वामी सच्चिदानंद, शिवानंद डिवाइन आश्रम के स्वामी विष्णु, जिनका ालय वाल मोरिन (कनाडा) में है और उनकी कैलिफोर्निया, न्यूयार्क, फ्लोरिडा और डाइस आइलैंड (वाहामास) में शाखाएं हैं। लम्वे कद के सिख योगी भजन ने लगभग 0,000 अमेरिकी युवकों और युवतियों का धर्म परिवर्तन करके उन्हें मादक द्रव्यों से मुक्त किया है तथा उनको अलग वेशभूषा, धर्म, पहचान और आत्मसम्मान प्रदान किया । वहुत से अलौकिक ध्यान केन्द्र हैं जिनके मुख्यालय आइओवा विश्वविद्यालय में हैं। म 'हरे कृष्ण' मंडलो से भी मिले, लेकिन वाल योगेश्वर के शिष्यों से जान-पहचान नहीं ढ़ाई, क्योंकि उनके गुरु विवादास्पद व्यक्तित्व वन चुके थे। मैं वेडफोर्ड (वर्जिनिया) के प्रेम धर्मशाला और क्लीवलैंड के डिवाइन लाइट आश्रम में भी गया, जिनका संचालन अमेरिकी करते हैं। दोनों ही अपनी-अपनी तरह से सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

मसीही, वौद्ध, हिन्दू और इस्लामी संस्थाओं के समारोह वहुत से अमेरिकियों को आकर्षित करते थे। वाशिंगटन डी० सी० का गांधी संस्थान, जिसकी स्थापना में हमने सहयोग दिया था, वहुत अच्छा काम कर रहा है।

हमने अमेरिका की वहुत-सी भारतीय संस्थाओं और भारतीय छात्रों की संस्थाओं से अच्छे संवंध स्थापित कर लिए थे। अमेरिका के पूर्वी भाग का अधिकांश अमेरिका में रहने वाले भारतीयों के संगठन के अंतर्गत आता है, जिसका मुख्यालय न्यूयार्क में है। उत्तर और उत्तर-दक्षिण भाग इंडिया लीग आफ अमेरिका नामक संस्था के अंतर्गत आता है, जिसका मुख्यालय शिकागो में है। पश्चिमी तट के अपने संगठन हैं, जवकि डलास और हाउस्टन (टेक्सास) के अलावा दक्षिण में ज्यादा कुछ काम नहीं होता। हम वहुत से ऐसे भारतीयों से मिले जो अपने-अपने क्षेत्र में जाने माने हैं। अध्यापक जार्ज सुदर्शन, राजा-राव, हरीश चंद्र, पटेल, हरिदास मजूमदार तथा अन्य।

चिकित्सा, भौतिक विज्ञान, शिक्षा, समाज विज्ञान, इंजीनियरी के क्षेत्रों तथा टेक्नालॉजी, शोध और विकास के विभिन्न आकारों के संदर्भ में भारत की समस्याओं के अध्ययन में उन्होंने हमे सहायता और सहयोग प्रदान किया। वे हमारे दूतावास की वार्षि वैठकों में वड़ी संख्या में शामिल होते थे और उन्होंने कुछ मूल्यवान सुझाव भी दिए, जि हमने भारत सरकार तक पहुंचा दिया। इस तरह उनके और भारत की विभिन्न संस्था के वीच एक संपर्क सूत्र स्थापित हुआ। भारत में उनकी प्रतिरूपी संस्थाओं ने उनके स कार्यक्रमों और परामर्शदाताओं या अतिथि-अध्यापकों का आदान-प्रदान किया। भारत मूल के लोगों के साथ इस तरह के संपर्क को विस्तृत वनाने की वड़ी संभावनाएं न के अमेरिका मे हैं, वल्कि उन सभी देशों में भी हैं जहां वड़ी संख्या में भारतीय लोग वसे हैं। इनमें से कुछ ने अपने देश को, जिसमें उन्होंने जन्म लिया है, वहुत कुछ दिया है वे अपनी जन्मभूमि के लिए भी कुछ करने को उत्सुक हैं।

अमेरिका के भारतीय कमोवेश देशभक्त और संपन्न हैं और भारत के अमूमन सांस्कृतिक संवंध वनाए रखने को उत्सुक हैं। हमने यह भी पाया कि अमे विशेपकर वहां का युवावर्ग सामान्य तौर पर भारत की संस्कृति और विशेष संगीत, नृत्य और योग के वारे में जानने को उत्सुक है। कुछ योगियों और स्वा इस दिशा में अच्छी शुरुआत की है, लेकिन रविशंकर, अली अकवर खां और अल्ल की कोई वरावरी नहीं कर सकता, जिनके नाम आज के अमेरिका के घर-घर में

जुबान पर हैं। भारत सरकार इनको तथा भारत और अमेरिका के अन्य गैर आधिकारिक संस्थाओं को, वहां भारतीय संस्कृति की छवि उभारने के लिए प्रोत्साहन देकर अच्छा काम करेगी। लता मंगेशकर, मुकेश, आशा भोंसले, हेमा मालिनी, सुनील दत्त, आशा पारेख, राजकपूर तथा अन्य लोगों की अमेरिका यात्रा ने विशेष प्रभाव डाला है। ऐसे दौरों का आयोजन अक्सर ही किया जाना चाहिए।

विश्वविख्यात संगीत निर्देशक जुबीन मेहता अपनी सानी नहीं रखते और वह मानव के रूप में जैसे एक डायनुमा हैं। वह शायद लंदन, फिल्हारमोनिक आर्केस्ट्रा में सबसे कम उम्र के निर्देशक हैं, जोकि एक ऐसा सम्मान है, जिसकी आकांक्षा सभी निर्देशकों को होती है। उन्हें अपने भारतीय मूल पर गर्व है और अभी तक अपना भारतीय पारपत्र रखे हुए हैं। उनकी पत्नी नैंसी उनकी बहुत सहायता करती है।

अमेरिका में भारतीय छात्रों को कुछ गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है और भविष्य में शायद उन्हें और भी अधिक मुश्किलों का सामना करना पड़ेगा। इस समय उनकी संख्या 15,000 है। इनमें से अधिकांश छात्र वीसा लेकर अमेरिका आए थे, जब उन्हें केवल साल भर के लिए अपना खर्च जुटाना था, जिस दौरान वे वजीफों, छात्रवृत्तियों और शिक्षा संस्थाओं में ही अन्य छोटे-मोटे कामों के लिए स्वयं को काबिल बना सकते थे। छुट्टियों में वे शिक्षा संस्थाओं के बाहर भी काम ढूंढ सकते थे जिससे कि उनका खर्च चलता रहे। उपाधि प्राप्त करने के बाद वह एक से तीन वर्ष तक काम का प्रशिक्षण प्राप्त कर सकते थे, जिसके लिए उन्हें वेतन दिया जाता था। अमेरिका में पांच वर्ष रहने के बाद वे स्थायी आप्रवासियों का दर्जा, या जैसा कि आमतौर पर कहा जाता है 'हरा कार्ड', यद्यपि उसका रंग नीला होता है, प्राप्त करने के हकदार बन सकते थे। बहरहाल 1974 से अमेरिका आप्रवासी कानून में सख्ती बरती जा रही है और उनका पालन शायद जरूरत से ज्यादा कड़े तौर पर किया जा रहा है। शिक्षा संस्थाओं के बाहर काम करने की छूट अब नहीं दी जाती। तीन वर्ष की आर्थिक गारंटी मांगी जाती है। 1974 से पहले आने वाले बहुत से छात्रों को अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़ देनी पड़ी और स्वाभाविक ही है कि उनमें कटुता आ गई है। उन्हें न तो अमेरिका में ही और न ही अपने देश लौटकर नौकरी मिल सकी है, जहां पढ़े-लिखे बेरोजगारों की समस्या विकट से विकटतर होती जा रही है।

भारत सरकार को इस समस्या पर तुरंत गंभीरता से सोच-विचार करना चाहिए। उन्हें अमेरिका के साथ यह मुद्दा उठाना चाहिए और उन भारतीयों को अमेरिका जाने से रोकना चाहिए जो बड़ी संख्या में पेशे की तलाश में वहां जाना चाहते हैं। हमने होनहार और नाराज भारतीय छात्रों की इतने बड़े शहरों में रहने वाले संपन्न भारतीयों से चंदा इकट्ठा करके स्थानीय समितियां स्थापित कीं। यह एक अस्थायी समाधान हो सकता है और अधिक स्थायी समाधान की खोज करनी है। नवंबर, 1977 में दिल्ली के इंडिया इंटरनेशनल सेंटर में 'विदेशों में भारतीय' विषय पर जो परिसंवाद हुआ था और जिसका उद्घाटन विदेशमंत्री वाजपेयी ने किया था, वहां कुछ सुझाव रखे गए थे, जिनपर भारत सरकार द्वारा तुरत ध्यान दिया जाना चाहिए।

जो भारतीय 1970 से पहले आये थे, उनकी स्थिति अच्छी है। उनमें से अधिकांश अध्यापन, इंजीनियरी, चिकित्सा आदि पेशों तथा आयात-निर्यात के व्यापार में हैं। इनमें से ज्यादातर अमेरिकी नागरिक हैं। पुराने भारतीय आप्रवासी जैसे कैलिफोर्निया के सिख और पंजाबी किसान, अमेरिकी नागरिक हैं और खासे संपन्न हैं। ये उस गदर पार्टी के संगठकों की संतान हैं जिसने जबर्दस्त मुसीबतों का सामना करके अमेरिका में भारत के

स्वाधीनता संग्राम की शुरुआत की थी। हमने सानफ्रांसिस्को में 5 वुड स्ट्रीट पर गदर पार्टी के शहीदों की याद में एक हॉल और एक छोटा सा भवन बनवाया। भारतीय लोगों ने इस काम के लिए दिल खोलकर दान दिया और भारत सरकार ने भी सहायता की। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए तमाम भारतीयों को एकत्रित करने का श्रेय गदर पार्टी के सबसे वरिष्ठ जीवित नेता डा० जी० बी० लाल और सानफ्रांसिस्को में तात्कालिक भारतीय महावाणिज्य दूत रमेश अरोड़ा को है। इस इलाके के युवा भारतीयों के लाभ को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार को गदर स्मारक न्यास या निधि स्थापित करने के बारे में गंभीरता से सोच विचार करना चाहिए।

इस समय अमेरिका में भारतीय मूल के निवासियों की संख्या 200,000 और 300,000 के बीच है। उनकी अपेक्षाकृत कम संख्या को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि चिकित्सा, गणित, भौतिक विज्ञान, कृषि और व्यापार के क्षेत्रों में अमेरिका को उनकी देन अन्य अल्पमतों की तुलना में खासी महत्वपूर्ण है। उन्होंने, निश्चित है, अमेरिका को जितना दिया है, उतना उससे पाया नहीं है। भविष्य में उनकी संख्या बढ़ने की संभावना है और यदि उनमें एका हो और वे अपने को अच्छी तरह संगठित कर लें तो अल्पमत के रूप में वहां उनका महत्व और भी अधिक हो सकता है। वर्तमान में उनकी असंख्य क्षेत्रीय, धार्मिक और भाषायी समितियां हैं। लेकिन अमेरिका के सभी भारतीयों को एक संगठन की जरूरत है, जिसकी शाखाएं सब जगह हों और जो छोटी समितियों के काम में बाधा न डालें। ए० आई० ए० और आई० एल० ए० एकजुट होकर प्रेरणादायक भूमिका एक ही संस्था के रूप में और एक दूसरे में विलीन होकर अमेरिका के सभी भारतीयों को उस में शामिल कर के औरों के लिए एक मिसाल कायम कर सकती हैं। यह काम उन्हीं पर छोड़ देना चाहिए और इस तरह का कोई कदम उठाये जाने की प्रेरणा बाहर से थोपे जाने की बजाय भीतर से आनी चाहिए। बहरहाल, भारत के साथ उनके सांस्कृतिक संपर्क सूत्रों को और दृढ़ बनाने के लिए भारत आधिकारिक और गैर आधिकारिक तौर पर उनकी सहायता कर सकता है, जैसा कि अमेरिका के अन्य अल्पमत निवासियों को उनके मूल देशों से सहायता मिलती है।

प्यूर्टोरिकन, चीनी, जापानी, यहूदी तथा अन्य जातीय दलों के अलावा अमेरिका में तीन महत्वपूर्ण अल्पमत हैं। सबसे पहले अश्वेत जाति है। वह अन्य अश्वेत वर्णों के बारे में सचेत होती जा रही है, जिस पर उसे गर्व है। अब वे 'हब्शी' कहलाना पसंद नहीं करते और अपने मूल को अश्वेत अफ्रीका में खोज निकाल रहे हैं। 'काला सुंदर है' यही नया नारा है। अफ्रीकी केश विन्यास उनमें लोकप्रिय होता जा रहा है। ये हवा में तिनकों के समान भले ही हों लेकिन वे विद्रोही भावना की ओर संकेत करते हैं, जिसको महज उपशामकों से या संपन्न अमेरिकी मेज पर से रोटी के टुकड़े फेंक कर कुचला नही जा सकता, अलगाव की भावना के विरुद्ध, स्कूलों और स्कूलों की बसों में भेदभाव और होटलों, क्लबों तथा रोजगार से संबद्ध भेदभाव का विरोध दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है। अमेरिका के अश्वेतों में बेरोजगारी 20 प्रतिशत से अधिक है जबकि राष्ट्रीय औसत लगभग 2 प्रतिशत ही है। खेल, संगीत, रंगमंच और साहित्य के क्षेत्रों में अश्वेतों ने नाम कमाया है। कोई कारण नहीं कि अवसर मिलने पर वे अन्य क्षेत्रों में भी अपनी काबलियत साबित न कर सकें। यदि उन्हें शांतिपूर्ण तरीके से अवसर नहीं मिलता तो वे जबर्दस्ती हिंसक तरीके से उसे प्राप्त करेंगे। अमेरिका के अश्वेत युवाओं में अपराधों की बड़ी संख्या एक आसार और चेतावनी है जिसकी ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। यदि हम अपने यहां हरिजनों और भूमिहीनों की समस्या जल्द से जल्द नहीं सुलझाते हैं तो भारत में भी हमें ऐसी ही

स्थिति का सामना करना पड़ सकता है।

एक अन्य महत्वपूर्ण लेकिन उपेक्षित जाति अमेरिकी इंडियन या रेड इंडियनों की है। वे दक्षिण, दक्षिण पूर्व और उत्तर के विभिन्न राज्यों में बिखरे पड़े हैं। उन्हें संग्रहालय में प्रदर्शित वस्तुओं की तरह एक ही हाल में संरक्षित रखा गया है लेकिन अब वे बाहर आकर मर्लोन ब्रैंडो जैसे अभिनेता और अन्य लोगों से समर्थन पाकर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। उनकी संख्या दस लाख के आसपास है और उनमें 20 प्रमुख कबीले हैं। उनमे अब यह सामान्य चेतना जागृत हो रही है कि वे अमेरिका के मूल निवासी है, लेकिन वे कई स्थानो में छोटी-छोटी संख्या मे इतने दूर दूर तक फैले हुए हैं कि उनका एकत्रित होकर कुछ करना सहज नही है।

हम न्यू मैक्सिको गये, जहा वे खासे संगठित थे और विभिन्न स्थानों पर उनके कुछ नेताओ से मिले, जिनमे से अधिकाश अमेरिकी सरकार द्वारा नियुक्त किये गये थे। उन्हें भारी भरकम सुनाई पड़ने वाला 'उपराज्यपाल' का खिताब दिया जाता है, लेकिन उनकी कोई ताकत नही होती और उन्हें धन का भी अभाव रहता है। रेड इंडियन लोगों को अपने मोहल्लों मे श्वेतों द्वारा चलाये जाने वाली मोटर, टैलीविजन और शराब की दुकानों के प्रति विशेष आकर्षण है। इनमे से कुछ के साथ बातचीत करके हमे पता चला कि वे अपनी समस्याओं के बारे मे सचेत हैं। जब उनसे पूछा गया कि "क्या आप अमेरिका में ही एक संगठित राज्य के रूप में बने रहना चाहते हैं या अपनी विभिन्न बस्तियों में इसी तरह बिखरे रहना चाहते हैं", तो लगभग सभी ने एक स्वर से, पहली व्यवस्था को पसंद किया। कुछ ने कहा कि वे अपना स्वतंत्र राज्य चाहते हैं जबकि कुछ ने कहा कि वे इतने बिखरे हुए हैं कि एक राज्य बनाना संभव नही हो सकता। उनके भविष्य के बारे मे कुछ कहना संभव नही है। वे श्वेतों के साथ घुल-मिल जायेंगे और इस तरह अपनी पहचान खो बैठेंगे, अलग अलग दलो मे बिखरे रहेंगे, या एक हो जायेंगे। इस समय वे अमेरिकी राजनीति या अर्थव्यवस्था पर कोई विशेष प्रभाव नहीं डालते, लेकिन इन दोनों को हथियाने की संभावना उनमे है। हमारे पहाड़ी और अनुसूचित जातियों की समस्या भी इससे मिलती जुलती है। जिसको जल्दी सुलझाने के लिए सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाना चाहिए।

तीसरी बड़ी अल्पमत जाति मैक्सिको के रहने वालो की है। उनकी संख्या लगभग एक करोड़ है और उनमें से अधिकाश खेतों पर काम करने वाले और अप्रशिक्षित कामगार हैं। इनमे से बहुत से नौकरी की तलाश मे रात को सीमा पर बहने वाली नदियो को पार कर अमेरिका आ जाते हैं। इसलिए इनका नाम 'भीगी हुई पीठ' रखा गया है। उन्हें अमेरिकी आप्रवास अधिकारियों के साथ काफी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। कुछ स्थानीय संस्थाएं भी इनके आने का विरोध करती हैं। लेकिन, जैसा कि अमेरिका मे एक मैक्सिको के राजदूत ने मुझे बताया, उनकी संख्या बढ़ने की संभावना है। क्योंकि अमेरिका मे खेतिहर और अप्रशिक्षित मजदूरो की कमी है। आने वाले वर्षों मे वे अमेरिका में एक महत्वपूर्ण अल्पमत बन जायेंगे और राजनीति तथा अर्थव्यवस्था दोनों पर अपना प्रभाव डालेंगे। सौभाग्य से भारत में हमें ऐसी समस्या का सामना नहीं करना पड़ता। यद्यपि कुछ पडोसी देशों से कभी-कभी विस्थापित यहा आते रहे हैं।

कैथोलिक, मोर्मोन, सेवेंथ डे एडवेंटिस्ट आदि जैसे अन्य या जातीय अल्पमत या धार्मिक संप्रदाय भी हैं : मिनेसोटा और विस्कोंसिन मे स्कैंडिनेवियावासी, मिल्वाकी में युगोस्लाविया और पोलैंडवासी, बड़े शहरों मे अरब (अधिकांश लेबनान के) तथा यहूदी, पूर्व और उत्तर पूर्व मे न्यू इंगलैंडर तथा पूर्व और उत्तर पूर्व में वॉस्प, पुल काश्तकारों के

वंशधर, दक्षिण में सर्वप्रथम निवासियों के वंशज मध्य पश्चिम और पश्चिम में पाये जाते हैं। न्यूयॉर्क में प्यूर्टिरिको के रहने वालों की संख्या बढ़ रही है और वे महत्वपूर्ण अल्पमत हैं। हवाई में जापानियों की भी यही स्थिति है।

संक्षेप में, यह अमेरिका के बहुजातीय समाज की एक झलक है। यह एक दिलचस्प नजारा है, जो कि भारत से मिलता-जुलता है जहां प्रचुर विविधता पायी जाती है। अमेरिका एक युवा देश है इसलिए भारत जैसे प्राचीन देश के विपरीत वह अधिक सचल और परंपराओं से कम जुड़ा हुआ है, चाहे वे अच्छी हों या बुरी।

अमेरिका तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की सहायता करने और उनके साथ सहयोग करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। अमेरिका की प्राथमिकताएं अभी तक ऐसी नहीं हैं कि उनसे आशा बंधे। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका ने विश्व का नेतृत्व संभाला था, जब दुनिया दो वैरी सैनिक गुटों में बंट गयी थी और शीत युद्ध अपने चरम पर था। भारत जैसे गुटनिरपेक्ष देश इन गुटों से अलग रहे, लेकिन कुछ विकासशील देशों को जबरन इनमें खींच लिया गया। विकासशील देशों में सैनिक गठबंधनों से दूर रहने और गुटनिरपेक्ष बने रहने की इच्छा बलवती होती जा रही है। इनमें से अधिकांश को आर्थिक सहायता और सैनिक-साज समान के लिए विकसित देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। एक नये प्रकार के आर्थिक प्रभाव और सैनिक प्रभुत्व का खतरा बढ़ता जा रहा है—'नव उपनिवेशवाद'—शक्तिशाली होता जा रहा है। तीसरी दुनिया के विकासशील देशों को हाल मे प्राप्त अपनी स्वाधीनता को सच्चा और सार्थक बनाने के लिए, आपस में सहयोग बढ़ाकर इस खतरे का मुकाबला करना होगा।

विकसित दुनिया अपनी भूमिका नहीं निभा रही है। व्यापार की शर्तें, टेक्नालॉजी का आदान-प्रदान और आर्थिक सहयोग इस प्रकार के हैं कि संपन्न देश और अधिक संपन्न तथा गरीब देश और गरीब होते जा रहे हैं। उनके बीच खाई बढ़ती जा रही है। इससे गंभीर स्थिति उत्पन्न हो सकती है और विश्व शांति को खतरा पैदा हो सकता है।

अब समय आ गया है जब अमेरिका जैसे देश विकासशील देशों के साथ व्यापार करने में अपनी आम पसंद की योजना के अंतर्गत अनुचित और असमान प्रतिबंधों, चुंगी, मात्रा से संबद्ध तथा अन्य बाधाओं को हटाकर इस दिशा में पहल करें। लेकिन अमेरिका इस काम में पिछड़ रहा है और इसका विरोध करने में अन्य विकसित देशों का साथ दे रहा है। यह एक अदूरदर्शी नीति है जो समय के साथ टिक नहीं सकेगी।

क्या कुछ हो सकता है, ऊर्जा संकट उसका एक उदाहरण है। अमेरिका की जनसंख्या विश्व भर की जनसंख्या का छह प्रतिशत से भी कम है और विश्व की कुल ऊर्जा का 35 प्रतिशत से भी अधिक की खपत वहां हो जाती है। शायद कुछ समय तक वह यह ऐशोआराम कर सके। लेकिन संपन्न अमेरिका के आम आदमी को तेल की कीमत का बढ़ाया जाना खलने लगेगा। सबसे अधिक मुसीबत का सामना भारत जैसे तेल आयात करने वाले विकासशील देशों को करना पड़ा।

समय आ गया है जबकि सख्त जरूरत के सारी दुनिया के साधनों को एकत्रित करके, उन्हें इस तरह से काम मे लाये जाने के उपाय सोचे जायें कि उसमें सभी देशों की और विशेष कर मानवता के उन दो तिहाई गरीबों की बराबर साझेदारी रहे जो कि तीसरी दुनिया के निवासी हैं। हमें विश्व की समस्याओं को विश्व के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए, ताकि जरूरतमंद देशों की बड़ी जनसंख्या को अब गरीबी की रेखा से नीचे न रहना पड़े। इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए विकासशील देशों को बहुत परिश्रम करना पड़ेगा। आपस में सहयोगिता करनी होगी। समाज के गरीबों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा

उठाना होगा, अधिक से अधिक आत्मनिर्भर बनना होगा और इस तरह विकसित देशों की दया पर नहीं बल्कि उनके बराबर खड़ा होना होगा।

वेंडेल विल्की ने 'एक विश्व' की आवाज उठायी थी। वाशिंगटन, लिंकन और जेफ़र्सन पारदर्शी व्यक्ति थे। रूज़वेल्ट ने एटलांटिक चार्टर में विश्व को अभाव और भय से मुक्त करने की कोशिश की लेकिन हम अब भी 'एक विश्व' के सदय या चार स्वतंत्रताओं से बहुत दूर हैं। अमेरिका जैसे विकसित देश और भारत जैसे विकासशील देश इस मामले में पहल कर सकते हैं। लेकिन क्या वे ऐसा करेंगे? भारत में महात्मा गांधी या जवाहरलाल नेहरू, अमेरिका के रूज़वेल्ट ऐसा कर सकते हैं, लेकिन खेद है कि हाल के वर्षों में विश्व ने जीवन और नेतृत्व के मूल्यों में लगातार गिरावट आते देखा है।

1979 का अमेरिका 1947 के अमेरिका से भिन्न है। यही बात भारत और सारे विश्व पर लागू होती है। बदलाव आया है, लेकिन क्या तीन दशक पहले की उनकी हालत से अब के हालत में कोई सुधार आया है? कुछ मामलों में सुधार है और कुछ में नहीं। शीत युद्ध का जोर इस समय अधिक नहीं है, अमेरिका की दृष्टि में गुटनिरपेक्षता 'अनैतिक' नहीं है, जबकि नवस्वाधीन और विकासशील देशों के लिए एक ठोस और व्यवहार्य नीति है। अब ताप नाभिकीय क्षेत्र में भी 'भय का संतुलन' है, जिससे महाशक्तियों के बीच सीधे संघर्ष पर रोक लगी हुई है, लेकिन आणविक शस्त्र की शक्ति रखने वाले और उनके मित्र आणविक टेक्नालॉजी पर एकाधिकार करके अपने कब्जे में रखना चाहते हैं। विकासशील देशों में अब भी अनुपस्थित शक्तियों की लड़ाई जारी है। सामरिक और सैद्धांतिक क्षेत्रों की स्थापना करने के लिए सिद्धांतों की लड़ाई और आपस का वैर अपने पूरे जोर पर है। आम निशस्त्रीकरण और आणविक निशस्त्रीकरण की संभावना दूर-दूर तक नजर नहीं आती है। विकासशील और विकसित देशों के बीच आर्थिक खाई बढ़ती ही जा रही है।

मध्य पूर्व आपसी संघर्ष और हिंसा का सामना कर रहा है। इजराइल और मिस्र की संधि के बावजूद शांति कहीं भी नजर नहीं आ रही है। पुराने और कुछ कम पुराने अमेरिकी हथियारों को खाड़ी के देशों में लाकर जमा किया जा रहा है और इससे आपसी संघर्ष की संभावनाएं दिखाई पड़ रही हैं। ईरान अशांति की स्थिति में है तथा यही दशा पाकिस्तान और अफगानिस्तान की भी है, लेकिन चीन के वीएतनाम पर आक्रमण से जो नयी स्थिति पैदा हुई है, उसके भयावह नतीजे हो सकते हैं। अफ्रीका में बहुत से देश बड़ी और महाशक्तियों के सैद्धांतिक मतभेदों और हितों की टकराहट के अखाड़े बनते जा रहे हैं। कैरीबियाई और लातीनी अमेरिकी देश बड़ी राजनैतिक शक्ति के खेल के मोहरे बनते जा रहे हैं और अंदरूनी उथल-पुथल का सामना कर रहे हैं। दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया अभी तक इस विपत्ति से मुक्त नहीं हो पाये हैं और किसी प्रकार की क्षेत्रीय और उपक्षेत्रीय सहयोगिता की तलाश कर रहे हैं। सुदूर पूर्व और प्रशांत क्षेत्र चीनी-रूसी और रूसी-अमेरिकी वैर और उनके त्रिकोणीय राजनय के शिकार के रूप में एक दुखदायी नज़ारा पेश करते हैं। केवल पूर्वी और पश्चिमी यूरोप ने तनाव को कम करने की ओर ठोस कदम उठाये हैं, लेकिन वहां भी युद्ध की तलवार घने बादलों की तरह मंडरा रही है।

विश्व की स्थिति से आज न तो शांति और न ही युद्ध का चित्र उभरता है, लेकिन घोर तनाव नजर आता है, जिसमें राजनय और भी कठिन और अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है।